* श्रीहरिः *

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(प्रथम खण्ड)

प्रसारितमहाप्रेमपीयूषरससागरे ।
चैतन्यचन्द्रे प्रकटे यो दीनो दीन एव सः ॥
अवतीर्णे गौरचन्द्रे विस्तीर्णे प्रेमसागरे ।
सुप्रकाशितरत्नौघे यो दीनो दीन एव सः ॥

लेखक—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८९	पहला संस्करण	५,२५०
सं० १९९४	दूसरा संस्करण	३,०००
सं० २००९	तीसरा संस्करण	१०,०००
	कुल	१८,२५०

मूल्य ।।।=) चौदह आना
सजिल्द १।) एक रुपया चार आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड १

की

विषय-सूची

श्री छबिलो नागरी भंडार पुस्तकालय

चित्र-सूची

श्री सुविज्ञी नागरी भंडार पुस्तकालय
बीकानेर

समर्पण

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोमि यत्तत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥*

प्यारे ! शैलशिखरकी सुहावनी चोटीसे उतारकर जिस कार्यके निमित्त नीचे लाये थे, उस कार्यका कुछ अंश यह तुम्हारे सम्मुख है । इसकी असली नकदी रोकड़ तो तुम्हारे ही पास है, मैं तो तुम्हारे हिसाब-किताबको लिखनेवाला, बहीखातेके भारको ढोनेवाला वेतनभोगी मुनीम हूँ, जैसा तुमने लिखवाया लिख दिया । मेरी मजूरी तुम दे ही देते हो । मजूरी क्या, मैं तो तुम्हारा क्रीतदास हूँ । क्रीतदासका तो सम्पूर्ण भार स्वामीपर ही रहता है । किन्तु मेरे भोलेभाले मालिक ! तुम निष्ठुर नहीं हो । बड़े दयालु हो, तुम्हारा हृदय बड़ा कोमल है । इस कोमलताके

---

* शरीरके द्वारा, वाणीके द्वारा, मन तथा इन्द्रियोंके द्वारा, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा स्वाभाविक प्रकृतिके वशीभूत होकर जिन-जिन भी क्रियाओंको करता हूँ, उन सबको नारायणके ही प्रति समर्पण किये देता हूँ ।

कारण मैं कुपथगामी न बन जाऊँ, प्रभो! जरा इस गुलामपर थोड़ी कड़ी निगाह भी रहे, जिससे यह तुम्हारी चीज़को अपनी न समझ बैठे, यही इस दीन-हीन कंगालकी प्रार्थना है। दयालो! क्या मेरी इस अर्जीकी तुम्हारे दरबारमें सुनायी होगी? क्या मैं तुम्हारा विशेष कृपापात्र चाकर बन सकूँगा? अच्छा, जैसी इच्छा। 'अर्जी हमारी आगे मर्जी तुम्हारी है।'

श्रीहरियाबाबा बाँध
गँवा (बदायूँ)
बसन्तपञ्चमी, गुरुवार
१९८८ विक्रमीय

तुम्हारा पुराना निठिया—

प्रभु

प्रस्तावना

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥*

श्रीकृष्णचरणोंसे पृथक् होनेपर प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकारकी योनियोंमें भटकता फिरता है। परम शान्ति ही जिसका चरम लक्ष्य है ऐसा जीव श्रीकृष्णचरणोंसे भिन्न अन्य स्थानोंमें शान्तिका अन्वेषण करता है, किन्तु सांसारिक पदार्थोंमें शाश्वत शान्ति कहाँ? वहाँ तो विषयजन्य विकलता है। परम शान्ति तो श्रीकृष्णचरणारविन्दोंमें ही है, जब विषयजन्य सुखोंकी इच्छाको त्यागकर जीव श्रीकृष्णचरणाम्बुजों-का ही आश्रय लेगा, तभी उसे सच्ची शान्तिकी प्राप्ति हो सकेगी। इन्द्रिय-जन्य विषयोंमें जबतक वैराग्य-बुद्धि नहीं होती, जबतक पूर्णरीत्या स्वरूपतः सभी प्रकारकी वासनाओं और भोगोंका त्याग नहीं होता तबतक ज्ञान, वैराग्य, भक्ति अथवा शान्तिकी बातें बनाना केवल पागलोंका प्रलापमात्र ही है। त्यागके अनन्तर ही शान्ति है 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।'

---

* कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें युद्धसे विमुख हुए अर्जुनके प्रति भगवान् कह रहे हैं—हे अर्जुन! सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिसे मजबूर हैं। तेरी प्रकृति युद्ध ही करनेकी है—यदि अहंकारके वशीभूत होकर तू इस बातका हठ करेगा, कि मैं युद्ध नहीं करता, तो तेरा यह हठ व्यर्थ है, केवल दुराग्रहमात्र है। प्रकृति तुझे बरबस उसमें नियुक्त कर देगी।

त्यागमय जीवन भी पूर्वजन्मोंके सुकृतोंसे ही बन सकता है। वे मनस्वी, तपस्वी, विरक्त महात्मा धन्य हैं, जिन्हें संसारकी किसी भी प्रकारकी एषणाएँ आकर नहीं सतातीं, जो शरीरको पका फोड़ा समझकर उसे जड़-मूलसे नष्ट करनेके निमित्त ही उसकी देख-रेख करते हैं, अन्नको व्रण-लेपन समझकर ही आवश्यकतानुसार उसमें लगाते हैं, जिस प्रकार व्रणको धोते हैं, उसी बुद्धिसे वे स्नान करते हैं, वस्त्रोंका उपयोग व्रण-की चीरके समान करते हैं, भिक्षा ही जिनकी एकमात्र वृत्ति है, जिनके लिये निन्दा-स्तुति दोनों समान हैं, संसारी बातोंसे जो सदा मौनी बने रहते हैं, जो मिल गया उसीमें सन्तोष कर लेते हैं, जो कहींपर अपना निश्चित स्थान नहीं बनाते और जिनकी श्रीकृष्णचरणोंमें मति स्थिर हो गयी है, उन पूज्यपाद महात्माओंके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है। उन त्यागी महानुभावोंके चरणचिह्नोंका अनुवर्तन मैं कब कर सकूँगा? यही इस जीवनमें चिरकालकी अभिलाषा है। कई बार जोर मारा, अनेकों बार कार्यक्रम बनाये, प्रेमी बन्धुओंसे बीसों बार परामर्श किया, किन्तु यह अपने हाथकी बात थोड़े ही है। जिसके ऊपर उन्हींकी कृपा हो, उसे ही ऐसा जीवन उपलब्ध हो सकता है, जिन्हें वे ही बुद्धियोग दे दें, वही उनका 'प्रिय नर' बन सकता है। वे किसे बुद्धियोगका अधिकारी समझते हैं, इसे वे ही जानें।

सो जाने जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहि होइ जाई॥

गत राष्ट्रीय आन्दोलनमें मौनी तथा नियमी होनेपर भी दो बार कारावासमें जाना पड़ा। मौनी, फलाहारी तथा उपद्रवी होनेके कारण छः महीनेकी पूरी अवधि मैंने स्वेच्छासे कारावासकी कालकोठरियोंमें ही काटी। तीन महीने प्रयागकी जेलमें रखकर अधिकारियोंने मुझे नैपालकी तराईमें बहराइच जिलेकी जेलमें भेज दिया। यह जेल बहुत छोटी थी, वहाँके सभी

अधिकारी शिष्ट थे। मेरे साथी सभी भावुक नवयुवक थे, वहाँकी कालकोठरियाँ भी अन्य जेलोंकी अपेक्षा कुछ अच्छी थीं, इसलिये यह जेल मेरे बहुत अनुकूल पड़ी। मुझे दिन-रात्रि भजन-पूजन तथा एकान्त-चिन्तनका समय मिलता था। केवल दो-तीन घण्टे मैं अपने रामजी, काशी और सरयू आदि प्रेमी बन्धुओंके साथ कथा-वार्ता करता, नहीं तो अपनी कोठरीमें ही बैठा रहता। वहाँके एकान्त चिन्तनका हृदयपर बड़ा प्रभाव पड़ा। जीवनमें उत्कट त्यागके भाव आने लगे, बार-बार सोचता, कब अवधि समाप्त हो और कब इस कोलाहलपूर्ण संसारको त्यागकर पहाड़ोंकी कन्दराओंमें जाकर एकान्त-हृदयसे प्रभुके प्रेममें पागलकी भाँति रुदन करूँ। भर्तृहरिजीका यह पद बार-बार याद आता कि 'क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपयन्' अर्थात् संसारकी ओरसे वीतराग होकर हम किस पुण्य वन-प्रदेशमें बैठकर कब शिव-शिव-शिव ऐसा प्रलाप करते रहेंगे। अवधि समाप्त हुई, मैंने चित्रकूट, अयोध्या आदि पुण्य तीर्थोंकी पैदल यात्रा की, गंगाजीके किनारे-किनारे उत्तराखण्डमें प्रभु-प्रेमकी पूर्णरीत्या उपलब्धि न हो तबतक रहनेकी इच्छासे बदरीनारायणतककी यात्रा भी की, किन्तु 'पुण्यैर्विना नहि भवन्ति समीहितार्थाः' पूर्वजन्मोंके पुण्योंके प्रभावसे ही ऐसे स्थानोंमें निवास हो सकता है, पापोंके उदय हो आनेके कारण अनिच्छा-पूर्वक भी फिर नीचे ही लौटना पड़ा।

दूसरे आषाढ़का अन्त था, श्रावण लग गया था, बदरीनाथमें प्रायः रोज ही वर्षा होती, बर्फ भी गिरती। मेरे ओढ़ने, बिछाने, पहिननेको वही एक जालीदार टाटका टुकड़ा था। उसीमें गुड़मुड़ी मारे बदरीनारायणके बड़े फाटकके सामने पड़ा रहता था, रात्रिमें ठण्डी-ठण्डी वायु आकर शरीरमें घुस जाती, उस समय दुःख होता था या सुख इसे ठीक-ठीक कह नहीं सकता, किन्तु दुःखमें जैसी घबराहट या विकलता होती है, सो बिल्कुल नहीं थी। पहाड़ी जलसे और भोजनके व्यतिक्रमसे पाँच छः वर्षकी

पुरानी संग्रहणी भी उभड़ आयी। पेटमें जोरोंका ऐंठा होता, छः-छः सात-सात बार दस्त जाना पड़ता। पेटसे शुद्ध आँव निकलता। खानेको भिक्षामें जो भी मिल जाय, इतनेपर भी भूख इतनी लगती कि सेर तीन पाव अन्न यदि मिल जाता तो उसे प्रेमके साथ पा लेता! शरीरकी दशा विचित्र ही हो गयी। बदरीनारायणजीके बड़े दरवाजेपर जहाँ मैं रात्रिको पड़ा रहता था वहीं एक साधुद्वारा मालूम हुआ कि यहाँसे छः-सात मील और ऊपर एक वसुधारा नामक स्थान है, वह स्थान भी बड़ा सुन्दर है और वहाँ दो बहुत पुराने महात्मा भी रहते हैं।

मैंने सोचा—जब यहाँतक आ गया हूँ, तब इस सुयोगको हाथसे क्यों छोड़ूँ, मरूँ चाहे जीऊँ उन महापुरुषोंके दर्शन करने चाहिये। जानकी बाजी लगाकर नंगे ही पाँवोंसे वसुधाराको चल पड़ा। व्यासगुफा, गरुड़गुफा, भीमशिला आदि स्थानोंमे होते हुए चाँदीके समान चमकीली बर्फके ऊपर होकर वसुधारा पहुँच गया। दस्तोंकी कमजोरीके कारण आशा तो नहीं थी कि उस चढ़ाईको पार कर सकूँगा, किन्तु प्रभुकी ऐसी ही इच्छा थी, जैसे-तैसे पहुँच गया। उस स्थानको देखकर हृदय नृत्य करने लगा। बात बढ़ जायगी, विषयान्तर भी हो जायगा, स्थान भी बहुत घिर जायगा और पाठक भी उकता जायँगे इसलिये उस स्थानकी मनोहरता, अपनी निर्बलता और वहाँकी प्राकृतिक छटाका वर्णन छोड़े ही देता हूँ। उन दोनों महापुरुषोंके विषयमे भी विस्तारके साथ वर्णन न करूँगा। पाठक इतना ही समझ लें कि वे सचमुचमें महापुरुष ही होंगे जहाँ पशु-पक्षीकी तो बात ही क्या, पौधे भी बर्फके कारण नहीं जमते, वहाँ वे अठारह-बीस वर्षोंसे निरन्तर रहते हैं। केवल जाड़ोंमें चार महीनेके लिये बदरीनारायणसे थोड़े नीचे आते हैं। उनका स्वभाव बालकोंका-सा था, वे निष्कपट भोलीभाली बातें करते थे, मानो कोई पाँच-छः वर्षका अबोध बालक किसीसे बातें कर रहा हो। उनके स्वभावमें पागलपन था, बातें दोनों ही बे-सिर-पैरकी करते

थे, किन्तु वे निरर्थक नहीं होती थीं। बहुत-सी बातें होती रहीं। दोनोंने ही बताया 'यहाँसे केदारनाथ और गंगोत्तरी केवल ढाई कोस है। बीचमें बर्फके पहाड़ होनेसे लोग वहाँ जा नहीं सकते! हम तीन-चार बार सीधे गये हैं।' मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। मैं उसी मार्गको लगभग दो सौ मीलकी यात्रा करके आया था। ये महात्मा सीधे गये होंगे, इसमें हमें सन्देह नहीं रहा। जो हम बर्फमें नंगे रह सकते हैं और बीस वर्षोंसे वैसे ही घास-पत्ते खाकर रहते हैं उनके लिये बर्फके पहाड़से फिसलना क्या कठिन है! खैर, मैंने अपने बारेमें इशारेसे पूछा—वे महापुरुष झट समझ गये और खिड़ी-पागलोंकी तरह कहने लगे—हाँ, वे बात-बातमें यह कह देते थे—'हम तो जंगली आदमी हैं भैया।' 'हम तो जंगली आदमी हैं भैया! हमारी क्या?' इसी तरह अपनेको तीन-चार बार जंगली बताकर बोले—'यहाँ नहीं वहीं जाओ। जहाँ अनुकूल पड़े वहीं रहना चाहिये। यदि यहाँ रहना है, तो फिर कोई इच्छा ही न होनी चाहिये। सबके स्थान अलग-अलग हैं, हम तो जंगली हैं, देवस्थानोंमें देव ही रह सकते हैं। जहाँ मन लगे वहीं ठीक होता है। वहीं जाओ। हम तो जंगली आदमी हैं।' उनका भाव क्या था, इसे तो वे ही जानें। मैंने यही समझा ये महापुरुष मुझे नीचे जानेकी ही आज्ञा देते हैं, इसलिये मैं बदरीनारायणसे अल्मोड़ा होता हुआ सीधा यहाँ गँवे आ गया।

पहिले संग्रहणी होनेपर भी उसकी चिकित्सा भाई बाबूलालजीने ही दूधके कल्पद्वारा की थी। तबसे तो मैं फिर तीन-चार वर्षोंतक निरन्तर दूध-फलोंपर ही जीवन बिताता रहा। इस यात्रामें अन्न आरम्भ किया था, वह असंयमके कारण अनुकूल न पड़ा। इसलिये फिर वही दूधकी चिकित्सा करायी और रोग कुछ-कुछ अच्छा हुआ। अन्ततः फिरसे फलाहारी बनना पड़ा।

बात बहुत बड़ी है और पाठकोंका उससे कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं, इसलिये इस गाथाको अधिक न बढ़ाकर बस इतना ही कह देना पर्याप्त होगा, कि भावी बड़ी बलवान् होती है, उसे जिससे जिस स्थानमें जो काम जब कराना होता है, उससे उसी स्थानमें वही काम उसी समय करा लेती है। इस स्थानमें रुकनेका मेरा बिल्कुल ही विचार नहीं था, 'श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली' जैसे महाग्रन्थको लिखनेका कभी जीवनमें साहस भी करूँगा ऐसी मुझे कभी स्वप्नमें भी आशा नहीं थी। मैं सोच रहा था, 'वहीं झूसीकी पुरानी कुटियामें चलकर पूर्ववत् एकान्तवास, स्वाध्याय, अध्ययन और अनुष्ठानादि करूँगा।' किन्तु भवितव्यताको कौन अन्यथा कर सकता है, भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका आदेश मिला कि 'चैतन्य-चरित्र' लिखो। पहिले तो मैं हिचका, अपनी असमर्थता भी प्रकट की, फिर सोचा—उन्हींका काम है वे ही करवावेंगे, तू क्यों मुकुरता है ? दादूदयालजीके शब्दोंमें—

> 'दादू' करता हम नहीं, करता औरे कोय।
> करता है सो करैगा तूं जिन करता होय॥

मैंने उन्हें लिख दिया—'आदेशपालनकी यथाशक्ति चेष्टा करूँगा।' इधर भाई बाबूलालजीने आग्रह करते हुए कहा—'यदि तुम्हें चैतन्य-चरित्र ही लिखना है, तो हरियाबावाली बाँधकी कुटियामें ही रहकर क्यों नहीं लिखते ? वह आजकल एकदम उजाड़ पड़ी है, उसमें चैतन्यदेवका वर्षों कीर्तन हुआ है, अनेकों बार चैतन्य-चरित्रकी कथाएँ हुई हैं। उससे अधिक एकान्त शान्त और रम्य स्थान तुम्हें कहाँ मिलेगा ? गंगाजीका एकदम किनारा, सुन्दर रमणीक स्थान, चैतन्य-चरित्रका सुन्दर वायुमण्डल, सभी बातें तो अनुकूल हैं। फिर हमलोग भी तुम्हारे शरीरकी देख-रेख करते रहेंगे।' उनकी ऐसी ही इच्छा। यहाँ आ गया। यहाँ आते ही

एक परम वैराग्यवान् महापुरुषके सत्संगका सुयोग प्राप्त हुआ। परिव्राजकाचार्य महात्मा ब्रह्मप्रकाशजी महाराजके दर्शन यहाँ आते ही हो गये। स्थानकी सफाई कराकर यहाँ आसन जमा दिया। बन्धुवर रामेश्वरदयालुजीने तथा पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीने चैतन्यदेवके सम्बन्धकी जितनी बँगला, अंग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दीकी पुस्तकें थीं, वे सभी मुझे चरित्र लिखनेके लिये दे दीं। पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीके एकमात्र इष्टदेव महाप्रभु गौराङ्ग ही हैं। उनके जीवनमें भी स्वयं गौराङ्गदेवजीकी-सी भावुकता, पवित्रता, महत्ता और तन्मयता है। वे स्वयं त्याग, वैराग्य, भक्ति और प्रेमकी एक आदर्श मूर्ति हैं। उनके द्वारा बीसों वर्षोंसे इस प्रान्तका कल्याण हो रहा है। लाखों मनुष्य उनके प्रेम-पीयूषका पान करके शान्ति-मार्गकी ओर अग्रसर होनेकी इच्छा कर रहे हैं। उन महापुरुषकी इतनी कृपा ही पर्याप्त है, कि वे हृदयसे इस कार्यके प्रति सहानुभूति रख रहे हैं। महापुरुषोंके सत्सङ्कल्पके सामने कौन-सा कार्य नहीं हो सकता है, उनके सत्सङ्कल्पसे दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य बन जाता है। अपात्र भी उस कार्यके योग्य पात्र बन जाता है। श्रीहरिबाबाजीने चैतन्य-चरित्रका बड़े परिश्रमके साथ अध्ययन किया है। वे महाप्रभुके लीला-स्थानोंमें स्वयं गये हैं, उनके सम्प्रदायके मुख्य-मुख्य महापुरुषोंसे मिले हैं और उनके सभी ग्रन्थोंका उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया है। दुर्भाग्यवश, मुझको वे इस चरित्रमें प्रत्यक्ष रीतिसे पुस्तकोंके अतिरिक्त कुछ भी सहायता न कर सके, कारण कि वे नियममें थे। अस्तु, उनका आशीर्वाद ही यथेष्ट है।

जिस दिन मैं यहाँ आया, उसी दिन सहसा एक पण्डितजी महाराजने पधारकर श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका नवाह आरम्भ कर दिया। पूज्यपाद श्रीब्रह्मप्रकाशजी महाराजके सहित मैंने नवाह सुना। पू० ब्रह्मप्रकाशजीके महान् और आदर्श जीवनका मेरे हृदयके ऊपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। वे महापुरुष वेदान्तशास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे, वेदान्तका कोई भी मुख्य

ग्रन्थ उनसे नहीं बचा था, जिसकी उन्हें भलीभाँति जानकारी न हो। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतकी श्रीधरी टीका तो उन्हें अक्षर-अक्षर स्मरण थी। इतने बड़े ज्ञानी होनेपर भी हृदय इतना सरस और कोमल था कि भगवन्नामके श्रवणमात्रसे उनकी आँखोंमें आँसू आ जाते। श्रीमद्भागवतकी तो बात ही क्या महाभारतको पढ़ते-पढ़ते वे निरन्तर रोते रहते थे। त्यागी इतने जबरदस्त कि बस, एक चद्दरमें ही सदा रहते। जाड़ा हो, गरमी हो, चाहे वर्षा हो, दूसरा वस्त्र वे रखते ही नहीं थे। बदरीनाथ तथा गंगोत्तरीमें भी एक ही चद्दरसे रहते थे। मैंने बहुत आग्रह किया कि रात्रिमें थोड़ा दुग्ध ग्रहण कर लिया करें। किन्तु बार-बार प्रार्थना करनेपर भी मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। गाँवोंमेंसे जो रूखी-सूखी रोटी माँग लाते, उन्हें ही एक समय पाकर निर्वाह करते।

नवाह समाप्त होनेपर मैंने कछलाके पं० वागीशजी शास्त्रीको लिखा, मेरा समाचार पाते ही वे फौरन चले आये और नवाह समाप्त होनेके दूसरे ही दिनसे श्रीमद्भागवतकी कथा प्रारम्भ हो गयी। इसी बीच श्रीब्रह्मचारी आनन्दजी तथा श्रीब्रह्मचारी इन्द्रजी भी यहाँ आकर रहने लगे। इन सभी बन्धुओंके सहवास और सत्सङ्गसे समय बड़े ही आनन्दके साथ कट रहा है।

एक दिन सहसा श्रीब्रह्मप्रकाशजी महाराज मुझसे बिना कहे ही कहीं चले गये। दो महीनेतक जो पुत्रकी भाँति प्यार करते रहे, उनकी ऐसी निष्ठुरताको स्मरण करके यह लोकोक्ति याद आ गयी 'राजा किसके पाहुने जोगी किसके मीत।' मन मसोसकर रह गया मनकी वेदनाको किसपर प्रकट करूँ? तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

मिलत एक दारुण दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हर लेहीं॥

उनका स्मरण बना ही हुआ था, तभी पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबा यहाँ

आ गये। उनके आनेसे सम्पूर्ण आश्रम आनन्दमय बन गया। निरन्तर भक्तोंके आगमनसे आश्रममें चहल-पहल बनी रहती है।

जब भगवान्‌की कृपा होती है, तब एक साथ ही होती है। महात्मा श्रीहरिहर-श्रीचैतन्यजीका नाम बहुत दिनोंसे सुन रहा था, २२-२३ वर्षकी छोटी अवस्थामें ही उन्होंने वेदान्त-शास्त्रमें पूर्णता प्राप्त कर ली है, वे एक चद्दरके अतिरिक्त कमण्डलु भी नहीं रखते, बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित उनके पास वेदान्तके ऊँचे-ऊँचे ग्रन्थ पढ़ने आते हैं। मैं उनके दर्शनको ऋषिकेश गया था, किन्तु मेरे दुर्भाग्यसे वे उसी दिन हरिद्वार चले आये थे, इसलिये उनके दर्शनोंसे तब वञ्चित ही रहा। सहसा एक दिन वे स्वतः ही यहाँ आ गये और मेरी प्रार्थनापर कुछ काल उन्होंने यहाँ रहना भी स्वीकार कर लिया है। शामको आप नियमितरूपसे 'चैतन्य-चरितावली' की कथा सुनते हैं और दिनमें श्रीमद्भागवतकी भी। अबतक मैं अपनेको बिल्कुल भगवत्कृपासे हीन समझता था, किन्तु इन महापुरुषोंके दर्शनोंसे और इनकी अहैतुकी कृपाका स्मरण करके सोचता हूँ, तुझे चाहे अनुभव न हो, किन्तु तेरे ऊपर भगवान्‌की थोड़ी-बहुत कृपा अवश्य है। कारण 'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।' इस पदपर ही विश्वास करके अनुमान करता हूँ, वैसे अपने चित्तकी बहिर्मुखी वृत्तिका स्मरण करके तो अबतक यही पता लगता है, कि मैं भगवत्कृपासे अभी बहुत दूर हूँ।

मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको इस ग्रन्थका लिखना आरम्भ किया था, बीचमें शारीरिक बड़े-बड़े विघ्न हुए। उस अरुचिकर प्रसङ्गका वर्णन करके मैं पाठकोंका बहुमूल्य समय बरबाद नहीं करना चाहता, किन्तु इतना बताये देता हूँ कि पूर्व जन्मोंके पापोंके परिणामस्वरूप या प्रारब्धके भोगोंके कारण यह शरीर बहुत ही रोगमय प्राप्त हुआ है। एक दिन दोनों खोखली डाढ़ोंमें बड़ी भारी वेदना हो रही थी, उन्हें उखड़वानेके लिये डाक्टर साहबको बुलाया था, पैरोंकी बड़ी-बड़ी बिवाइयोंमें सूखा दर्द हो रहा था। इससे

एक दिन पहिले ही वात-व्याधिके कारण लगातार ९ घंटेतक पेटमें असह्य दर्द हो चुका था, उसकी मीठी-मीठी वेदना शेष थी, दद्रु अलग पीड़ा दे रहे थे। कुछ अन्यमनस्क भावसे डाढ़को पकड़े हुए डाक्टरकी प्रतीक्षा कर रहा था उसी समय इन्द्रजीने मुझे यह श्लोक लिखकर दिया—

> इदं शरीरं शतसन्धिजर्जरं
> पतत्यवश्यं परिणामपेशलम्।
> किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते
> निरामयं कृष्णरसायनं पिब ॥*

किन्तु उस निरामय कृष्णरसायनका पान करूँ भी तो कैसे करूँ? मेरा दुर्भाग्य मुझे करने दे तब तो! जब वे ही स्वयं कृपा करके बुद्धियोग प्रदान करेंगे तभी उसके द्वारा उनतक पहुँच सकूँगा।

भजन, अध्ययन, कथाश्रवण तथा नित्यकर्मोंसे जो समय बचता है, उस समयमें ग्रन्थ लिखनेका काम होता है। जितना लिखा जाता है, उतनेकी नियमितरूपसे आनन्दजी रात्रिमें कथा कहते हैं, जबसे पूज्यपाद उड़ियाबाबाजी यहाँ पधारे हैं, वे भी कथा सुनते हैं इस प्रकार लिखा जानेपर सभी भक्तोंमें इसकी थोड़ी-बहुत आलोचना-प्रत्यालोचना होती है।

चैतन्य-चरित्र अगाध सुस्वादु रसका सागर है। इसमेंका रस कभी समाप्त ही नहीं होनेका, कोई चाहे जितना पी ले, चाहे जितना उलीच ले,

---

* यह शरीर सैकड़ों प्रकारके जोड़ लगनेके कारण बहुत ही कमजोर बना हुआ है। यह एक-न-एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जायगा, क्योंकि यह नाशवान् है। कहते हैं—'फिर इसकी ओषधि क्या है?' उत्तर देते हैं—'अरे, हतभागी नीच! तू शोक क्यों करता है, सब रोगोंको दूर करनेवाले कृष्णरसायनका निरन्तर पान क्यों नहीं करता? उसके पान करनेसे सम्पूर्ण रोग चले जायँगे।'

इसमें अनुमान भी कम नहीं होवेगा । मैंने तो इस ग्रन्थका सम्पादन पूरा किया है । इसलिये मुझे तो सचमुचमें बहुत अधिक लाभ हुआ है, अब इससे दूसरे लोगोंको लाभ होता है या नहीं इसका मुझे पता नहीं । 'दूसरे लोगोंको लाभ हो' इस नीयतसे मैंने इस चरित्रको लिखा भी नहीं । जिस उद्देश्यसे यह चरित्र लिखा गया उसका फल तो मुझे ग्रन्थारम्भके पूर्व ही मिल गया । इसके बाद महालाभ यह मिला कि चैतन्य-चरित्रके प्रत्येक पदपर विचार करते-करते अनेकों बार अपूर्व आनन्दका अनुभव हुआ । परोक्ष भी फल यह मिला कि महात्माओंने कृपा करके इस चरित्रको सुना और इसकी सराहना की । अब पाठकोंको इससे कुछ लाभ मिले इसका श्रेय मुझे न होकर भक्तिप्रेमके ग्राहकोंको ही है कि जिनकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ लिखा गया और उनके अनवरत परिश्रमके कारण पाठकोंके हाथोंतक पहुँच गया । मेरी अपनी तो इच्छातक नहीं थी ।

महाप्रभु गौराङ्गदेवके जीवनमें सर्वव्यापी प्रेमके सभी लक्षण यथावत् स्पष्ट हुए हैं । महाप्रभु अपने समयके प्रेमी और भावुक महापुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ महापुरुष समझे जाते हैं । उनका सम्पूर्ण जीवन विरहमय है, उनका श्रीविग्रह कृष्ण वियोगका साकार स्वरूप ही बन गया था । किसी भी मनुष्यके शरीरमें विरहजन्य इतने ऊँचे भाव नहीं देखे गये हैं । जिन्हें रोना सीखना हो, जो श्रीकृष्ण-प्रेममें पागल होकर निरन्तर अश्रु बहाते रहनेका इच्छुक हो उसे चैतन्य-चरित्रका अध्ययन करना चाहिये । रोना ही जीवनका एकमात्र सर्वोत्कृष्ट आनन्द है, बिलखते रहना ही इस नीरस जीवनको अमर बनानेकी सञ्जीवनी है । तड़पना ही जीवनका सर्वोत्तम सौन्दर्य है । जिसे अपने जीवनको सर्वोत्कृष्ट, आनन्दमय, सौन्दर्यमय, भावमय तथा प्रेममय बनाना हो, जो बिलखना, तड़पना और छटपटाना चाहते हों, उनसे हमारी प्रार्थना है, वे 'चैतन्य-चरितावली' का स्वाध्याय करें । उन्हें

इसमें पूर्णरीत्या तो नहीं, किन्तु कुछ-कुछ संकेत अवश्य मिल जायँगे। बस, उन्हींके द्वारा वे अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँच सकेंगे।

यह तो इसका प्रथम भाग ही है। इसे तो चैतन्य-चरित्रकी प्रस्तावना ही समझनी चाहिये। यह तो उस साकार प्रेमावतारके व्यापक चरित्रकी उपक्रमणिकामात्र है। चैतन्य-चरित्रका प्रारम्भ तो वस्तुतः दूसरे भागसे होगा।

चैतन्यदेवके महान् जीवनमें चैतन्यताका बीजारोपण तो गयाधाममें हुआ, नवद्वीपमें आकर वह अंकुरित और कुछ-कुछ परिवर्धित हुआ। श्रीनीलाचल (जगन्नाथपुरी) में वह पल्लवित, पुष्पित और अमृतमय फलोंवाला बन गया। उसके अमृतमय सुस्वादु फलोंसे असंख्यों प्राणी सदाके लिये तृप्त हो गये और उनकी बुभुक्षाका अत्यन्ताभाव ही हो गया। उसकी नित्यानन्द और अद्वैतरूपी दो बड़ी-बड़ी शाखाओंने सम्पूर्ण देशको सुखमय और शान्तिमय बना दिया। इन सब बातोंका वर्णन पाठकोंको अगले भागोंमें मिलेगा। इसलिये हमारी प्रार्थना है कि पाठक इस मधुमय, आनन्दमय और प्रेममय दिव्य चरित्रको श्रद्धाभक्तिके साथ पढ़ें। इसके पठनसे शान्ति मिलेगी परमार्थका पुनीत मार्ग परिष्कृत होगा, मनकी मलिन वासनाएँ दूर होंगी चित्तके भाँति-भाँतिके सन्देहोंका भञ्जन होगा, भक्तोंके चरणोंमें प्रीति होगी और भगवान्के समीपतक पहुँचनेकी अधिकारभेदसे जिज्ञासा उत्पन्न होगी। इससे पाठक यह न समझ बैठें कि इसमें कुछ मेरी कारीगरी या लेखन-चातुरी है, यह तो चैतन्य-चरित्रकी विशेषता है, मुझ जैसे क्षुद्र जीवकी चातुरी हो ही क्या सकती है ? यदि इस ग्रन्थके लेखनमें कहीं मनोहरता, सुन्दरता या सरसता आदि आ गयी हो तो इन सबका श्रेय श्रील कृष्णदास गोस्वामी, श्रील वृन्दावनदास ठाकुर, श्रील लोचनदास ठाकुर, श्रील मुरारी गुप्त तथा श्रीशिशिरकुमार घोष आदि पूर्ववर्ती चरित्र-लेखक महानुभावोंको ही है

और जहाँ कहीं विषमता, तीक्ष्णता, निरसता आदि दूषण आ गये हों उन सबका दोष इस क्षुद्र लेखकको है और इसका एकमात्र कारण इस अज्ञानीकी अल्पज्ञता ही है।

अन्तमें मेरी प्रेमी पाठकोंसे यही प्रार्थना है कि वे एक बार 'चैतन्य-चरितावली' को आदिसे अन्ततक ध्यानपूर्वक अवश्य पढ़ जायँ। उस मुनिमनहारी, बाँकेविहारी मुरलीमनोहरकी मंजुल मूर्तिका अपने हृदयमें ध्यान करता हुआ मैं अपनी इस रामकहानीको समाप्त करता हूँ।

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
बसन्तपञ्चमीकी गुलाबी रात्रि
संवत् १९८८ विक्रमीय

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

इष्ट-प्रार्थना

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

ग्रन्थारम्भके पूर्व दो महापुरुषोंके
नमस्कारात्मक आशीर्वाद ।

श्रीपरमहंस परिव्राजक श्रीस्वामी ब्रह्मप्रकाशजी महाराजद्वारा प्राप्त—

कटाक्षकिरणाचान्त नमन्मोहाब्धये नमः ।
अनन्तानन्दकृष्णाय जगन्मङ्गलमूर्तये ॥ १ ॥

प्रणाम करनेवाले भक्तोंके मोहरूपी समुद्रको जिन्होंने अपने कटाक्ष-की किरणोंसे पान कर लिया है और जो जगत्‌के मङ्गलकी साक्षात् मूर्ति ही हैं ऐसे अनन्त आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णके लिये नमस्कार है ॥ १ ॥

नमामि सच्चिदानन्दं भक्तान्स्वात्मनि कर्षकम् ।
कृष्णं नवघनश्यामं भक्तपापादिकर्षणम् ॥ २ ॥

कृष्ण-शब्दके चार अर्थ करते हैं—'कृष्' सत् 'ण' आनन्द अर्थात् जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। 'भक्तान् स्व आत्मनि कर्षतीति कृष्णः'—जो भक्तोंको अपनी ओर बलात् खींचते हैं। 'नवघनमिव श्यामम्'—जो नूतन मेघकी तरह काले हैं। 'भक्तानां पापादिविकारान् कर्षयतीति कृष्णसम्'—जो भक्तोंके पाप आदि विकारोंको हृदयसे हठात् खींच लेते हैं। ऐसे कृष्णके लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीमत् पूज्यपाद महात्मा उड़ियाबाबाद्वारा प्राप्त—

राजच्चन्द्रकरोचितारुचिरतिप्राणेशभावाधिका
मानिद्रोहपराकुशानुतनुतापादीनताभूषिता।
नागारे स्फुरितादराप्रियतमालाभासमाधिश्रिता
पायात्त्वामधुनाशनादिरहिता सा राधिका सा तनू॥

यह श्लोक श्रीराधा-कृष्ण-परक है। इसके विशेषण श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनोंके ही सम्बन्धमें घट सकते हैं। प्रधानतया यह राधापरक ही श्लोक है, इसीलिये उसीका अर्थ सुनिये। श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल हुई श्रीराधिकाजीके रूपका वर्णन करता हुआ भक्त कहता है, ऐसी विरह-पीड़िता श्रीराधिकाजी तुम्हारी रक्षा करें—

जिन श्रीराधिकाजीको सुन्दर, सुप्रकाशित चन्द्रमाकी किरणें अरुचि-कर प्रतीत होती हैं, जो अपने प्यारे प्राणेशके विरहके कारण अत्यन्त ही दुःखित है, जिन्हें निद्रा आती ही नहीं, जो श्रीकृष्णके आगमनके सम्बन्धमें दिन-रात्रि तर्क-वितर्क ही करती रहती हैं, जिनका शरीर विरहाग्निसे सदा तपता रहता है, जो अत्यन्त ही दीनतासे ललिता आदि सखियोंसे श्रीकृष्णको बुलानेके लिये प्रार्थना कर रही है, इसके कारण उनके शरीरकी शोभा अत्यन्त ही भली मालूम पड़ती है, जिन

श्रीकृष्णके विरहमें घर-बार कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है, जो अपने प्रियतमके न मिलनेसे अत्यन्त ही व्याकुल हुई बैठी हैं, जिन्होंने खान-पान सभीका परित्याग कर दिया है और जिन्होंने अपने शरीरकी सभी सुधि-बुधि भुला दी है, ऐसी श्रीराधिकाजी तुम्हारी (लेखककी) रक्षा करें।

अब श्रीराधा-कृष्ण दोनोंके मिलित स्वरूपोंका वर्णन करते हैं—जिनके सिरपर सुन्दर मोर-मुकुट शोभायमान है, जिनके शरीरका लावण्य कोटि कन्दर्पोंकी छविको भी तिरस्कृत करनेवाला है, जिनसे कंसादि देहाभिमानी सदा द्रोह-भाव ही रखते हैं, जिनके शरीरकी कान्ति अग्निके समान सदा देदीप्यमान रहती है, जो भक्तोंकी दीनताके लिये ही कृपारूपी आभूषणको धारण करते हैं, गरुड़जीको जिनके द्वारा आदर प्राप्त हुआ है, जिनकी तमालवृक्षके समान सुन्दर आभा है, जो सदा आत्मस्वरूपमें ही स्थित रहते हैं, जिन्होंने मधुनामके दैत्यका संहार किया है ऐसे अनादि परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रजीका वह शरीर श्रीराधिकाजीके सहित तुम्हारी (लेखककी) रक्षा करे।

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

(मधुसूदन स्वामी)

"जिनके कर-कमलोंमें मनोहर मुरलिका विराजमान है और जिनके शरीरकी आभा नूतन मेघके समान श्याम है, जो पुनीत पीताम्बरको धारण किये हुए हैं, जिनका मुख शरद्के पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर है, नेत्र कमलके समान कमनीय हैं तथा अधर बिम्बाफलके समान लाल हैं ऐसे श्रीकृष्णको छोड़कर मैं कोई दूसरा परतत्त्व नहीं जानता । अर्थात् सर्वस्व तो ये ही वृन्दावनविहारी मुरलीमनोहर हैं।"

इष्ट-प्रार्थना

कदा वृन्दारण्ये विमलयमुनातीरपुलिने
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम् ।
अये कृष्ण स्वामिन् मधुरमुरलीवादनविभो
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥*

प्यारे ! तुमसे किस मुखसे कहूँ, कि मुझे ऐसा जीवन प्रदान करो । चिरकालसे महात्माओंके मुखसे सुनता चला आ रहा हूँ, कि तुम निष्किञ्चनोंके प्रिय हो, जिन्होंने आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकारके परिग्रहका परित्याग कर दिया है, जिनके तुम ही एकमात्र आश्रय हो, जो तुमको ही अपना सर्वस्व समझते हों, उन्हीं एकनिष्ठ भक्तोंके हृदयमें आकर तुम विराजमान होते हो, उन्हींके जीवनको असली जीवन बना देते हो । उन्हींके तुम प्यारे हो और वे तुम्हें प्यारे हैं । प्यारे ! इस पामर प्राणीसे तुम कैसे प्यार

---

* यमुनाजीका सुन्दर पुलिन हो, वृन्दावनके सुन्दर वनोंमें वंशी बजाते हुए हलधर और सुदामा आदि प्यारे गोपोंके साथ आप विचरण कर रहे हों । हे मेरे प्राणनाथ ! हे मेरे मदनमोहन ! ओ मेरे चितचोर ! मेरे ऐसे दिन कब आवेंगे, जब मैं तुम्हारी इस प्रकारकी छविको हृदयमें धारण किये पागलोंकी भाँति कृष्ण-कृष्ण चिल्लाता हुआ, अपने जीवनके सम्पूर्ण समयको निमिषकी नाईं बिता दूँगा ।

कर सकोगे ? वञ्चना नहीं, अत्युक्ति नहीं, नाथ ! यह कैसे कहूँ कि बनावट नहीं, किन्तु तुम तो अन्तर्यामी हो, तुमसे कोई बात छिपी थोड़े ही है, इस अधमका तो तुम्हारे प्रति तनिक भी आकर्षण नहीं । रोज सुनता हूँ, अमुकके ऊपर तुमने कृपा की, अमुकको तुमने दर्शन दिये, इन प्रसङ्गोंको सुनकर मुझे अधीर होना चाहिये, किन्तु कृपालो ! अधीर होना तो अलग रहा, मुझे तो विश्वासतक नहीं होता, कि ऐसा हुआ भी होगा या नहीं ।

बहुत चाहता हूँ, तुम्हारा स्मरण करूँ, मनमें तुम्हें छोड़कर दूसरा विचार ही न उठे, कान तुम्हारे गुण-कीर्तनोंके अतिरिक्त दूसरी सांसारिक बातें सुनें ही नहीं । जिह्वा निरन्तर तुम्हारे ही नामामृतका पान करती रहे । नेत्रोंके सम्मुख तुम्हारी वही ललित त्रिभङ्गीयुक्त बाँकी चितवन नृत्य करती रहे । पैरोंसे तुम्हारी प्रदक्षिणा करूँ । करोंसे तुम्हारी पूजा-अर्चा करता रहूँ और हृदयमें तुम्हारी मनोहर मूर्तिको धारण किये रहूँ, किन्तु नटनागर ! ऐसा एक क्षण भी तो होने नहीं पाता ।

मन न जाने क्या ऊल-जलूल सोचता रहता है, जब कभी स्मरण आता है, तो मनको बार-बार धिक्कारता हूँ, 'अरे नीच ! न जाने तू क्या व्यर्थकी बातें सोचता रहता है ! अरे, उन मनमोहनकी छविका चिन्तन कर जिसके बाद फिर कोई चिन्तनीय चीज़ ही शेष नहीं रह जाती, किन्तु नाथ ! वह मेरी सीखको सुनता ही नहीं । न जाने कितने दिनसे यह इन घटपटादिकोंको सोचता आ रहा है । विषयोंके चिन्तनसे यह ऐसा विषय-मय बन गया है, कि तुम्हारी ओर आते ही काँपने लगता है और आगे बढ़ना तो अलग रहा, चार कदम और पीछे हट जाता है । कैसे करूँ नाथ ! अनेक उपाय किये, अपने करनेयोग्य साधन जहाँतक कर सका, सब किये, किन्तु इसपर कुछ भी असर नहीं हुआ । हो भी तो कैसे !

इसकी डोरी तो तुम्हारे हाथमें है । तुमने तो इसकी डोरी ढीली छोड़ दी है, यदि तुम्हारा जरा भी इशारा हो जाता तो फिर इसकी क्या मजाल जो इधरसे उधर तनिक भी जा सकता । मेरे साधनोंसे यह वशमें हो सकेगा, ऐसी मुझे आशा नहीं । तुम्हीं जब बरजो तब काम चले ।

मैं हारयो करि जतन बहुत विधि अतिसै प्रबल अजै ।
'तुलसिदास' बस होय तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥

प्यारे प्रभु ! जरा बरज दो । एक क्षणको भी तुम्हारे प्रेमसागरमें डूब जाय तो यह जीवन सार्थक हो जाय । यह कलेवर निहाल हो जाय ।

जीभ नाना प्रकारके रसोंमें इतनी आसक्त है, कि इसे तुम्हारे नाममें मज़ा ही नहीं आता । निरन्तर स्वादु-स्वादु पदार्थोंकी ही वाञ्छा करती रहती है । हठात् इसे लगाता हूँ, किन्तु बेमनका काम भी कभी ठीक होता है ! नाथ ! अब तो बस तुम्हारा ही आश्रय है ।

तुम्हारे प्रति अनुराग नहीं, विषयोंसे वैराग्य नहीं, जीवनमें यथार्थ त्याग नहीं । जीवन क्या है, पूरा जंजाल बना हुआ है । चाहता हूँ अनन्य होकर तुम्हारा ही चिन्तन करूँ, नहीं कर सकता । इच्छा होती है, जीवनमें यथार्थ त्याग हो, नहीं होता । सोचता हूँ संसारसे उपराम होऊँ, हो नहीं सकता । परिग्रहसे जितना ही दूर होनेकी इच्छा करता हूँ, उतना ही अधिक संग्रही बनता जाता हूँ । तुम्हारे चरणोंसे पृथक् होनेसे ऐसा होना अवश्यम्भावी है ।

शरीरको सुखाया । तितिक्षाका ढोंग रचा । ध्यान, जप, योग, आसन सभी तरफ मनको लगाया, किन्तु तुम्हारी यथार्थताका पता नहीं चला । तुम्हारे प्रेममें पागल न बन सका । हिर-फिरकर वही संसार भाँति-भाँतिका रूप रखकर सामने आ गया । तुम छिपे ही रहे । अपने ऊपर अब विश्वास नहीं रहा, यह शरीर रोगोंका अड्डा बन गया है । नेत्रोंकी

ज्योति अभीसे क्षीण हो गयी, दन्त खोखले हो गये । पाचन-शक्ति कम हो गयी, वायुके प्रकोपसे शरीरके सभी अवयव वेदनामय बन गये, फिर भी यथार्थ जीवन लाभ नहीं कर सका । अब सब तरफसे हारकर बैठ गया हूँ, अब तो एक यही बात सोच ली है, जो तुम कराओगे करूँगा, जहाँ रक्खोगे रहूँगा और जैसा नाच नचाओगे वैसा नाचूँगा । तो भी प्यारे ! इस जीवनमें एक ही साध है और यह साध अन्ततक बनी ही रहेगी । एक बार सबको भूलकर तुम्हारे चरणोंमें पागलकी भाँति लोटपोट हो जाऊँ, यही एक हार्दिक वासना है ।

अहा ! ये सभी सांसारिक वासनाएँ जब क्षय हो जायँगी, जब एकमात्र तुम ही याद आते रहोगे, सोते-जागते आठों पहर तुम्हारी मनोहर मुरलीकी मीठी-मीठी ध्वनि ही सुनायी देती रहेगी, तुम्हारी उस मन्द-मन्द मुसकानमें ही चित्त सदा गोते लगाता रहेगा और मैं सभी प्रकारसे लज्जा, सङ्कोच तथा भयको त्यागकर पागलोंका-सा नृत्य करता रहूँगा, तब यह जीवन धन्य हो जायगा, यह शरीर सार्थक हो जायगा ।

नाथ ! मुझे रोनेका वरदान दो, रोता रहूँ, पागलकी भाँति सदा रोऊँ, उठते-बैठते, सोते-जागते सदा इन आँखोंमें आँसू ही भरे रहें, रोना ही मेरे जीवनका व्यापार हो । खूब रोऊँ, हर समय रोऊँ, हर जगह रोऊँ और जोरसे रोते-रोते चैतन्यदेवकी भाँति चिल्ला उठूँ—

हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा ! हा ! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥

गुरु-वन्दना

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥*

(बृ० स्तो० र०)

गुरुदेव ! तुम्हारे पादपद्मोंमें कोटि-कोटि प्रणाम है । अन्तर्यामिन् ! तुम्हारे अनन्त गुणोंका बखान यदि शेषनाग अपने सहस्र मुखोंसे सृष्टिके अन्त-

---

* जो ब्रह्मानन्दस्वरूप है, परम सुखके देनेवाले हैं, उनके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं । जो मूर्तिमान् ज्ञान हैं, द्वन्द्वोंसे परे हैं, गगनके समान सर्वत्र व्यापक हैं, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके लक्ष्य हैं । जो एक हैं, नित्य हैं, मल-रहित हैं, अचल हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिके साक्षिस्वरूप हैं, जो भावोंसे परे हैं, तीनों गुणोंसे रहित हैं, इस प्रकारके अपने सद्गुरुके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ।

तक अहर्निश करते रहें तो भी उनका अन्त नहीं होगा। तब फिर मैं क्षुद्र प्राणी तुम्हारी विमल विरदावलीका बखान भला किस प्रकार कर सकता हूँ? फिर भी तुम जाने जाते हो। तुम अगम्य हो, तो भी अधिकारी तुमतक पहुँचते हैं। तुम अनिर्वचनीय हो, तो भी शिष्य-प्रशिष्य परस्परमें मिलकर तुम्हारा निर्वचन करते हैं। तुम निर्गुण-निराकार हो फिर भी शिष्योंके प्रेमवश तुम सगुण-साकार होकर प्रकट होते हो। मनीषी तुम्हारे तत्त्वको परोक्ष बतलाते हैं, वो भी तुम प्रत्यक्ष होकर शिष्योंकी पूजा-अर्चाको ग्रहण करते हो। हे गुरुदेव! इस प्रकारके तुम्हारे रूपको बारम्बार नमस्कार है।

हे ज्ञानावतार! मेरी पात्रता-अपात्रताका विचार न करना। पारस लोहेकी पात्रताकी ओर ध्यान नहीं देता, वह तो सामने आये हुए हर प्रकारके लोहेको सुवर्ण कर देता है क्योंकि उसका स्वभाव ही लोहेको काञ्चन बनाना है। तुम्हारे योग्य पात्रता क्या इन पार्थिव प्राणियोंमें कभी आ सकती है? अपने स्वभावका ही ध्यान रखना। तुम्हारे दयालु स्वभावकी प्रशंसा सुनकर ही मैं समिधा हाथमें लिये हुए तुम्हारे श्रीचरणोंमें आया हूँ। ये वन्य पुष्प हैं, अभीकी लायी हुई ये कुशा हैं और ये सूखी समिधा हैं, यही मेरे पास उपहार है और सम्भवतया यही तुम्हें प्रिय भी होगा। हे निरपेक्ष! मेरी प्रार्थना स्वीकार करो और मुझे अपने चरणोंमें शरण दो। तुम्हारे पादपद्मोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

हे त्रिगुणातीत! मैं तुम्हारी दयाका भिखारी हूँ, हम नेत्रहीनोंको एकमात्र तुम्हारा ही आश्रय है। अज्ञान-तिमिरने हमारी ज्योतिको नष्ट कर दिया है? इसे अपनी कृपारूपी सलाकासे उन्मीलित कर दो। जिससे हम तुम्हारी छबिका दर्शन कर सकें। हे मेरे उपास्यदेव! तुम्हें छोड़कर संसारमें मेरा और कौन ऐसा हितैषी है? तुम ही एकमात्र मेरे आधार हो। हे अनाश्रितके आश्रय! मेरी इस बद्धाञ्जलिको स्वीकार करो।

न तो मैं तैरना ही जानता हूँ, न नाव खेना ही। फिर भी घोर समुद्रमें बहा चला जा रहा हूँ। किधर जा रहा हूँ, कुछ पता नहीं। बवण्डर सामनेसे आता हुआ दीख रहा है, उससे कैसे बच सकूँगा। कुछ पता नहीं। अब एकमात्र तुम्हारा ही आश्रय है। कर्णधार बनकर मेरी सहायता करोगे तभी काम चल सकेगा। तुम्हारे पधारनेके अतिरिक्त निःसृतिका दूसरा मार्ग ही नहीं। चारों ओरसे फूटी हुई इस जीर्ण तरणीपर जब तुम्हारे श्रीचरण पड़ेंगे तो यह सजीव होकर निर्दिष्ट-पथकी ओर आप-से-आप ही चल पड़ेगी। हे घोर संसाररूपी समुद्रके एकमात्र कर्णधार! इस शुष्क जीवनमें सरसता लानेवाले गुरुदेव! इस प्रार्थनाकी ओर दृष्टिपात कीजिये।

तुम्हारी जगन्मोहन मूर्तिका ध्यान करते करते दिन व्यतीत हो जाता है; रात्रि आ जाती है; फिर भी मैं तुम्हारी कृपासे वञ्चित ही बना रहता हूँ। तुम्हारे निकट रहते हुए भी 'तुम्हारा' नहीं बन पाता। तुम्हारी चरण-छायाके सन्निकट बना रहनेपर भी शीतलतासे वञ्चित रहता हूँ। किसे दोष दूँ, मेरा दुर्दैव ही मुझे तुमतक नहीं पहुँचने देता। बस, इस जीवनमें एक ही आशा है, उसीका ध्यान करता रहता हूँ—

वह दिन कैसा होयगा, जब गुरु गहेंगे बाँह।
अपना करि बैठायँगे चरण-कमलकी छाँह॥

भक्त-वन्दना

> प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
> व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
> रुक्माङ्गदोद्धवविभीषणफाल्गुनादीन्
> पुण्यानिमान्परमभागवतान्नतोऽस्मि ॥
>
> (पाण्डव-गीता)

जिन्होंने दैत्यकुलमें जन्म लेकर भी अच्युतकी अनन्य भावसे अर्चा-पूजा की है, जिनके सदुपदेशसे दैत्य-बालक भी परम भागवत बन गये, जिन्होंने अपने प्रतापी पिताके प्रभावकी परवा न करके अपनी प्रतिज्ञामें परिवर्तन नहीं किया, जिन्हें हलाहल विष पान कराया गया, पर्वतके शिखरसे गिराया गया, जलमें डुबाया गया, अग्निमें जलाया गया तो भी जो अपने प्रणसे विचलित नहीं हुए, जिनके कारण साक्षात् भगवान्को नृसिंहरूप धारण करना पड़ा, उन भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजीके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है ।

जो संसारके कल्याणकी इच्छासे सदा नाना लोकोंमें भ्रमण करते रहते हैं, जो ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं, जिनकी सम्पूर्ण लोकोंमें अप्रतिहत गति है, जो स्मरण करते ही सर्वत्र पहुँच जाते हैं, जिन्हें इधर-की-उधर मिलानेमें आनन्द आता है, जो सङ्गीतमें पारङ्गत हैं और भक्तिके आदि-

आचार्य हैं, जो वीणा लेकर उच्च स्वरसे अहर्निश 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ! नारायण वासुदेव' इन नामोंका संकीर्तन करते रहते हैं ऐसे भक्तशिरोमणि देवर्षि नारदजीके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

जो मूर्तिमान् तप हैं, जो पुराणोंके मर्मज्ञ हैं, जिन्होंने अनेक प्रकारके यज्ञोंमें विष्णुकी आराधना की है उन व्यासदेवजीके पिता परम भागवत महर्षि पराशरजीके पादपद्मोंमें अनन्त प्रणाम है।

परम भागवत, परम वैष्णव पुण्डरीक ऋषिके चरणोंमें मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।

जिन्होंने एक वेदको चार भागोंमें विभक्त कर दिया है, जिन्होंने कलिके जीवोंके उद्धारके निमित्त पञ्चम वेद महाभारत और अठारह पुराणोंकी रचना की है, जो ज्ञानावतार हैं, उन महर्षि वेदव्यासदेवको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।

जिनकी वैष्णवताके प्रभावको सूचित करनेके निमित्त भगवान्ने शरणमें आये हुए महर्षि दुर्वासाकी स्वयं रक्षा न करके उन्हींके पास भेजा था, जिनके परम भागवत होनेकी प्रशंसासे पुराणोंके बहुत-से स्थल भरे पड़े हैं, उन राजर्षि अम्बरीषकी चरणधूलिको मैं अपने मस्तकपर धारण करता हूँ।

जो संसारी मायाके प्रभावसे बचनेके निमित्त बारह वर्षतक माताके गर्भमें ही वास करते रहे; जिन्होंने मरणासन्न महाराज परीक्षित्को सात दिनोंमें ही श्रीमद्भागवतकी कथा सुनाकर मोक्षका उत्तम अधिकारी बना दिया, उन अवधूतशिरोमणि महामुनि शुकदेवजीके चरणोंमें मैं श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम करता हूँ।

जिन्होंने नैमिषारण्यकी पुण्यभूमिमें सूतके मुखसे महाभारत और अठारहों पुराण श्रवण किये, जो ऋषियोंके अग्रणी गिने जाते हैं,

जिन्होंने हजारों वर्षकी दीक्षा लेकर भारी-भारी यज्ञ-याग किये हैं उन महन्त-महन्त महर्षि शौनकजीकी चरणवन्दना करके मैं अपनेको कृतकृत्य बनाना चाहता हूँ।

जिन्होंने पिताका प्रिय करनेके निमित्त आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया, जो अपनी प्रतिज्ञापालनके निमित्त अपने गुरु परशुरामजीसे भी भिड़ गये, जिन्होंने पिताको प्रसन्न करके इच्छामृत्युका अमोघ वरदान प्राप्त किया, जिनकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके निमित्त साक्षात् भगवान्ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी, उन गंगाके पुत्र वसु-अवतार महात्मा भीष्मपितामहके आशीर्वादकी मैं इच्छा करता हूँ।

परम भागवत और परम वैष्णव दाल्भ्य ऋषिके चरणकमलोंमें मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है।

जिन्होंने एकादशीव्रतके माहात्म्यको सम्पूर्ण पृथ्वीपर स्थापित किया, जिनके धर्मके कारण स्वयं धर्मराज भी भयभीत होकर पितामहकी शरणमें गये और उन्हें धर्मच्युत करानेके निमित्त अद्वितीय रूप-लावण्य-युक्त 'मोहिनी' नामकी एक सुन्दरीको भेजा, जिन्होंने मोहिनीके आग्रह करनेपर अपने इकलौते प्यारे पुत्रका सिर देना तो मंजूर किया किन्तु एकादशीव्रत नहीं छोड़ा, उन राजर्षि रुक्माङ्गदके प्रति मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

जो भगवान्‌के परम अन्तरङ्ग सखा गिने जाते हैं, भगवान्‌की प्रेमपाती लेकर जो वृन्दावनकी गोपिकाओंको ज्ञानोपदेश करने गये थे और वहाँसे परम वैष्णव होकर लौटे थे, जो भगवान्‌के तिरोभाव होनेपर उनकी आज्ञासे नर-नारायणके क्षेत्रमें योगसमाहित हुए थे, उन परम भागवत उद्धवजीके चरणोंमें मेरा अधिकाधिक अनुराग हो।

जो अन्यायी भाईका पक्ष छोड़कर भगवान् रामचन्द्रजीके शरणा-

पन्न हुए और अन्तमें लंकाधिपति बने, उन श्रीरामचन्द्रजीके प्रियसखा अमर भक्त विभीषणको मैं नत होकर अभिवादन करता हूँ।

जिनका सारथ्य महाभारतके युद्धमें स्वयं भगवान्‌ने किया, जो इसी शरीरसे स्वर्गमें वास कर आये, जिन्होंने शंकरजीसे युद्ध करके उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त किया, जिन्होंने अकेले गाण्डीव धनुषसे अठारह अक्षौहिणीवाले महाभारतमें विजय प्राप्त कर ली। युद्धसे पराङ्‌मुख होनेपर जिन्हें भगवान्‌ने स्वयं गीताका उपदेश दिया, जो भगवान्‌के विहार, शय्या, आसन और भोजनोंमें सदा साथ-ही-साथ रहे, जिन्हें भगवान् बड़े प्रेमसे 'हे पार्थ! हे सखा! हे धनंजय!' ऐसे सुन्दर सम्बोधनोंसे सम्बोधित करते थे, वे नरावतार श्रीअर्जुनजी मेरे ऊपर कृपाकी दृष्टि करें।

बौद्धोंके नास्तिकवादको मिटाकर जिन्होंने निर्विशेष ब्रह्मका व्याख्यान किया। जिन्होंने जगत्‌के प्रपञ्चोंको मिथ्या बताकर एकमात्र ब्रह्मको ही साध्य बताया। अभेदवादको सिद्ध करते हुए भी जिन्होंने समुद्रकी तरंगोंकी भाँति अपनेको प्रभुका दास बताया, उन आचार्यप्रवर भगवान् शंकराचार्यके चरणोंमें मेरा शत-शत प्रणाम है।

जिन्होंने भक्तिमार्गको सर्वसाधारणके लिये सुलभ बना दिया, जो जीवोंके कल्याणके निमित्त स्वयं नरककी यातनाएँ सहनेके लिये तत्पर हो गये। जिन्होने गुरुके मना करनेपर भी सर्वसाधारणके लिये गोपनीय मन्त्र-का उपदेश किया, उन विशिष्टाद्वैतके प्रचारक विष्णु-भक्त भगवान् रामानुजाचार्यके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।

जिन्होंने लुप्त हुए विष्णुसम्प्रदायका उद्धार करके पुष्टिमार्गकी स्थापना की, जो गृहस्थमें रहते हुए भी महान् विरक्त और आसक्तिरहित बने रहे, जिन्होंने वात्सल्योपासनाकी मधुरताको दिखाकर अपनेको स्वयं गोपवंश-का प्रकट किया, जिन्होंने बालक श्रीकृष्णकी अर्चा-पूजाको ही प्रधानता

देते हुए सर्वतोभावेन आत्मसमर्पणको ही अन्तिम ध्येय बताया, उन शुद्धाद्वैतके प्रचारक बालकृष्णोपासक भगवान् वल्लभाचार्यके चरणोंमें मेरी प्रीति हो।

जिन्होंने श्रीराधाकृष्णकी उपासनाको ही सर्वस्व सिद्ध किया, जिन्होंने नीमके पेड़में अर्क (सूर्य) दिखाकर भूखे वैष्णवको भोजन कराया, उन द्वैताद्वैतमतके प्रवर्तक, मधुर भावके उपासक भगवान् निम्बार्काचार्यके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।

जिन्होंने वृन्दावनविहारीकी प्रीतिको ही एकमात्र साध्य माना है, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम करके स्वयं हिमालयपर जाकर वेदव्यासजीसे ज्ञान प्राप्त किया और वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य रचा, उन द्वैतमतके प्रवर्तक भगवान् मध्वाचार्य आनन्दतीर्थके पादपद्मोंमें मेरा बार-बार प्रणाम है।

जिन्होंने छूताछूत और जाति-पाँतिका कुछ भी विचार न करके सर्वसाधारणको भक्तिका उपदेश दिया, जिनकी कृपासे चमार, नाई, छीपी, मुसल्मान सभी जगत्पूज्य बन गये, जिन्होंने वैष्णव-समाजमें सीतारामकी सेवा-पूजाका प्रचार किया, उन आचार्यप्रवर श्रीरामानन्दस्वामीके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

इनके अतिरिक्त दूसरे देशोंके अन्य सम्प्रदायोंके प्रवर्तक ईसा, मूसा, मुहम्मद आदि जितने आचार्य हुए हैं उन सभीके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।

सम्पूर्ण पृथ्वीकी धूलिके कणोंकी गणना चाहे हो भी सके, आकाशके तारे चाहे गिने भी जा सकें, बहुत सम्भव है सम्पूर्ण जीवोंके रोमोंकी गणना की जा सके, किन्तु भक्तोंकी गणना किसी भी प्रकार नहीं हो सकती। सृष्टिके आदिसे अबतक असंख्य भक्त होते आये हैं। उन सबके केवल नामोंको ही गणेशजी-जैसे लेखक दिन-रात्रि निरन्तर लिखते रहें तो

महाप्रलयके अन्ततक भी नहीं लिख सकते। फिर मुझ-जैसे अल्पज्ञकी तो बात ही क्या है ? शिवजी, नारदजी, ब्रह्माजी, पाण्डव, सनत्कुमार इन भक्तोंसे लेकर सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन चारों युगोंमें १८ मन्वन्तरोंमें असंख्यों कल्पोंमें जितने भक्त हुए हैं, उन सभीके चरणोंमें मेरा प्रणाम है, जिन्होंने सत्ययुगमें कपिलरूपमें भगवान्का दर्शन किया है उन भगवन्-भक्तोंके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। जिन्होंने त्रेतामें रामरूपसे भगवान्का दर्शन किया है उन राम-भक्तोंके चरणोंकी मैं वन्दना करता हूँ। जिन्होंने व्यासरूपसे द्वापरमें भगवान्के दर्शन किये हैं उन भक्तोंके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। कल्किरूपसे जिन्होंने कलियुगमें भगवान्के दर्शन किये हैं और जो इस कलिके अन्तमें करेंगे उन सभी भक्तोंके पादपद्मोंमें मेरा कोटि कोटि नमस्कार है।

जिन्होंने वाराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, कुमार दत्तात्रेय, हयग्रीव, हंस, पृश्निगर्भ, ऋषभदेव, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, वेदव्यास, बलदेव, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि इन भगवान्के अवतारोंका दर्शन, स्पर्श और सहवास किया है, उन-उन अवतारोंके भक्तोंके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।

कलिकालमें पैदा हुए कबीरदास, नानकदेव, दादूदयाल, पलटूदास, चरनदास, रैदास, बुल्ला, जगजीवनदास, तुलसीदास, सूरदास, मलूकदास, रामदास, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि जितने भी महापुरुष भगवत्-भक्त हुए हैं उन सभीके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। भक्तोंमें कौन छोटा और कौन बड़ा, इसका निर्णय जो करता है, वह महामूर्ख है। शालिग्रामकी बटिया चाहे छोटी हो या बड़ी सभी एक-सी पूज्य हैं, इसलिये ये सभी भक्त एक ही भाँति पूज्य और मान्य हैं, इनके चरणोंमें प्रणाम करनेसे ही मनुष्य कल्याण-मार्गका पथिक बन सकता है।

इनके अतिरिक्त वर्तमान समयमें जो भगवान्‌के नामोंका संकीर्तन करते हैं, लिखकर प्रचार करते हैं या जो स्वयं दूसरोंसे कराते हैं उन सभी नाम-भक्तोंके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। जो भगवान्‌के गुणोंका श्रवण करते हैं, जो भगवन्नामका कीर्तन करते हैं, जो हर समय भगवत्-रूपका स्मरण करते हैं, जो भगवान्‌की पाद-सेवा करते हैं, जो भगवत्-विग्रहोंका अर्चन करते हैं, जो देवता, द्विज, गुरु, भगवत्-भक्तों और भगवत्-विग्रहोंको नमन करते हैं, जो भगवान्‌के प्रति सख्यभाव रखते हैं, जिन्होंने भगवान्‌को आत्मनिवेदन कर दिया है उन सभी भक्तोंके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है।

जो सम्प्रदायोंके अन्तर्भुक्त हैं, अथवा जो सम्प्रदायोंमें नहीं हैं, जो ज्ञाननिष्ठ हैं, जो देशभक्त हैं, जो जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करते हुए नाना भाँतिकी यातनाएँ सह रहे हैं, जिन्होंने देशकी सेवामें ही अपना जीवन अर्पण कर दिया है, जो किसी भी प्रकारसे जनताकी सेवा कर रहे हैं, उन सभी भक्तोंके चरणोंमें मेरा बार-बार प्रणाम है।

वर्तमानकालमें जितने भक्त हैं, जो हो चुके हैं अथवा जो आगे होंगे उन सभी भक्तोंके चरणोंकी मैं बार-बार वन्दना करता हूँ। भक्त ही भगवान्‌के साकाररूप हैं, भगवान्‌की शक्तिका विकास पूर्णरूपसे भक्तके ही शरीरमें होता है। भक्तोंका शरीर पार्थिव होते हुए भी चिन्मय है। ये साक्षात् भगवत्स्वरूप ही हैं। भक्तोंकी चरणवन्दना करनेसे ही सब प्रकारके विघ्न मिट जाते हैं—

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर्नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, मेटत विघ्न अनेक॥

व्यासोपदेश

व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे।
नमो वै ब्रह्मनिधये वासिष्ठाय नमो नमः॥*

(महाभारत)

संसारका यावत् ज्ञान है सभी व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है। भगवान् व्यास साक्षात् विष्णु हैं। बस, इतना ही अन्तर है कि इनके चारकी जगह दो ही भुजा हैं, ये अचतुर्मुख ब्रह्मा हैं और दो नेत्रवाले शिव हैं। चौबीस अवतारोंमें भगवान् व्यासदेवजी भी एक अवतार हैं, ये प्रत्येक द्वापरके अन्तमें प्रकट होकर लोककल्याणके निमित्त एक वेदको चार भागोंमें विभक्त करते हैं।

---

* व्यासरूप विष्णुको नमस्कार है, विष्णुरूप व्यासदेवको नमस्कार है, वेदोंके विभाग करनेवाले व्यास भगवान्‌को नमस्कार है तथा वसिष्ठगोत्रमें उत्पन्न हुए पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायनको नमस्कार है।

इस युगमें महर्षि पराशरके वीर्यसे तथा सत्यवतीके गर्भसे भगवान् व्यासदेवका जन्म हुआ है। इन्होंने एक वेदको चार भागोंमें विभक्त किया इसीलिये इन्हें वेदव्यास भी कहते हैं। जब देखा कि कलियुगके जीव इतनेपर भी ज्ञानसे वञ्चित रहेंगे तो इन्होंने सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके निमित्त महाभारतकी रचना की और अठारह पुराणोंका प्रचार किया। भगवान् व्यासकृत इन सभी ग्रन्थोंमें ऐसा कोई भी इहलौकिक तथा पारलौकिक विषय नहीं रहा है जिसका वर्णन भगवान् व्यासदेवने न किया हो। राजधर्म, नीति-धर्म, वृत्तिधर्म, वर्णाश्रमधर्म, मोक्षधर्म, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, शौच, सदाचार, गति, अगति, कर्तव्य, अकर्तव्य सभी विषयोंका वर्णन भगवान् व्यासदेवने किया है। संसारमें कोई भी ऐसी बात जिसका कोई कभी भी अनुभव कर सकता है, उसका सूत्ररूपसे वर्णन भगवान् व्यासदेव पहले ही कर चुके हैं। भगवान् व्यासदेवने बताया है कि कालकी गति अव्याहत और एकरस है। जो पैदा हुआ है, उसका कभी-न-कभी अन्त अवश्य ही होगा। दिन-रात्रि सबके लिये समानरूपसे आते-जाते हैं। बुद्धिमान् अपने समयका उपयोग काव्यशास्त्रोंके अध्ययन और मननमें करते हैं, जो मूर्ख हैं वे सोनेमें, खाने-पीने या दूसरोंकी निन्दा-स्तुतिमें अपने समयका दुरुपयोग करते हैं इसलिये व्यासदेवजी उपदेश करते हैं कि मूर्खोंकी भाँति समय बिताना ठीक नहीं है। *अपने समयका दुरुपयोग कभी भी मत करो,* उसका सदा सदुपयोग ही करते रहो। सदुपयोग कैसे हो? इसके लिये वे उपदेश करते हैं—

> इतिहासपुराणानि तथाख्यानानि यानि च।
> महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च॥

मनुष्योंको इतिहास, पुराण, दूसरी सुन्दर कहानियाँ और महात्माओं-के जीवन-चरित्र इनका नित्यप्रति श्रवण करना चाहिये।

छोटे-से-छोटे पुरुषार्थका तथा परम-से-परम पुरुषार्थका वर्णन है। शौच कैसे जाना चाहिये, शौचके अनन्तर कितनी बार बायें हाथको, कितनी बार दायें हाथको तथा दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये, कुल्ला कितनी बार करना चाहिये, दाँतुन कितनी अंगुलका हो इत्यादि छोटे-से-छोटे विषयोंसे लेकर मोक्षतकका वर्णन पुराणोंमें किया गया है। पुराण ही आर्यजातिके असली प्राण हैं। प्राणोंके बिना प्राणियोंका जीना सम्भव हो भी सकता है, किन्तु पुराणोंके बिना आर्य-जाति जीवित नहीं रह सकती। पुराणोंका श्रवण आदिकालसे होता आया है। इस सम्पूर्ण जगत्के उत्पन्नकर्ता भगवान् ब्रह्मदेवने ही ऋषियोंको पुराणोंका उपदेश किया। इसलिये पुराण सम्पूर्ण ज्ञानके भण्डार हैं। कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको पुराणोंका श्रवण नियमितरूपसे करना चाहिये।

आख्यान

महाभारत तथा पुराणोंमें असंख्यों आख्यान हैं। उन्हींके आधारपर सत्कवि सुन्दर-सुन्दर काव्योंकी रचना करते हैं। बीजरूपसे तो सभी आख्यान भारत तथा पुराणोंमें ही विद्यमान हैं। कोई भी, किसी जातिका कवि कभी भी ऐसे आख्यानकी कल्पना नहीं कर सकता जिसका बीज (प्लॉट) पुराणोंमें न हो। फिर भी जो कवि उनका विस्तार करते हैं, उन्हें मनोहर कवितामें लिखते हैं, उन ऐसे काव्योंका भी अध्ययन सदा करना चाहिये।

महात्माओंके चरित्र

जिस प्रकार गङ्गाजीका प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, उसी प्रकार इस पृथ्वीपर महापुरुषोंका भी जन्म सदा होता ही रहता है। यदि ऐसा न हो तो इस पृथ्वीपर धर्मका तो फिर लेश भी न रहे। धर्मके बिना यह संसार एक क्षण भी नहीं रह सकता। धर्मके ही आधारपर यह जगत् स्थित है। अब भी असंख्य सिद्ध महात्मा पहाड़ोंकी कन्दराओंमें जनसंसदिसे पृथक् रहकर योगसाधनद्वारा संसारका कल्याण कर रहे हैं।

अब आइये, इस बातपर थोड़ा विचार करें कि इन उपर्युक्त विषयोंके श्रवणसे क्या लाभ और इनमें यथार्थ वस्तु क्या है !

इतिहास

आर्यशास्त्रोंमें दो ही इतिहास या महाकाव्य माने गये हैं। एक तो भगवान् व्यासकृत महाभारत और दूसरा भगवान् वाल्मीकिकृत आदिकाव्य रामायण। इन दो ही महाग्रन्थोंमें सम्पूर्ण जगत्का इतिहास भरा पड़ा है। सभी रस, सभी विषय, जितनी भी कथाओंकी कल्पना हो सकती है वे सब इन दोनों ग्रन्थोंमें संक्षेप और विस्ताररूपसे वर्णन की गयी हैं। इन महाग्रन्थोंमें आर्यजातिके महापुरुषोंका ही इतिहास नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण जगत्का इतिहास भरा पड़ा है। जिस प्रकार गंगा, यमुना, समुद्र, पर्वत, ग्रह, नक्षत्र ये सृष्टिके अंग हैं उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी नित्य और सनातन हैं। जैसे पृथ्वीपर जन्म धारण करनेवाला इच्छासे अथवा अनिच्छासे बिना श्वास लिये रह नहीं सकता, उसी प्रकार सभ्य जातिके ज्ञानपिपासु पुरुष इन महाकाव्योंके ज्ञानोपार्जनके बिना रह ही नहीं सकते, फिर चाहे वे प्रत्यक्षरूपसे इन ग्रन्थोंका अध्ययन करें अथवा इनके आधारपर बनाये हुए अन्य भाषाके ग्रन्थोंसे। वे इस ज्ञानसे वञ्चित रह ही नहीं सकते, क्योंकि नित्य सनातन ज्ञान तो एक ही है और उसका व्याख्यान युगके अन्तमें व्यासरूपसे भगवान् ही कर सकते हैं। इसलिये भगवान् व्यासदेव प्रतिज्ञा करके कहते हैं—'जो मैंने महाभारतमें वर्णन किया है वही सर्वत्र है, जिसका यहाँ वर्णन नहीं हुआ, उसका कहीं वर्णन हो ही नहीं सकता।' हिन्दूजाति आदिकालसे इन प्राचीन आख्यानोंको सुनती आयी है। ये आख्यान अनादिकालसे ऐसे ही चले आये हैं और अन्ततक इसी तरह चले जायँगे, इसलिये इनका श्रवण सदा करते रहना चाहिये।

पुराण

पुराण अनादि है और असंख्य हैं, किन्तु भगवान् व्यासदेवने उन्हें अठारह भागोंमें संग्रह कर दिया है। इनमें

छोटे-से-छोटे पुरुषार्थका तथा परम-से-परम पुरुषार्थका वर्णन है। शौच कैसे जाना चाहिये, शौचके अनन्तर कितनी बार बायें हाथको, कितनी बार दायें हाथको तथा दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये; कुल्ला कितनी बार करना चाहिये; दाँतुन कितनी अंगुलका हो इत्यादि छोटे-से-छोटे विषयोंसे लेकर मोक्षतकका वर्णन पुराणोंमें किया गया है। पुराण ही आर्यजातिके असली प्राण हैं। प्राणोंके बिना प्राणियोंका जीना सम्भव हो भी सकता है, किन्तु पुराणोंके बिना आर्य-जाति जीवित नहीं रह सकती। पुराणोंका श्रवण आदिकालसे होता आया है। इस सम्पूर्ण जगत्के उत्पन्नकर्ता भगवान् ब्रह्मदेवने ही ऋषियोंको पुराणोंका उपदेश किया। इसलिये पुराण सम्पूर्ण ज्ञानके भण्डार हैं। कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको पुराणों-का श्रवण नियमितरूपसे करना चाहिये।

आख्यान

महाभारत तथा पुराणोंमें असंख्यों आख्यान हैं। उन्हींके आधारपर सत्कवि सुन्दर-सुन्दर काव्योंकी रचना करते हैं। बीजरूपसे तो सभी आख्यान भारत तथा पुराणोंमें ही विद्यमान हैं। कोई भी, किसी जातिका कवि कभी भी ऐसे आख्यानकी कल्पना नहीं कर सकता जिसका बीज (प्लॉट) पुराणोंमें न हो। फिर भी जो कवि उनका विस्तार करते हैं, उन्हें मनोहर कवितामें लिखते हैं, उन ऐसे काव्योंका भी अध्ययन सदा करना चाहिये।

महात्माओंके चरित्र

जिस प्रकार गङ्गाजीका प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, उसी प्रकार इस पृथ्वीपर महापुरुषोंका भी जन्म सदा होता ही रहता है। यदि ऐसा न हो तो इस पृथ्वीपर धर्मका तो फिर लेश भी न रहे। धर्मके बिना यह संसार एक क्षण भी नहीं रह सकता। धर्मके ही आधारपर यह जगत् स्थित है। अब भी असंख्य सिद्ध महात्मा पहाड़ोंकी कन्दराओंमें जनसंसदिसे पृथक् रहकर योगसाधनद्वारा संसारका कल्याण कर रहे हैं।

अनेकों सिद्ध पुरुष भेष बदले पृथ्वीपर पर्यटन कर रहे हैं, लोग उन्हें पहिचानते नहीं, किन्तु उनकी सभी चेष्टाएँ लोककल्याणके ही निमित्त होती हैं। वे अपनेको अपनी शक्तिद्वारा प्रकट नहीं होने देते, अप्रकटरूपसे लोक-कल्याण करनेमें ही उन्हें आनन्द आता है। किसी भाग्यवान् पुरुषको ऐसे महापुरुषोंका साक्षात् दर्शन हो जाय, यह दूसरी बात है। नहीं तो वे छद्म-वेषमें ही घूमा करते हैं।

कुछ नित्यजीव या मुक्तजीव लोक-कल्याणके निमित्त भौतिक शरीर भी धारण करते हैं और लोगोंको जन्म लेते तथा मरते हुए-से भी प्रतीत होते हैं। वास्तवमें तो वे जन्म-मृत्युसे रहित होते हैं, केवल लोक-कल्याणके ही निमित्त उनका प्रादुर्भाव होता है और जब वे अपना काम कर चुकते हैं तब तिरोहित हो जाते हैं। उनके कार्य गुप्त नहीं होते। वे अधिकारियोंको उपदेश करते हैं, शिक्षार्थियोंको शिक्षा देते हैं और स्वयं आचरण करके लोगोंमें नवजीवनका सञ्चार करते हैं, उनका जीवन अलौकिक होता है, उनके कार्य अचिन्त्य होते हैं। क्षुद्रबुद्धिके पुरुष उन्हें भी साधारण जीव समझकर उनके कार्योंकी समालोचना करते हैं, इससे उनके काममें बहुत सहायता मिलती है, वे इसी बहाने लोगोंके सामने आदर्श उपस्थित करते हैं, कि ऐसी स्थितिमें कैसा व्यवहार करना चाहिये। उनका यह व्यवहार अन्य लोगोंके लिये प्रमाणीभूत बन जाता है। इस प्रकार वे संसारी लोगोंकी निन्दा-स्तुतिके बीचमें रहते हुए भी अपने जीवनको आदर्श जीवन बनाकर लोगोंके उत्साहको बढ़ाते हैं, ऐसे महापुरुष सदासे उत्पन्न होते आये हैं, अब भी हैं और आगे भी होंगे। किसीके जीवनका प्रभाव व्यापक होता है, उनके आचरणोंके द्वारा अधिक लोगोंका कल्याण होता है और किसीके जीवनका प्रभाव अल्प होता है, उनसे थोड़े ही पुरुष लाभ उठा सकते हैं। इस प्रकार सब जातियोंमें सब कालमें किसी-न-किसी रूपमें महात्मा उत्पन्न होते ही रहते हैं। बहुत-से

ऐसे महापुरुष होते हैं जिनकी टक्करका शताब्दियोंतक कोई महापुरुष व्यक्तरूपसे प्रकट नहीं होता है। किन्तु इसका निर्णय होता है अपने-अपने भावोंके अनुसार भिन्न-भिन्न रीतिसे। इस बातको आजतक न तो किसीने पूर्णरूपसे निर्णय किया है और न आगे भी कोई कर सकेगा कि अमुक महापुरुष किस कोटिके हैं और इनके बाद इनकी कोटिका कोई महापुरुष उत्पन्न हुआ या नहीं। इसलिये शालिग्रामकी बटियाके समान हमारे लिये तो सभी महात्मा पूजनीय तथा वन्दनीय हैं। संसारमें असंख्य सम्प्रदाय विद्यमान हैं और उन सबका सम्बन्ध किसी-न-किसी महापुरुषसे है और उन सभी सम्प्रदायोंके अनुयायी उन्हें ईश्वर या ईश्वरतुल्य मानते और कहते हैं। हमें उनकी मान्यताके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहना है। एक महापुरुषको ही सर्वस्व माननेवाले पुरुषोंको प्रायः देखा गया है, कि वे अपनेसे भिन्न सम्प्रदायवाले महापुरुषकी उपेक्षा करते हैं और बहुतसे तो निन्दा भी करते हैं। हम ऐसा नहीं कर सकते। हमारे लिये तो सभी महापुरुष–जिनका वास्तवमें किसी भी सम्प्रदायसे सम्बन्ध नहीं है, किन्तु तो भी लोग उन्हें अपने सम्प्रदायका आचार्य या आदिपुरुष मानते हैं, समानरूपसे पूजनीय और वन्दनीय हैं। इसलिये हम अपने प्रेमी पाठकोंसे यही प्रार्थना करते हैं, कि जिनका सम्बन्ध परमार्थसे है ऐसे सभी महात्माओंके चरित्रोंका श्रद्धाके साथ श्रवण करना चाहिये। महात्माओं-का चरित्र जीवनको महान् बनाता है, हमें कर्तव्य और सहिष्णुता सिखाता है तथा हमें अपने असली लक्ष्यतक पहुँचाता है इसलिये यथार्थ उन्नति-का एकमात्र साधन महात्माओंके चरित्रोंका श्रवण तथा सत्पुरुषोंका सत्सङ्ग ही सर्वत्र बताया गया है।

इस युगके महापुरुषोंमें महाप्रभु चैतन्यदेवका स्थान सर्वोच्च कहा जाता है। वे भक्तिके मूर्तिमान् अवतार थे, प्रेमकी सजीव मूर्ति थे। उनके जीवनमें परम वैराग्य, महान् त्याग, अलौकिक प्रेम, अभूतपूर्व उत्कण्ठा

और भगवान्के लिये विलक्षण छटपटाहट थी। उनका अवतार संसारके कल्याणके ही निमित्त हुआ था। उन महापुरुषके जीवनसे अबतक असंख्य जीवोंका कल्याण हुआ है और आगे भी होगा। ऐसे महापुरुषका जीवन कल्याणकी इच्छा रखनेवाले जीवोंके लिये निर्भ्रान्त पथ-प्रदर्शक बन सकता है। चैतन्य-चरित्र अगाध है और दुर्ज्ञेय है। साधारण जीवोंकी समझमें न तो वह आ ही सकता है, न दुष्कृति पुरुष उसे श्रवण ही कर सकते हैं। सौभाग्यसे ऐसे चरित्रोंके श्रवणका सुयोग मिलता है, सुनकर उसे यथावत् समझनेवाले तो विरले ही पुरुष होते हैं, जिनके ऊपर उनकी कृपा होती है वे ही समझ सकते हैं। फिर उन चरित्रोंका कथन करना तो बहुत ही कठिन काम है।

मुझमें न भक्ति है, न बुद्धि। शास्त्रोंका ज्ञान भी यथावत् नहीं। चैतन्यके दुर्ज्ञेय चरित्रको भला मैं क्या समझ सकता हूँ? किन्तु जितना भी कुछ समझ सका हूँ, उसका ही जैसा बन सकेगा, कथन करूँगा। मुझे पूर्ण आशा है कि कल्याण-मार्गके पथिकोंको मेरी इस टूटी-फूटी भाषासे अपने साधनमें बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी, क्योंकि चैतन्य-चरित्र इतना मधुर है कि वह चाहे कैसी भी भाषामें लिखा जाय, उसकी माधुरी कम नहीं होनेकी।

श्रीश्रीचैतन्य

ॐ श्रीहरिः

चैतन्य-कालीन भारत

भ्रातः कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत् ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः॥*

महाप्रभु चैतन्यदेवका प्रादुर्भाव विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीके मध्य-भागमें हुआ और वे लगभग आधी शताब्दीतक इस धराधामपर विराजमान रहकर भावुक भक्तोंको निरामय श्रीकृष्ण-प्रेम पीयूषका पान कराते

---

* पहिले यहाँ कैसी सुन्दर नगरी थी, उसका राजा कैसा महान् था और उसका राज्य कितनी दूरतक फैला हुआ था। उसकी सभा कैसी सुन्दर थी और उसके यहाँ चन्द्रमुखी स्त्रियाँ कैसी शोभायमान होती थीं, उन राजपुत्रोंका समूह कैसा प्रबल था और वे बन्दीगण कैसी-कैसी सुमधुर कमनीय कथा कहा करते थे। अब वे सभी बातें केवल सुननेके ही लिये शेष रह गयीं, जिस कालके वश होकर ये सब लुप्त हो गये, उस कालके लिये नमस्कार है।

रहे। उस समयके और आजके भारतकी तुलना कीजिये। आकाश-पाताल-का अन्तर हो गया, राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक सभी प्रकारकी स्थितियोंमें घोर परिवर्तन हो गया। न जाने इस्लाम-धर्मका वह दौर-दौरा कहाँ चला गया, मुसल्मान बादशाहोंके ऐश-आरामकी वे बातें इतिहासके निर्जीव पृष्ठोंपर ही लिखी रह गयीं। हिन्दुओंकी वह आचार-विचारकी दृढ़ता, स्वधर्मके प्रति कट्टरता न जाने कहाँ विलुप्त हो गयी। उस समय लाखों सती स्त्रियाँ अपने पतियोंके मृतक शरीरोंके साथ हँसते-हँसते जीवित ही जल जाती थीं, इसे बीसवीं शताब्दीका महिला-मण्डल कब स्वीकार करने लगा। न जाने एक रुपयेके आठ मन चावलोंकी बात किसीने वैसे ही लिख दी थी, क्या इसका अनुमान इस युगके मनुष्य कठिनतासे कर सकेंगे। भक्तोंका वह आदर्श प्रेम, कृष्ण-भक्ति-की वह निष्कपटता, सेवा-पूजामें उतनी श्रद्धा और रति इन बीसवीं शताब्दीके साम्प्रदायिक पक्षपातसे पूर्ण हृदयवाले भक्तोंमें कब देखनेमें आ सकती है। वे बातें तो समयके साथ ही विलुप्त हो गयीं। वह असली प्रेम तो उन महापुरुषोंके साथ ही चला गया, अब तो साँपकी लकीर शेष रह गयी है, उसे चाहे जैसे पीटते रहो। साँप तो निकल गया। वह तो उसी समयकी रागिनी थी। महाकवि भवभूतिने ठीक ही कहा है—

समय एक करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम्॥

अर्थात् समय ही अच्छा और बुरा बनानेमें कारण है। मयूरोंका स्वर वर्षामें ही भला मालूम पड़ता है और हंसोंका शरद् ऋतुमें ही। सचमुच समयकी गति बड़ी ही विलक्षण है।

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवका प्राकट्य जिस कालमें हुआ, वह समय बड़ा ही विलक्षण था, उस युगको महान् क्रान्ति-युग कह सकते हैं। उस

समय सम्पूर्ण भारतवर्षमें चारों ओर राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सभी प्रकारकी घोर क्रान्ति मची हुई थी। उस समयतक प्रायः ऐसी मान्यता थी, कि जो दिल्लीके सिंहासनपर विराजमान है, वही सम्पूर्ण भारतका सर्वश्रेष्ठ नरपति है। दिल्लीका सिंहासन ही भारतवर्षको दिग्विजय करनेका मुख्य चिह्न था। उस समय दिल्लीके सिंहासनपर लोदी-वंशका अधिकार था, किन्तु उस वंशके बादशाहोंमें अब वीरता—पराक्रम बिल्कुल नहीं रहा था, लोदी-वंश अपनी अन्तिम साँसोंको जैसे-तैसे कष्टके साथ पूर्ण कर रहा था, अफगान-सरदार लोदी-वंशका अन्त करनेपर तुले हुए थे, इसलिये उन्होंने काबुलके बादशाह बाबरको दिल्लीके सिंहासनके लिये निमन्त्रित किया। बाबर-जैसा राज्यलोलुप बादशाह ऐसे स्वर्ण-समयको हाथसे कब खोनेवाला था। पंजाबका शासक दौलत खाँ उसका पृष्ठ-पोषक था, ईसवी सन् १५२६ में बाबरने भारतवर्षपर चढ़ाई की और पानीपतके इतिहास-प्रसिद्ध रणक्षेत्रमें इब्राहीम लोदीको परास्त करके वह स्वयं दिल्लीका बादशाह बन बैठा और उसके पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ दिल्लीके तख्तपर बैठा। इधर राजपूतानेमें राणा सांगाने हिन्दूधर्मकी दुहाई देकर बाबरके विरुद्ध बलवा आरम्भ किया। दोनोंमें घोर युद्ध हुआ, किन्तु मैदान बाबरके ही हाथ रहा, राणा सांगा परास्त होकर भाग गये। पंजाबमें भी छोटी-मोटी पचासों रियासतें बन गयीं। उनमेंके पहाड़ी राजा तो प्रायः सभी अपनेको स्वतन्त्र ही समझते थे। पहाड़ोंमें छोटी-छोटी बीसों स्वतन्त्र रियासतें थीं।

इधर दक्षिणमें विजयनगरका अन्त हो चुका था। बहमनी वंशका अन्त होते ही अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा, बीदर और बरार ये पाँच रियासतें एकदम अलग हो गयीं। बंगाल, बिहार, तिरहुत तथा उड़ीसामें भी छोटी-छोटी बहुत-सी मुसलमानी तथा हिन्दुओंकी नयी रियासतें बन गयीं। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतवर्षमें पूर्वसे पश्चिमतक और

उत्तरसे दक्षिणतक एक भारी राजक्रान्ति मची हुई थी। सैकड़ों छोटे-छोटे राज्य परस्परमें एक दूसरेसे लड़ते-भिड़ते रहते थे। सभी एक दूसरेको नीचा दिखानेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करते। कभी तो किसी मुसल्मानी रियासतको दबानेके लिये मुसलमानोंमेंसे दूसरे वंशके सरदार किसी पराक्रमी हिन्दू-राजाकी सहायतासे उसपर चढ़ाई कर देते और कभी किसी हिन्दू-राज्यको नष्ट करनेके निमित्त दो मुसलमान-सरदार मिलकर उसपर धावा बोल देते। सम्पूर्ण भारतमें कोई एकछत्र शासक नहीं था। वह राज्य-परिवर्तनका समय था, जिसमें भी बलपराक्रम हुआ, जिसके भी अधीन बलवान् सेना हुई, वही उस प्रान्तका शासक बन बैठा और दिल्लीके बादशाहने भी उसे उसी समय शासक स्वीकार कर लिया। ऐसी तो उस समय राजनैतिक परिस्थिति थी।

अब सामाजिक परिस्थितिपर भी थोड़ा विचार कीजिये। मुसल्मानको यहाँ आये सैकड़ों वर्ष हो चुके थे, फिर भी हिन्दू अपनी कट्टरतापर ही तुले हुए थे, वे अबतक मुसल्मानोंके साथ किसी भी प्रकारका संसर्ग नहीं करते थे। जिसका तनिक भी मुसल्मानोंसे संसर्ग हो जाता, जो भूलकर भी कभी मुसल्मानोंके हाथकी कोई वस्तु खा लेता, वह एकदम समाजसे बहिष्कृत कर दिया जाता, फिर उसके उद्धारका समाजके पास कोई उपाय ही नहीं था। संस्कृत-विद्याका आदर था, पण्डितोंकी व्यवस्थाकी मान्यता थी, समाजमें उस व्यवस्थाके विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठा सकता। ब्राह्मणोंका फिर भी बहुत अधिक प्रभाव था, उच्च वर्णवाले नीच वर्णवालोंके साथ अत्याचार भी कम नहीं करते थे, इसलिये नीच समझे जानेवाले करोड़ों मनुष्य हिन्दू-धर्मको अन्तिम तिलाञ्जलि दे-देकर इस्लाम-धर्मकी शरणमें जा रहे थे। बङ्गालमें इसका प्रचार और प्रभाव अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा अत्यधिक था। इस प्रकार हिन्दू-समाज और प्राचीन वर्णाश्रमधर्म चारों ओरसे छिन्न-भिन्न हो रहा था।

धार्मिक स्थिति तो उस समयकी महान् ही जटिल थी। लोगोंमें यज्ञ-यागादिकोंके प्रति जो शंकराचार्यके पश्चात् कुछ-कुछ रुचि हुई थी, वह तान्त्रिक और शाक्त-पद्धतियोंके प्रचारके कारण फिरसे लुप्त होती जा रही थी। वैदिक कर्मोंके प्रति मनुष्य उदासीन बनते जा रहे थे। दिन-रात 'जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है,' इन वाक्योंको सुनते-सुनते लोग उकता-से गये थे। वे मस्तिकी विद्यासे ऊबकर कुछ हृदयके आहारकी तलाशमें थे। सतियोंमें भी वह पति-प्रेम नहीं रहा।। लोकप्रथाको स्थिर रखनेके निमित्त कहीं-कहीं तो अनिच्छापूर्वक जबरदस्ती विधवा स्त्रीको उसके पतिके साथ जला देते थे। निम्न श्रेणीके पुरुष भगवत्-प्राप्तिके अनधिकारी समझे जाते, उन्हें किसी भी प्रकारके धार्मिक कृत्योंके करनेका अधिकार प्राप्त नहीं था। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत एक नूतन धार्मिक पद्धतिका इच्छुक था। लोग नीरस पद्धतियोंसे ऊबकर सरस पद्धति चाहते थे, ऐसे समयमें भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें बहुत-से महापुरुष एक साथ ही उत्पन्न हुए। उन सभीने अपने-अपने प्रान्तोंमें वैष्णव-धर्मका प्रचार किया। इसलिये हम इस युगको वैष्णव-युग कह सकते हैं।

सबसे पहिले काशीमें श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराज हुए। वैरागी-सम्प्रदायके ये ही आदि आचार्य समझे जाते हैं। इन्होंने भगवत्-भक्तिमें जाति-पाँतिका बन्धन मेट दिया। इन्होंने सभी जातियोंको समानरूपसे भगवत्-भक्ति करनेका अधिकार प्रदान किया। इनका सूत्र था—'हरिको भजै सो हरिका होय, जाति पाँति पूछै ना कोय।' इनके बाद इनके बारह मुख्य शिष्य हुए, जिनमें चमार, जुलाहे, छीपी, नाई आदि सभी अधिकांशमें छोटी ही जातिके थे। इन सबमें महात्मा कबीर बहुत ही प्रसिद्ध और परम उच्च स्थितिके महापुरुष हुए। इनके उच्च तत्त्वोंका सम्पूर्ण भारतवर्षके ऊपर समानभावसे प्रभाव पड़ा। ये महापुरुष परम ज्ञानी, आदर्श भक्त, अद्वितीय अनुरागी और सबसे बड़े निर्भीक थे। इस हेतुसे प्रायः उच्च

जातिके लोग डाहके कारण इनके द्वेषी बन गये। महात्मा रैदास, नामदेवजी आदि परमभक्त भी उसी कालमें उत्पन्न हुए। इन सभीने रूपान्तर-भेदसे वैष्णव-धर्मका ही प्रचार किया। कबीर-पन्थ वैष्णव-धर्मका ही विकृत और रूपान्तरमात्र है।

इधर उसी समय पंजाबमें श्रीगुरु नानकदेवजी भी हुए, ये कबीर-दासजीके समकालीन ही थे, इन्होंने भी सम्पूर्ण भारतवर्षमें बारह वर्षोंतक भ्रमण तथा तीर्थयात्रा करके पंजाबके करतारपुरमें ही आकर रहने लगे। इनके उपदेशोंका लोगोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता था। इसलिये लाखों मनुष्य इनके उपदेशोंको सुन-सुन इनके शिष्य अथवा 'सिक्ख' बन गये, आगे चलकर गुरु गोविन्दसिंहजीने इन्हीं सबका एक 'सिक्खसंघ' ही बना लिया।

इनके बड़े पुत्र श्रीचन्दजी भी एक बड़े त्यागी तेजस्वी और प्रभावशाली महापुरुष थे, उन्होंने विरक्तोंको ही उपदेश दिया। इसलिये उनके अनुयायी अपनेको 'उदासी' कहने लगे। उदासी एक प्रकारके संन्यासी ही होते हैं, असलमें तो यह भी वैष्णव-धर्मका ही रूपान्तर है, केवल ये लोग शिखा-सूत्र नहीं रखते। वैसे उदासी-सम्प्रदायमें भगवत्-भक्ति ही मुख्य समझी जाती थी। अब तो उदासी-सम्प्रदाय भी विचित्र ही बन गया है।

इधर दक्षिणमें महात्मा समर्थ गुरु रामदासजीने भी रामभक्तिका प्रचार किया। उनके प्रधान शिष्य छत्रपति महाराज शिवाजी केवल राज्यलोलुप लड़ाकू शूरवीर ही नहीं थे, वे परम भागवत वैष्णव थे, उनके युद्धका प्रधान उद्देश्य होता था हिन्दू-धर्म-रक्षण और गो-ब्राह्मणोंका प्रतिपालन। इनके द्वारा महाराष्ट्रमें भजन-कीर्तन और भगवत्-भक्तिका खूब प्रचार हुआ।

महाराष्ट्रके प्रसिद्ध सन्त श्रीतुकारामजी महाराज भी इसी समय उत्पन्न हुए और उन्होंने अपनी अद्भुत भगवत्-भक्तिके द्वारा सम्पूर्ण महाराष्ट्र देशको पावन कर दिया। ये विट्ठलनाथजीके प्रेममें विभोर होकर स्वयं पद गा-गाकर नृत्य करते और स्वयं पदोंकी भी रचना करते थे। इनके भक्तिभावसे प्रसन्न होकर साक्षात् विट्ठलनाथजीने इन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वे सदा इनके साथ ही रहते थे। ये सशरीर वैकुण्ठको चले गये। इनके द्वारा मराठी भाषाका और सम्पूर्ण महाराष्ट्र देशका बड़ा कल्याण हुआ।

इधर काशीमें भगवान् श्रीवल्लभाचार्यजी भी उस समय विराजमान थे। काशी छोड़कर उन्होंने व्रजमण्डलकी परम प्रसिद्ध पुण्यनगरी गोकुल-पुरीमें अपना निवास-स्थान बनाया। शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायके यही प्रधान आचार्य माने जाते हैं, ये श्रीबालकृष्णके उपासक थे। इनके द्वारा देशके विभिन्न स्थानोंमें श्रीकृष्ण-भक्तिका खूब ही प्रचार हुआ। इनके शिष्य अधिकांश धनी ही पुरुष थे। गुजरात, काठियावाड़की ओर इनके सम्प्रदायका अत्यधिक प्रचार हुआ। इनके सात पुत्र थे, उन सभीने वैष्णव-धर्मका खूब प्रचार किया।

इसी समय बङ्गालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुका प्राकट्य हुआ। चैतन्य-के पूर्व बङ्गालकी क्या दशा थी और चैतन्यदेवके द्वारा उसमें किस प्रकार परिवर्तन हुआ, इन सभी बातोंका परिचय पाठकोंको अगले अध्यायोंमें लग जायगा।

चैतन्य-कालीन बंगाल

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः ॥*

श्रीमद्भागवतमें कीकट देशकी परिभाषा की है, कि जहाँ काला हिरन स्वेच्छासे विहार न करता हो, जहाँ ब्राह्मणोंकी भक्ति न होती हो और जहाँ शुचि, पवित्र सज्जन और विद्वान् पुरुष निवास न करते हों, वे ही देश अपवित्र हैं। एक स्थानपर कीकट देशोंके नाम भी गिनाये हैं। यथा—

---

* भगवान् कहते हैं, जिन स्थानोंमें प्रशान्त और समदर्शी मेरे भक्त निवास करते हैं वे देश चाहे अपवित्र ही क्यों न हों, उनकी चाहे कीकट संज्ञा ही क्यों न हो, किन्तु उनके यहाँ उत्पन्न होने और निवास करनेसे वे देश परम पवित्र बन जाते हैं।

अङ्गवङ्ग-कलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च ।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ॥

अर्थात् 'अङ्गदेश, वङ्गदेश, कलिङ्गदेश, सौराष्ट्र और मगधदेश यदि इनमें तीर्थयात्रा विना चला भी जाय तो उसे फिरसे संस्कार करना चाहिये ।' पूर्वकालमें ऐसी मान्यता थी, कि वङ्गदेशमें प्रवेश करते ही ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है । महाभारतमें स्थान-स्थानपर इसका उल्लेख आया है । यहाँतक कि तीर्थयात्राके समय पाण्डवके साथ जो ब्राह्मण थे, वे वङ्गदेशकी सरहद आते ही उनके साथसे लौट गये । तीर्थयात्राके निमित्त भी उन्होंने वङ्गदेशमें जाना उचित नहीं समझा । इसमें असली रहस्य क्या है, इसे तो सर्वज्ञ ऋषि ही समझ सकते हैं, किन्तु आजकल तो कोई इस प्रकारका आग्रह करने लगे तो उसे पागल-खानेमें भेजनेके लिये सभी लोग सहमत हो जायँगे । जहाँपर ऐसे देशोंमें न जानेके सम्बन्धमें वाक्य मिलते हैं, वहाँ ऐसे भी अनेकों प्रमाण भरे पड़े हैं कि भगवत्-भक्तकी लीलास्थली कोटि तीर्थोंसे भी बढ़कर पावन बन जाती है । जिस भूमिको महाप्रभु गौराङ्गदेव, परमहंस रामकृष्णदेव, विजयकृष्ण गोस्वामी तथा जगद्बन्धु ऐसे भगवत्-भक्तोंने अपनी पद-धूलिसे पावन बनाया हो, जिसमें राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर तथा ब्रह्मानन्द, केशवचन्द्र-जैसे भगवत्-भक्त, समाज-सुधारक उत्पन्न हुए हों, जिस भूमिने देशबन्धु चित्तरञ्जन दास-जैसे देशभक्तको जन्म दिया हो, आज भी जिसमें अरविन्द-जैसे योगी, रवीन्द्र-जैसे विश्व-कवि, जगदीशचन्द्र वसु-जैसे जगत्-विख्यात विज्ञान-वेत्ता और सुभाष-चन्द्र-जैसे अनन्य देशभक्त सम्पूर्ण भारतका मुख उज्ज्वल कर रहे हों, उस देशको हम अब कीकट-देश कैसे कह सकते हैं ? जब होगा, तब रहा होगा, आज तो वही देश परम पावन बना हुआ है, चैतन्यदेवकी लीला-भूमिके लिये भावुक भक्तोंके हृदयमें व्रजभूमिसे कम आदर नहीं

है। नवद्वीप तो भक्तोंके लिये पूर्व वृन्दावन ही बना हुआ है। जहाँ श्रीकृष्णचैतन्य-जैसे परम भावुक और साक्षात् प्रेमकी सजीव मूर्ति प्रेमावतार महापुरुषका प्राकट्य हुआ हो, उसका महत्त्व वृन्दावनके सदृश होना ही चाहिये।

बङ्गाल भाव-प्रधान देश है। बङ्गाली प्रायः हृदय-प्रधान होते हैं, उन्हें ललित-कलाओंसे बहुत अनुराग है, वे प्रकृतिप्रिय हैं। उनका हृदय प्रकृतिके साथ मिला हुआ है। प्रकृतिमें होनेवाले परिवर्तनोंका उनके हृदय-पटलपर गहरा प्रभाव पड़ता है, वे भावुक होते हैं, इसका प्रमाण उनके रहन-सहनमें, खान-पान तथा उत्सव-पर्वोंमें प्रत्यक्ष मिलता है। बँगला-भाषाका अधिकांश साहित्य भावुकता-प्रधान ही है, उनमें उपन्यास नाटक, ललितकाव्य आदि विषयोंका ही प्राधान्य है। कुछ विशेष श्रेणीके पुरुषोंको छोड़कर सर्वसाधारण लोग निष्काम कर्मोंसे एकदम अनभिज्ञ हैं। वे इस बातको प्रायः समझ ही नहीं सकते कि बिना कामनाके भी कर्म हो सकता है। वहाँ जितना भी पूजा-पाठ और धार्मिक कृत्य होता है सभी सकाम भावनासे किया जाता है। संन्यास-धर्मका प्रचार बङ्ग-देशमें बहुत ही कम है। अब तो वहाँ कुछ-कुछ संन्यास-धर्मका प्रचार होने लगा है, नहीं तो पहिले इसका प्रचार नहींके ही बराबर था। अब भी बङ्गालमें मधुकरी-भिक्षाकी परिपाटी नहीं है। बना-बनाया अन्न वहाँ भिक्षामें कठिनतासे मिल सकेगा। अधिकांश बङ्गाली संन्यासी इधर उत्तर-भारतकी ही ओर आकर रहने लगते हैं। अब भी उत्तर-भारतमें बहुत-से सुयोग त्यागी और विरक्त बङ्गाली महात्मा निवास कर रहे हैं।

बङ्ग-देश शक्ति-उपासक है। शक्तिकी उपासना बिना रजोगुणके हो नहीं सकती। कुछ शाक्त-भक्त सात्त्विक-पद्धतिसे फल-फूलोंका ही बलिदान देकर शक्ति-उपासना करते हैं, किन्तु ऐसे भक्तोंकी संख्या उँगलियोंपर ही

गिनी जा सकती है, अधिकांश तो गरम-गरम रक्तद्वारा ही कालीमाईको प्रसन्न करनेवाले भक्त हैं। प्रतिवर्ष दोनों नवरात्रोंमें करोड़ों जीवोंका संहार देवीके नामसे किया जाता होगा। भारतवर्षभरमें बङ्गाल-प्रान्तमें ही खूब धूमधामसे नवरात्र मनाया जाता है, जिनमें लाखों बकरे कालीमाईके ऊपर चढ़ाये जाते हैं। बङ्गालियोंमें निरामिषभोजी भी बहुत ही कम मिलेंगे। यदि बहुत-से मांस न भी खाते होंगे, तो मछलीके बिना तो वे रह ही नहीं सकते। मछलीके मांसको वे मांसमें गणना नहीं करते। यहाँतक कि बहुतसे वैष्णव भी मांस न खाते हुए भी मछलीका सेवन करते हैं। केवल विधवा स्त्रियोंको एकादशीके दिन मछली खाना मना है। या कोई-कोई वैष्णव या ऊँची श्रेणीके भट्टाचार्य बचे हुए हैं, नहीं तो मछलीके बिना बङ्गाली रह ही नहीं सकते। जिस बङ्गालीको स्नानके पूर्व शरीरमें मलनेको तेल नहीं मिला, और भोजनके समय मछली नहीं मिली उसका जीवन व्यर्थ ही समझा जाता है, वह अपने समाजमें या तो अत्यन्त ही दीन-हीन होगा या कोई परम योगी। सर्वसाधारण लोगोंके लिये ये दोनों वस्तुएँ अत्यन्त ही आवश्यक समझी जाती हैं।

जिस समयकी हम बातें कह रहे हैं, उस समय बङ्गालकी बड़ी ही बुरी दशा थी। देशभरमें, मुसलमानोंका आतङ्क छाया हुआ था, मनुष्य धर्म-कर्मसे हीन होकर नाना प्रकारके पाखण्ड-धर्मोंका आश्रय किये हुए थे। वाम-मार्गका सर्वत्र प्रचार था। स्थान-स्थानपर घोर तान्त्रिक-पद्धतियोंका अनुष्ठान होता हुआ दृष्टि-गोचर होता था। मांस, मदिरा, मैथुन आदि पाँच वाम-मार्गियोंके मकारोंका सर्वत्र बोल-बाला था। शाक्त-धर्मका भी प्राबल्य था। बकरे-भैंसेका बलिदान तो साधारण-सी बात समझी जाती थी, कहीं-कहीं मनुष्योंतकको बलि दे दी जाती थी। (अब भी साल-दो-सालमें एक-आध ऐसी घटना सुननेमें आ जाती है।) ब्राह्मणलोग अपने हाथोंमें खड्ग लेकर बलिदान करते। वैष्णव-धर्मकी लोग खिल्लियाँ उड़ाते थे,

वाद-विवाद करते रहना ही विद्याका मुख्य प्रयोजन समझा जाता। भक्ति करना मूर्खों और अनपढ़ोंका काम समझा जाता। इतना सब होनेपर भी छूआछूत और छोटे-बड़ेपनका भूत सबके सिरपर सवार था। यदि कहीं किसी छोटी जातिवालेने उच्च-जातिके पवित्र पुरुषको छू लिया तो उसका धर्म ही भ्रष्ट हो गया। किसी विधवाने मुसल्मानसे बात भी कर ली तो वह पतित हो गयी। समाजके वह किसी भी कामकी नहीं रही। इन सभी कारणोंसे मुसल्मानोंकी संख्या बढ़ने लगी। नीची जातिके समझे जानेवाले पुरुष हिन्दू-धर्मकी छत्र-छायाको छोड़कर नवीन इस्लाम-धर्मकी शरणमें आने लगे। इसीके परिणामस्वरूप तो आज बङ्गाल-प्रान्तमें हिन्दुओंकी अपेक्षा मुसल्मानोंकी ही संख्या अधिक है। सम्भवतः ५२-५३ फीसदी मुसल्मान हैं।

बङ्गालमें ब्राह्मण, वैद्य और कायस्थ ये ही तीन जाति शिक्षित और कुलीन समझी जाती थीं। जिनमें कायस्थोंको तो ब्राह्मण लोग शूद्र ही बताते थे। उस समय कायस्थोंमें विद्याका खूब प्रचार था। राजकाजोंमें उनकी बुद्धि भी तीक्ष्ण थी। वे आचार-विचारमें भी हिन्दूओंकी कुछ परवा नहीं करते थे। वे मुसल्मानोंके नामसे ही ब्राह्मणोंकी भाँति दूर नहीं भागते थे। उनका खानपान, आचार-व्यवहार मुसल्मानोंसे मिल जाता था। इसलिये बङ्गालमें अधिकांश जमींदार, ताल्लुकेदार और राजा कायस्थ ही थे। राजशक्ति और शासनशक्ति हाथमें होनेके कारण बहुतसे विद्वान् ब्राह्मण भी उनके दरबारमें रहते थे। मुखसे चाहे उन्हें शूद्र भले ही कहें, किन्तु उनके साथ ब्राह्मणोंका सभी बर्ताव क्षत्रियराजाओंका-सा ही था। उन्हें शास्त्रोंका अध्ययन कराते, उनका दान-प्रतिग्रह ग्रहण करते, उनसे श्राद्ध, यज्ञ-यागादि कार्य भी ब्राह्मण लोग कराते ही थे। इस प्रकार क्षात्र धर्म उस समय बङ्गालमें कायस्थोंमें ही था। कायस्थोंमें संस्कृतके बड़े-बड़े ऊँचे विद्वान् उस समय मौजूद थे। बहुतसे कायस्थ जमींदारोंके तो नाम भी

मुसल्मानोंकी ही तरह होते थे। जैसे बुद्धिमन्त खाँ, रामचन्द्र खाँ आदि-आदि।

महाप्रभु गौराङ्गके प्रादुर्भावके समय गौड़-देशके शासक सुबुद्धि खाँ या सुबुद्धि राय थे। उनके यहाँ हुसेन खाँ नामक बड़ा ही आत्माभिमानी और कुशाग्रबुद्धि भृत्य था। एक बार कोई काम बिगड़ जानेपर राजाने उसकी पीठपर क्रोधमें चाबुक मार दिया। इससे वह आत्माभिमानी भृत्य जल उठा और उसने मन-ही-मन राजाको राज्यच्युत करनेकी कठोर प्रतिज्ञा की। बुद्धिमान् तो वह था ही, बड़े-बड़े अधिकारी राजासे मन-ही-मन द्वेष करते थे, उसने सभीको साम, दान, दण्ड और भेद आदि नीतियोंका आश्रय लेकर राजाको कैद कर लिया और आप स्वयं गौड़-देशका राजा बन बैठा। सुबुद्धि राय जब हुसेन खाँके बन्दी थे तब उसकी स्त्रीने उसे सलाह दी कि इसे जानसे मार दो, किन्तु हुसेन खाँ इतनी नीच प्रकृतिका मनुष्य नहीं था, उसने कहा—'चाहे इसने मेरे साथ कैसा भी बर्ताव किया हो, आखिर तो यह मेरा स्वामी रहा है और मैंने इसका नमक खाया है, मैं इसकी जान नहीं लूँगा।' यह कहकर उसने राजाको छोड़ दिया। किन्तु उसने अपने जूँठे मिट्टीके बर्तनका पानी जबरदस्ती इनके मुँहमें डाल दिया।

राज्यच्युत और धर्मभ्रष्ट हुए सुबुद्धि रायने गौड़-देशके पण्डितोंसे इस पापके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था चाही। धर्मके मर्मको भलीभाँति जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंने बहुत ही बढ़िया व्यवस्था बतायी। उन्होंने कहा—'इस पापका प्रायश्चित्त प्राणत्यागके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं। सो भी प्राणोंका त्याग या तो गरम घृत पान करके किया जाय, या धानके तुषारोंमें धीरे-धीरे सुलगाकर शरीर जलाया जाय।'*

---

* पता नहीं उस समयकी क्या परिस्थिति थी, वैसे स्मृतियोंमें तो अन्त्यज अथवा म्लेच्छके बर्तनका जल पी लेनेपर घी, दूध, दधि तथा उपवास

जन्मसे राजसुखोंको भोगनेके आदी और ऐश-आराममें पले हुए सुबुद्धि रायकी बुद्धिने इस व्यवस्थाको स्वीकार नहीं किया, वे कोई और हल्की व्यवस्था लेनेके निमित्त वाराणसीके पण्डितोंके पास गये। काशीके पण्डित भी कोई घाट थोड़े ही थे, शास्त्रोंका अध्ययन तो उन्होंने भी किया था, उन्होंने भी उसी व्यवस्थाको बहाल रखा। प्राण त्यागनेमें असमर्थ सुबुद्धि खाँ इधर-उधर भटकते हुए अपने जीवनको बिताने लगे। कालान्तरमें जब महाप्रभु वाराणसी पधारे तब ये उनका नाम सुनकर उनके शरणापन्न हुए और अपनी सम्पूर्ण कथा कह सुनायी। सब कुछ सुनकर प्रभुने आज्ञा दी—'अनिच्छापूर्वक प्राणोंके त्यागसे कोई लाभ नहीं। वृन्दावन वास करके अहर्निश कृष्ण-स्मरण करो और भक्त-महात्माओंकी सेवा-पूजा करो। भगवन्नामसे ही करोड़ों जन्मोंके पाप क्षय हो जाते हैं, एक जन्मकी तो बात ही क्या?' प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके ये वृन्दावनमें जाकर रहने लगे। कहते हैं—वे जंगलोंमें जाकर सूखी लकड़ियाँ ले आते। वे तीन या चार पैसे जितनेमें भी बिक जातीं उन्हें बेचकर एक पैसेके चने खाकर तो स्वयं निर्वाह करते थे, शेष पैसोंको एक दूकानदारके यहाँ जमा कर देते थे। उन बचे हुए पैसोंका तेल खरीदकर बङ्गाली गरीब यात्रियों तथा भक्तोंको स्नानके पूर्व लगानेके लिये देते थे। धन्य है, भक्ति हो तो ऐसी हो। इस प्रकार महात्मा सुबुद्धि रायजीने अपने पानी पीनेके पापका ही प्रायश्चित्त नहीं किया, जन्म-जन्मान्तरोंके पापोंका प्रायश्चित्त कर डाला।

करके कई प्रकारके प्रायश्चित्त बताये हैं। इसके लिये जलकर प्राण त्याग देना तो कहीं मिलता नहीं। हाँ, द्विजोंको शराब पी लेनेपर तो जरूर प्राणत्यागका विधान कहीं-कहीं पाया जाता है। कायस्थ क्षत्र-बन्धु तो अवश्य ही हैं। सम्भव है उन्होंने शराब ही पी ली हो या सदा पीते रहे हों, इसी कारण पण्डितोंने ऐसी व्यवस्था दी हो। जो भी कुछ हो इस व्यवस्थामें कोई आन्तरिक रहस्य जरूर रहा होगा।

हुसेन खाँने राजगद्दीपर बैठते ही अपना शासन जमानेके लिये स्थान-स्थानपर अपने काजियोंको नियुक्त किया। बहुत-से लोगोंको इलाकोंका ठेका दिया। वे एक प्रकारसे पट्टेदार जमींदार ही समझे जाते थे, लोगोंसे लगान वसूल करके नियमित रकम तो बादशाहको दे देते, शेष जो बचती उसे अपने पास रख लेते। इस प्रकार नवद्वीपमें बुद्धिमन्त खाँ, हरिपुरग्राममें गोवर्धनदास मजूमदार, कुलीनग्राममें मालाधर तथा खेतूरग्राममें कृष्णानन्द-दत्त आदि इन कायस्थ जमींदारोंको भी ठेके दिये गये। अधिकांशमें ठेकेदार मुसलमान अथवा कायस्थ ही होते थे। नवद्वीपमें चाँद खाँ नामके एक काजीकी नियुक्ति की गयी और जगन्नाथ तथा माधव (जगाई-मधाई) नामके क्रूरकर्मा दो ब्राह्मण भाइयोंको वहाँका कोतवाल बनाया गया। नवद्वीपके बेलपोखरिया नामक मोहल्लेमें चाँद खाँकी कचहरी थी। उस समय काजी मुंसिफ या जजका काम करते थे, वे हिन्दू-मुसल्मानोंके झगड़ोंका फैसला करते थे, इसी प्रकारका एक मुलुक नामका काजी शान्तिपुरके समीप गङ्गाजीकी धाराके पास रहता था।

नवद्वीप उस समय बङ्गालभरमें विद्याका सर्वश्रेष्ठ केन्द्र समझा जाता था। उसमें संस्कृत विद्याकी पचासों पाठशालाएँ थीं, जो टोलके नामसे विख्यात थीं। दूर-दूरसे विद्यार्थी आ-आकर नवद्वीपमें विभिन्न शास्त्रोंका अध्ययन करते और नवद्वीपके नामको देशव्यापी बनाते। उस समय संस्कृतके प्रधान केन्द्र नवद्वीपने बहुत-से लोकप्रसिद्ध पण्डितोंको उत्पन्न किया। मिथिलासे न्यायके ग्रन्थको कण्ठस्थ करके उसका बङ्गाल और उड़ीसामें प्रचार करनेवाले वासुदेव सार्वभौम उन दिनों नवद्वीपमें ही पढ़ाते थे। उस समयके विद्वानोंमें नैयायिक रामचन्द्र, सार्वभौम, विद्यावागीश, महेश्वर विशारद, नीलाम्बर चक्रवर्ती, अद्वैताचार्य गङ्गादास आदिका नाम विशेष उल्लेखनीय है। सार्वभौमके विद्यार्थियोंमें रघुनाथदास, भवानन्द, रघुनन्दन, कृष्णानन्द तथा मुरारी गुप्त आदि लोकप्रसिद्ध और भारी विद्वान् हुए।

इस प्रकार उस समय नवद्वीप बङ्गालभरमें विद्याका एक प्रधान स्थान समझा जाता था । सैकड़ों विद्यार्थी एक साथ ही गङ्गाजीके घाटोंपर स्नान करते और परस्परमें शास्त्रचर्चा करते बड़े ही भले मालूम पड़ते थे । चारों ओर पण्डितोंकी ही चहल-पहल रहती । कहीं न्यायकी फक्किकाएँ चल रही हैं तो कहीं व्याकरणकी पंक्तियाँ पूछी जा रही हैं । सभ्य और धनी-मानी पुरुषोंमें भी संस्कृतविद्याका आदर था । वे संस्कृतविद्याको आजकी भाँति हेय नहीं समझते थे । इसी कारण अध्यापक तथा विद्यार्थियोंको भोजन-वस्त्रोंकी कमी नहीं रहती । धनी पुरुष उनके खाने-पहिननेका स्वयं ही श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रबन्ध कर देते । ऐसी ही घोर क्रान्तिके समयमें इस विद्या-व्यासंगिनी पुरीमें महाप्रभु चैतन्यदेवका जन्म हुआ । उन्होंने अपनी भक्ति-भागीरथीकी बाढ़में सभी पण्डितोंके नास्तिकवादको एक साथ ही बहा दिया । उनके भक्ति-भावके ही कारण नवद्वीप भावुक भक्तोंका अड्डा और भक्तिका केन्द्र बन गया ।

वंश-परिचय

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।*

सचमुचमें माता होना तो उसीका सार्थक कहा जा सकता है, जिसके गर्भसे भगवत्-भक्त पुत्रका जन्म हुआ हो । जन्म और मृत्यु ही जिसका स्वरूप है ऐसे इस परिवर्तनशील संसारमें गर्भ धारण तो प्रायः सभी योनिकी माताएँ करती हैं, किन्तु सार्थक गर्भ उसीका कहा जा सकता है, जिसके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रके ऊपर हरि-भक्तोंकी मण्डलीमें हर्ष-ध्वनि होने लगे । जिसके दर्शनमात्रसे भक्तोंके शरीरोंमें स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च और स्वरभङ्ग आदि सात्त्विक भावोंका उदय आप-से-आप होने लगे । अथवा जिसके ऊपर विद्वान् अथवा शूर-वीरोंकी सभामें सभी

* वह कुल परम पावन है, वह जननी धन्य है और वह [illegible] है, जहाँपर भगवत्-भक्त महापुरुष उत्पन्न हुआ हो ।

लोगोंकी समान-भावसे उसीके ऊपर दृष्टि पड़े । परस्परमें लोग उसीके सम्बन्धमें काना-फूँसी करें, असलमें वही पुत्र कहलानेके योग्य है और उसे गर्भमें धारण करनेवाली माता ही सची माता है । वैसे तो शूकरी अथवा कूकरी भी सालमें दस-दस, बीस-बीस बच्चे पैदा करती हैं, किन्तु उनका गर्भ धारण करना केवलमात्र अपनी वासनाओंकी पूर्तिका विकार-मात्र ही है । इसी भावको लेकर कोई कवि बड़ी ही मार्मिक भाषामें माता-को उपदेश करता हुआ कहता है—

जननी जने तो भक्त जनि, या दाता या शूर ।
नाहिं तो जननी बाँझ रह, क्यों खोवे है नूर ॥

भाग्यवती शची माताने ही यथार्थमें माता-शब्दको सार्थक बनाया, जिसके गर्भसे विश्वरूप और श्रीकृष्णचैतन्य-जैसे दो पुत्ररत्न उत्पन्न हुए । श्रीकृष्णचैतन्य अथवा महाप्रभुको पैदा करके तो वे जगन्माता ही बन गयीं । गौराङ्ग-जैसे महापुरुषको जिन्होंने गर्भमें धारण किया हो उन्हें जगन्माताका प्रसिद्ध पद प्राप्त होना ही चाहिये ।

महाप्रभु गौराङ्गदेवके पूर्वज श्रीहट्ट (सिलहट) निवासी थे । यह नगर आसामप्रान्तमें है और बंगालसे सटा ही हुआ है, वर्तमान कालमें यह आसामप्रान्तका एक सुप्रसिद्ध जिला है । इसी श्रीहट्ट-नगरमें भारद्वाजवंशीय परम धार्मिक और विद्वान् उपेन्द्र मिश्र नामके एक तेजस्वी और कुलीन ब्राह्मण निवास करते थे । धर्मनिष्ठ और स्वकर्मपरायण होनेके कारण उपेन्द्र मिश्रके घर खाने-पीनेकी कमी नहीं थी । उनकी गुज़र साधारणतया भलीभाँति हो जाती थी । उन भाग्यशाली ब्राह्मणके सात पुत्र थे । उनके नाम कंसारि, परमानन्द, पद्मनाभ, सर्वेश्वर, जगन्नाथ, जनार्दन और त्रैलोक्यनाथ थे । इनमेंसे पण्डित जगन्नाथ मिश्रको ही गौराङ्गके पूज्य पिता होनेका जग-दुर्लभ सुयश प्राप्त हो सका ।

पण्डित जगन्नाथ मिश्र अपने पिताकी अनुमतिसे संस्कृतविद्या पढ़नेके लिये सिलहटसे नवद्वीपमें आये और पण्डित गंगादासजीकी पाठशालामें अध्ययन करने लगे। इनकी बुद्धि कुशाग्र थी, पढ़ने-लिखनेमें ये तेज थे इसलिये अल्पकालमें ही इन्होंने काव्यशास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन करके पाठशालासे 'पुरन्दर' की पदवी प्राप्त कर ली। इनके रूप-लावण्य तथा विद्या-बुद्धिसे प्रसन्न होकर नवद्वीपके प्रसिद्ध पण्डित श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीने अपनी ज्येष्ठा कन्या शची देवीका इनके साथ विवाह कर दिया।

पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्ती भी नवद्वीपनिवासी नहीं थे। इनका आदिस्थान फरीदपुरके जिलेमें मगडोबा नामक एक छोटे-से ग्राममें था। ये भी विद्याध्ययनके निमित्त नवद्वीप आये थे और पढ़-लिखकर फिर यहीं रह गये। इनका घर 'बेलपुकुरिया' में काजीपाड़ाके समीप था। इनके यज्ञेश्वर और हिरण्य दो पुत्र और दो कन्याएँ थीं। छोटी कन्याका विवाह श्रीचन्द्रशेखर आचार्यरत्नके साथ हुआ था और बड़ी कन्या जगन्माता शची देवीका पण्डित जगन्नाथ मिश्रके साथ।

रूपवती और कुलवती पत्नीको पाकर पुरन्दर महाशय परम सन्तुष्ट हुए और फिर सिलहट न जाकर वहीं मायापुरमें घर बनाकर रहने लगे। मायापुरमें और भी बहुत-से सिलहटनिवासी ब्राह्मण रहते थे। पण्डित जगन्नाथ मिश्र भी वहीं रहने लगे। मायापुर नवद्वीपका ही एक मुहल्ला है।

आजकल जो नगर नवद्वीपके नामसे प्रसिद्ध है, वह तो उस समय 'कुलिया' नामका ग्राम था। पुराना नवद्वीप तो कुलियाके सामने गङ्गाजीके उस पार पूर्व किनारेपर अवस्थित था, जो आजकल बामनपूकर नामसे

पुकारा जाता है। कहा जाता है कि प्राचीन नवद्वीपकी परिधि १६ कोसकी थी, उसमें अन्तःद्वीप, सीमन्तद्वीप, गोद्रुमद्वीप, मध्यद्वीप, कोलद्वीप, ऋतुद्वीप, जन्हूद्वीप, मोदद्रुमद्वीप और रुद्रद्वीप ये ९ द्वीप थे। इन नवोंको मिलाकर ही नवद्वीप कहते थे। मायापुर जहाँपर पण्डित जगन्नाथ मिश्र रहते थे, वह मध्यद्वीपके अन्तर्गत था, अब उस स्थानका पता भी नहीं है कि कहाँ गया। भगवती भागीरथीके गर्भमें ये सभी प्राचीन स्थान विलीन हो गये, केवल महाप्रभुकी कीर्तिके साथ उनके नाममात्र ही शेष रह गये हैं।

पण्डित जगन्नाथ मिश्र अपनी सर्वगुणसम्पन्ना पत्नीके साथ सुखपूर्वक नवद्वीपमें रहने लगे। शची देवीके गर्भसे एक-एक करके ८ कन्याओंका जन्म हुआ और वे अकालमें ही कालकवलित बन गयीं। इससे मिश्र-दम्पतीका गार्हस्थ्य-जीवन कुछ चिन्तामय और दुःखमय बना हुआ था। गृहस्थीके लिये सन्तानहीन होना जितना कष्टप्रद है, उससे भी अधिक कष्टप्रद सन्तान होकर उसका जीवित न रहना है, किन्तु इस धर्मप्राण दम्पतीका यह दुःख और अधिक कालतक न रह सका। थोड़े ही दिनों-के अनन्तर शची देवीके गर्भसे एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम मिश्रजीने विश्वरूप रखा। विश्वरूप सचमुचमें ही विश्वरूप थे। माता-पिता-को इस अद्वितीय रूप-लावण्ययुक्त पुत्रको पाकर परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। चन्द्रमाकी कलाओंके समान विश्वरूप धीरे-धीरे बड़े होने लगे। इस प्रकार विश्वरूपकी अवस्था नव-दस वर्षकी हुई होगी कि तभी माघ-मासमें शची देवीके फिर गर्भ रहा। बस, इसी गर्भसे महाप्रभु चैतन्यदेवका प्रादुर्भाव हुआ।

प्रादुर्भाव

कालाद्वष्टं भक्तियोगं निजं यः
प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे
गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥*

श्रीमद्भागवत तथा गीतामें भगवान्‌ने बार-बार श्रीमुखसे जोर देकर कहा है कि मेरे पानेका एकमात्र उपाय भक्ति ही है। मैं योगसे, ज्ञानसे, जपसे, तपसे, समाधिसे तथा यज्ञ-यागादि अन्य वैदिक कर्मोंसे इतना तुष्ट नहीं होता जितना कि भक्तिसे प्रसन्न होता हूँ, केवल अनन्य भक्तिके ही द्वारा मेरा यथार्थ ज्ञान होता है कि मैं कैसा हूँ और मेरा प्रभाव कितना है। जिस भक्तिकी इतनी महिमा है, वह भक्ति जिसके हृदयमें हो उस भाग्यवान् भक्तके महत्त्वका वर्णन भला कौन कर सकता है। वास्तवमें भगवान् और भक्त नाममात्रके ही लिये दो हैं, भक्त भगवान्‌के साकार विग्रहका ही नाम है। भगवान् स्वयं ही कहते हैं—'मैं तो भक्तोंके अधीन हूँ, कोई मेरा अपराध कर दे तो उसे तो मैं क्षमा कर भी सकता हूँ, किन्तु भक्तद्रोहीके अपराधको मैं क्षमा करनेमें असमर्थ हूँ।' भगवान् भक्तोंकी महिमाको बतलाते हैं कि मैं भक्तोंके पीछे-पीछे सदा इसलिये घूमा करता हूँ कि उनके चरणोंकी धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय तो मैं पावन हो जाऊँ। यहाँतक नहीं, भगवान् स्वयं भक्तोंका भजन करते हैं।

---

* कालके प्रभावसे लुप्त हुए अपने भक्तियोगको प्रकट करनेके निमित्त जो 'कृष्णचैतन्यके रूपमें आविर्भूत हुए हैं', रे चञ्चरीक चित्त! उन्हीं चैतन्य भगवान्‌के चरणोंमें निरन्तररूपसे गुञ्जार करता रह। अर्थात् इन चरणोंका परित्याग करके कहीं अन्यत्र मत जा।

भगवान् हस्तिनापुरमें ही विराजमान थे। महाराज युधिष्ठिर प्रायः हर समय ही उनके पास रहते थे, उन्हें भगवान्के बिना चैन ही नहीं पड़ता था। एक दिन रात्रिके बारह बजे महाराज भगवान्के स्थानपर पहुँचे। उस समय भगवान् समाधिमें बैठे हुए थे। धर्मराज बहुत देरतक हाथ जोड़े खड़े रहे। कुछ कालके अनन्तर भगवान्की समाधि भङ्ग हुई। सामने धर्मराजको खड़े देखकर उन्होंने उनका स्वागत किया और असमयमें आनेका कारण पूछा।

धर्मराजने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'भगवन्! और बातें तो मैं फिर पूछूँगा, इस समय जो मुझे बड़ा भारी संशय हुआ है, उसका उत्तर पहिले दीजिये। आप चराचर जगत्के एकमात्र स्वामी हैं, सम्पूर्ण प्राणियोंके आप ही भजनीय हैं। ऋषि, महर्षि, देव, दानव, देवता तथा मनुष्य सभी आपका ध्यान करते हैं, इस समय आपको समाधिमें बैठा देखकर मुझे महान् कुतूहल उत्पन्न हुआ है, कि आप किसका ध्यान करते होंगे?'

धर्मराजके प्रश्नको सुनकर भगवान् हँसे और मन्द-मन्द मुस्कानके साथ बोले—'धर्मराज! यह ठीक है कि सम्पूर्ण जगत्का एकमात्र मैं ही भजनीय हूँ, किन्तु मेरे भी भजनीय भक्त हैं, मैं सदा भक्तोंका ध्यान किया करता हूँ।'

यह सुनकर धर्मराजने पूछा—'अच्छा, इस समय आप किसका ध्यान कर रहे थे?'

भगवान्ने गद्गद-कण्ठसे कहा—'जिन्होंने सर्वस्व त्यागकर केवल मेरेमें ही अपने मनको लगा रखा है, जो एक-दो दिनसे नहीं कई महीनोंसे बाणोंकी शय्यापर बिना खाये-पीये पड़े हुए हैं, सम्पूर्ण शरीर तीरोंसे भिदा होनेपर भी जो मत्परायण ही बने हुए हैं उन्हीं भक्तराज भीष्मपितामहका मैं इस समय ध्यान कर रहा था।'

भगवान्‌की इस भक्तवत्सलताकी बात सुनकर भक्तिकी सर्वश्रेष्ठताके सम्बन्धमें किसे संशय रह सकता है ? भगवान् ही इस जगत्‌के एकमात्र आश्रय हैं, उनकी भक्ति उनकी कृपाके बिना प्राप्त ही नहीं हो सकती। ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके वे ही एकमात्र प्रवर्तक हैं। जब कर्मकी शिथिलता देखते हैं तब आप नरपति-विशेषके रूपमें उत्पन्न होकर कर्मका प्रचार करते हैं, जब ज्ञानका लोप देखते हैं तब मुनि-विशेषके रूपमें प्रकट होकर ज्ञानका प्रचार करते हैं और जब भक्तिको नष्ट होते देखते हैं तब भक्त-विशेषका रूप धारण करके भक्तिकी महिमा बढ़ाते हैं। उन्हें स्वयं कुछ भी कर्तव्य नहीं होता, क्योंकि स्वयं परिपूर्ण स्वरूप हैं। लोककल्याणके निमित्त वे स्वयं आचरण करके लोगोंको शिक्षा देते हैं।

भगवान्‌के लिये कोई बात 'सहसा' या 'अकस्मात्' नहीं। जिस प्रकार नाटकका एक अभिनय देखनेके अनन्तर हम प्रतीक्षा करते रहते हैं, कि देखें अब क्या हो। इतनेमें ही रङ्ग-मञ्चपर सहसा दूसरे नये पात्रोंको देखकर हम चकित हो जाते हैं; किन्तु नाटकके व्यवस्थापकके लिये इसमें सहसा या अकस्मात् कुछ भी नहीं। उसे आदिसे अन्ततक सम्पूर्ण नाटकका पता है कि इसके बाद कौन-सा पात्र क्या अभिनय करेगा। इसी प्रकार इस जगत्‌के रङ्ग-मञ्चपर भगवान् जो नाटक खिला रहे हैं, उसका उन्हें रत्ती-रत्तीभर पता है। उनके लिये भविष्यके गर्भमें कोई बात छिपी नहीं है। भविष्यका परदा तो हम अज्ञानियोंके नेत्रोंपर पड़ा हुआ है। हम किसी घटनाको देखकर ही उसे नयी और सहसा उत्पन्न हुई बताने लगते हैं, यही हमारी अपूर्णता है। कार्यको देखकर कारणके सम्बन्धमें सोचते हैं, किन्तु दिव्य दृष्टिवाले कारणको पहिले ही समझ जाते हैं इसलिये उन्हें किसी भी घटनासे कोई आश्चर्य नहीं होता।

शाके १४०७ (सं० १५४२ विक्रमी) के फाल्गुणकी पूर्णिमाका शुभ दिवस है। सम्पूर्ण भारतवर्षमें प्रसन्नता छायी हुई है। रामकृष्णके

माननेवाले सभी हिन्दूओंके घरोंमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सुन्दर-सुन्दर पकान्न बनाये गये हैं। सबोंने अपने-अपने घरोंको लीप-पोतकर स्वच्छ और सुन्दर बनाया है। बहुत पहिले—सत्ययुगमें—आजके दिन भक्तराज प्रह्लादने अग्निमें प्रवेश करके भक्तिकी विशुद्धता, पवित्रता और निर्मलता दिखायी थी। भगवत्-भक्तिके कारण उनके पिताकी भगिनी होली—जो इन्हे गोदमें लेकर अग्निमें बैठी थी—स्वयं जल गयी किन्तु इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसी कारण भक्तोंमें अत्यन्त ही आह्लाद उत्पन्न हुआ और तभीसे आजतक यह दिन परम पवित्र समझा जाता है। आज-के दिन जीवनमे नवजीवनका सञ्चार होता है। वर्षभरकी सभी बातें भुला दी जाती हैं, सालभरके वैर, द्वेष तथा अशुभ कर्मोंको होलीकी ज्वालामें स्वाहा कर दिया जाता है। आजके दिन शत्रु-मित्रका कुछ भी विचार न करके सबको गलेसे लगाते हैं। इतने दिनोंसे होली होती तो थी, किन्तु यथार्थ होली तो आज ही है। तभी तो भक्तोंके हृदयोंमें कोई एक अज्ञात आनन्द हिलोरें मार रहा है।

पं० जगन्नाथ मिश्र अपने घरके एक कोनेमें बैठे हुए हैं। मिश्रजीके पास सांसारिक धन नहीं है, फिर भी ब्राह्मणोंका जो धन है, जिसके कारण ब्राह्मणोंको तपोधन कहा जाता है, उस धनका अभाव नहीं है। मिश्रजीका घर छोटा-सा है, किन्तु है खूब साफ-सुथरा। सम्पूर्ण स्थान गौके गोबरसे लिपा है, आँगनमें तुलसीका सुन्दर बिरवा लगा हुआ है। एक ओर एक गौ बँधी है। ब्राह्मणीने ताँबेके तथा पीतलके बर्तनोंको खूब माँजकर एक ओर रख दिया है। धूप लगनेसे वे चमक उठते हैं। मिश्रजी भोजन करके पुस्तकको पढ़ने लगे हैं।

तीसरे पहरके बाद शची देवीको कुछ प्रसव-वेदना-सी प्रतीत हुई। घरमे दूसरी कोई स्त्री थी नहीं। सास तथा देवरानी, जेठानी सभी श्रीहट्ट

(सिलहट) में थीं। यहाँ तो शचीदेवीका पितृगृह था, इसलिये पं० चन्द्रशेखर (आचार्य-रत्न) की पत्नी अपनी छोटी बहिनको इन्होंने बुला लिया। धीरे-धीरे वेदना बढ़ने लगी और साथ ही भक्तोंके अज्ञात आनन्दकी भी वृद्धि होने लगी। भगवान् मरीचिमाली अस्ताचलको प्रस्थान कर गये, किन्तु तो भी पूर्णिमाके चन्द्र उदय नहीं हुए। कारण कि वे चैतन्य-चन्द्रके उदय होनेकी प्रतीक्षामें थे। इसी समय राहुने सुअवसर पाकर चन्द्रमाको ग्रस लिया।

ग्रहणका स्नान करनेके निमित्त नवद्वीपके सभी घाटोंपर स्त्री-पुरुषोंकी भारी भीड़ थी। असंख्यों नर-नारी उस पुण्य अवसरपर स्नान करनेके निमित्त एकत्रित हुए थे। सभीके कण्ठोंसे राम, कृष्ण, हरिकी मधुर ध्वनि निकल रही थी। जो कभी भी भगवान्का नाम नहीं लेते थे, वे भी उस दिन प्रेममें उन्मत्त होकर कृष्ण-कीर्तन कर रहे थे। हिन्दुओंको चिढ़ानेके व्याजसे मुसलमान भी हरि बोल हरि बोल कहकर हिन्दुओंका साथ दे रहे थे। इसी महान् आनन्दके समयमें नामावतार श्रीगौराङ्गदेवका प्रादुर्भाव हुआ।

शचीदेवीकी भगिनीने यह शुभ समाचार मिश्रजीको सुनाया। मिश्रजी-की प्रसन्नताका तो कुछ ठिकाना ही न रहा। वे तो पहिलेसे ही अत्यधिक आनन्दित थे, किन्तु अब तो उनके आनन्दकी सीमा ही न रही। क्षणभरमें बिजलीकी तरह यह समाचार मुहल्लेभरमें फैल गया। स्त्री-पुरुष जिसने भी सुना वही मिश्रजीके घर दौड़ा आया। श्रीअद्वैताचार्यकी धर्म-पत्नी, श्रीवासजीकी स्त्री आदि शचीदेवीकी जितनी अन्तरङ्ग सहेलियाँ थीं वे उपहार ले-लेकर बच्चेको देखनेके लिये आ गयीं।

विश्वरूपके द्वारा समाचार पाकर शचीदेवीके पिता नीलाम्बर चक्रवर्ती भी आ उपस्थित हुए। वे तो प्रसिद्ध ज्योतिषी ही थे, उसी समय उन्होंने

गणना करके लग्न निकाली और जन्म-कुण्डली बनाकर ग्रहोंके फल देखने लगे। इतने शुभ ग्रहोंको देखकर वे आनन्दसे गद्गद हो उठे और मिश्रजी-से बोले—यह बालक कोई महान् पुरुष होगा। इसके द्वारा असंख्यों जीवोंका कल्याण होगा। इसके राजग्रह स्पष्ट बता रहे हैं कि यह असाधारण महापुरुष होगा।

इस प्रकार ग्रहोंका फल सुनकर मिश्रजीके आनन्दकी और भी अधिक वृद्धि हुई। उस समय उन्हें अपनी निर्धनतापर कुछ खेद हुआ। उनका हृदय कह रहा था कि 'इस समय यदि मेरे पास कुछ होता तो इसी समय सर्वस्व दान कर डालता।' फिर भी अपनी शक्तिके अनुसार उन्होंने अन्न-वस्त्रका दान अभ्यागत तथा ब्राह्मणोंके लिये दिया। इस प्रकार वह रात्रि आनन्द तथा उत्साहमें ही व्यतीत हुई।

दूसरे दिन धूलेंड़ी थी। उस दिन सभी परस्परमें मिलकर धूलि-कीच तथा अबीर-गुलाल और रंगसे होली खेलते हैं। बस, उसी दिन कट्टर-से-कट्टर पण्डित भी स्पर्शास्पर्शका भेद नहीं मानते। सभी परस्परमें मिलते हैं। उस दिन भक्तोंमें महान् आनन्द रहा। एक दूसरेपर उत्साहके साथ रंग-गुलाल तथा दधि-हल्दी डाल रहे थे। मानो आज नन्दोत्सव मनाया जा रहा हो। भक्तोंने अनुभव किया कि आकाशमें देवता उनकी प्रसन्नता-में अपनी प्रसन्नता मिलाकर जयघोष कर रहे हैं और भक्तोंको अभयदान देते हुए आदेश कर रहे हैं कि अब भयकी कोई बात नहीं, तुम्हारे दुर्दिन अब चले गये। अब नवद्वीपमें ही नहीं सम्पूर्ण देशमें भक्ति-भागीरथीकी एक ऐसी मनोरम बाढ़ आवेगी कि जिसके द्वारा सभी जीव पावन बन जायँगे और चारों ओर 'हरि बोल, हरि बोल' यही सुमधुर ध्वनि सुनायी पड़ेगी।

निमाई

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥*

(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २)

पं० जगन्नाथ मिश्र और श्रीशचीदेवीकी मानसिक प्रसन्नताका वही अनुभव कर सकता है जिसकी अवस्था महाराज दशरथ और जगन्माता कौशल्याकी-सी हो । अथवा कंसका वध करनेके अनन्तर देवकी और वसुदेवको जो प्रसन्नता हुई होगी उसी प्रकारकी प्रसन्नता मिश्र-दम्पतीके हृदयमें विद्यमान होगी । शचीदेवीकी क्रमशः आठ कन्याएँ प्रसव होनेके कुछ कालके ही पश्चात् परलोकगामिनी बन चुकी थीं । इस वृद्धावस्थामें दम्पती सन्तान-सुखसे निराश हो चुके थे, कि भगवान्‌का अनुग्रह हुआ और विश्वरूपका जन्म हुआ । विश्वरूप यथा नाम तथा गुण ही थे । इनका रूप विश्वको मोहित करनेवाला था, किन्तु बालोचित चाञ्चल्य इनमें बिल्कुल नहीं था, चेहरेपर परम शान्ति विराजमान थी । माता-पिता इस सर्वगुणसम्पन्न पुत्रके मुख-कमलको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हुआ करते थे । अब भगवान्‌की कृपाका क्या कहना है ! विश्वरूपके बाद दूसरे बालकको देखकर तो मिश्र-दम्पती अपने-आपेको ही भूल गये थे ।

---

* उन सबके मध्यमें पीताम्बर पहिने, गलेमें पुष्पोंकी माला धारण किये, मन्द-मन्द मुस्कानसे सबोंको प्रसन्न करते हुए प्राणिमात्रके मनको मोहित करनेवाले कामदेवको भी अपने रूपलावण्यसे तिरस्कृत करते हुए प्रभु प्रकट हुए ।

सब बालक ९ महीने या अधिक-से-अधिक १० महीने गर्भमें रहते हैं, किन्तु गौराङ्ग पूरे १३ महीने गर्भमें रहे थे। सात महीनेमें भी बहुत-से बच्चे होते हैं और वे प्रायः जीवित भी रहते हैं, किन्तु वे बहुधा क्षीणकाय ही होते हैं। बात यह है, कि ६ महीनेमें गर्भके बच्चेके सब अवयव बनकर ठीक होते हैं और सातवें महीनेमें जाकर उसमें जीवनका सञ्चार प्रतीत होता है। जीवनका सञ्चार होते ही बच्चा गर्भसे बाहर होनेका प्रयत्न करता है। जो माताएँ कमजोर होती हैं, उनका प्रसव सात ही महीनोंमें हो जाता है, किन्तु बहुधा सातवें महीनेमें बच्चेका प्रयत्न निर्बल होनेके कारण असफल ही होता है। बाहर निकलनेके प्रयत्नमें बालक बेहोश हो जाता है और यह बेहोशी दो महीनेमें जाकर ठीक होती है। जो बच्चे ८ ही महीनोंमें हो जाते हैं, वे बचते नहीं हैं, क्योंकि एक तो पहिली बेहोशी और दूसरी प्रसवकी बेहोशी, इसलिये कमजोर बालक उन्हें सह नहीं सकता। १० महीनेका बच्चा खूब तन्दुरुस्त होता है। १३ महीने गर्भमें रहनेके कारण गौराङ्ग पैदा होते ही सालभरके-से प्रतीत होते थे। इनका शरीर खूब मजबूत था, अङ्गके सभी अवयव सुगठित और सुन्दर थे। तपाये हुए सुवर्णकी भाँति इनके शरीरका वर्ण था, छोटी-छोटी दोनों भुजाएँ खूब उतार-चढ़ावकी थीं। हाथकी उँगली कोमल और रक्त-वर्णकी बड़ी ही सुहावनी प्रतीत होती थी। छोटे-छोटे गुदगुदे पैर, मासमे छिपे हुए सुन्दर टखने, सुन्दर गोल-गोल पिंडरियाँ और मनोहर ऊरुद्वय थे। छोटे कमलके समान सुन्दर मुख, बड़ी-बड़ी आँखें और सुन्दर पैनी नासिका बड़ी ही भली मालूम पड़ती थी। गर्भके सभी बालकोंके इतने मुलायम बाल होते हैं, कि वे रेशमके लच्छोंको भी मात करते हैं, किन्तु गौराङ्गके बाल तो अपेक्षाकृत अन्य बालकोंके बालोंसे बहुत बड़े थे। काले-काले सुन्दर घुँघराले बालोंसे उस सुचारु आननकी शोभा ठीक ऐसी बन गयी थी मानो किसी अधिक रसमय कमलके ऊपर बहुत-

से भौंरे आकर स्वेच्छापूर्वक रसपान कर रहे हों। शचीमाता उस रूप-माधुरीको बार-बार निहारती और आश्चर्यसागरमें गोते लगाने लगती। वह बच्चेके सौन्दर्यमें एक अपूर्व तेजका अनुभव करती।

धीरे-धीरे बालक एक मासका हुआ। बङ्गालकी ओर माता २१ दिनमें अथवा महीनेभरमें प्रसूति-घरसे बाहर होती है और तभी षष्ठीपूजा भी होती है। नामकरण संस्कार प्रायः चार महीनोंमें होता था, किन्तु अब तो लोग बहुत पहिले भी करने लगते हैं। एक महीनेके बाद गौराङ्गका निष्क्रमण-संस्कार हुआ। सखी-सहेलियोंके साथ शचीदेवी बालकको लेकर गङ्गास्नान करनेके निमित्त गयीं। वहाँ जाकर विधिवत् गङ्गाजीका पूजन किया और फिर षष्ठीदेवीके स्थानपर उनके पूजनके निमित्त गयीं।

षष्ठीदेवी कौन हैं, इनके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् देशोंकी पृथक्-पृथक् मान्यता है। यह कोई शास्त्रीय देवी नहीं हैं, एक लौकिक पद्धति है। बहुत जगह तो यह बालकोंके अशुभको मेटनेवाली समझी जाती हैं, और इसीलिये बालकके कल्याणके निमित्त इनकी पूजा करते हैं। हमारी तरफ बालकके जन्मके छठे दिन षष्ठी (छठी) देवीका पूजन होता है। घरकी सबसे मान्य स्त्री पहिले-पहिल पूजा करती है, फिर सम्पूर्ण कुल-परिवारकी स्त्रियाँ आ-आकर पूजा करती हैं और भेंट चढ़ाती हैं। मान्य स्त्री उन सबको खानेके लिये सीरा-पूड़ी या कोई अन्य वस्तु देती है। हमारी ओर वैमाता (भावी माता) को ही षष्ठी मानते हैं, ऐसी मान्यता है कि वैमाता उसी दिन रात्रिमें आकर बालककी आयुभरका शुभाशुभ भाग्यमें लिख जाती है। वैमाता बालकके भाग्यको खूब अच्छा लिख जाय इसीलिये उसकी प्रसन्नताके निमित्त उसका पूजन करते हैं। नीचेके दोहेमें यही बात स्पष्ट है—

जो विधनाने लिख दई, छठी रात्रिके अंक।
राई घटै न तिल बढ़ै, रहु रे जीव निसंक॥

कुछ भी हो, लौकिक ही रीति सही, किन्तु इसका प्रचार किसी-न-किसी रूपमें सर्वत्र ही है। षष्ठीदेवीके स्थानपर जाकर शचीदेवीने श्रद्धा-भक्तिके साथ देवीका पूजन किया और वे बच्चेकी मङ्गल-कामनाके निमित्त देवीके चरणोंमें प्रार्थना करके सखी-सहेलियोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक घर लौट आयीं।

बालक ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था, त्यों-ही-त्यों उसकी चञ्चलता भी बढ़ती जाती थी। विश्वरूप जितने अधिक शान्त थे, गौराङ्ग उतने ही अधिक चञ्चल थे। एक महीनेके ही थे कि अपने आप ही आँगनमें घुटनोंके सहारे रेंगने लगते थे। चलते-चलते जोरसे किलकारियाँ मारने लगते, कभी-कभी अपने आप ही हँसने लगते। माता इन्हें पकड़ती, किन्तु इन्हें पकड़ना सहज काम नहीं था। ये स्तन पीते-ही-पीते कभी इतने जोरसे दौड़ते कि फिर इन्हें रोक रखना असम्भव ही हो जाता था। पहिले-पहिले ये बहुत रोते थे, माता भाँति-भाँतिसे इन्हें चुप करनेकी चेष्टा करती किन्तु ये चुप ही नहीं होते थे। एक दिन ये छोटे खटोलेपर पड़े-पड़े बहुत जोरोंसे रो रहे थे। माताने बहुत चेष्टा की किन्तु ये चुप नहीं हुए। तब तो माता इन्हें 'हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल' यह पद गा-गाकर धीरे-धीरे हिलाने लगी। बस, इसका श्रवण करना था कि ये चुप हो गये। माताको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्हें चुप करनेका एक सहज ही उपाय मिल गया। जब कभी ये रोते तभी माता अपने कोमल कण्ठसे गाने लगती—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

इसे सुनते ही ये झट चुप हो जाते। इनके मुहल्लेकी स्त्रियाँ इन्हें बहुत ही अधिक प्यार करती थीं, इसलिये घरके कामसे निवृत्त होते ही वे शचीदेवीके घर आ बैठतीं। शचीदेवीका स्वभाव बड़ा ही मधुर था।

उनके घर जो भी आती उसीका खूब प्रेमपूर्वक सत्कार करती और घरका काम-काज छोड़कर उनसे बातें करने लगती। इसलिये सभी भली स्त्रियाँ अपना अधिकांश समय शचीदेवीके ही यहाँ बितातीं। वे सभी मिलकर गौराङ्गको खिलाती थीं। बच्चेकी जिसमें प्रसन्नता हो खिलानेवाले उसी कामको बार-बार करते हैं। गौराङ्ग हरि-नाम-संकीर्तनसे ही परम प्रसन्न होते थे और सुनते-सुनते किलकारियाँ मारने लगते इसलिये स्त्रियाँ बार-बार उसी पदको गातीं। कभी-कभी सब मिलकर एक स्वरसे कीर्तनके पदोंका गान करती रहतीं। इस प्रकार दिनभर शचीदेवीके घरमें—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

इसी पदकी ध्वनि गूँजती रहती।

इस प्रकार धीरे-धीरे बालककी अवस्था चार मासकी हुई। मिश्रजीने शुभ मुहूर्तमें बालकके नामकरण-संस्कारकी तैयारियाँ कीं। अपने सहपाठी प्रेमी पण्डितोंको उन्होंने निमन्त्रित किया। ब्राह्मणोंने विधि-विधानके साथ वेद-पाठ और हवन किया। पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्तीने जन्म-नक्षत्रके अनुसार बालकका नाम विश्वम्भर रखा। किन्तु जन्मकी राशिके नाम प्रायः बहुत कम प्रचलित होते हैं। बच्चेका नाम तो माता-पिता अपनी राजीसे ही रख लेते हैं, यह सब जगहकी रिवाज है, कि बच्चेका आधा नाम लेनेमें ही सबको आनन्द आता है। इसलिये बच्चेका कैसा भी नाम क्यों न हो उसे तोड़-मरोड़कर आधा ही बना लेंगे। यह प्रगाढ़ प्रेमका एक मुख्य अङ्ग है। शचीदेवीकी सखियोंने भी गौराङ्गका नाम रख लिया 'निमाई'।

निमाई नामके सम्बन्धमें लोगोंके भिन्न-भिन्न मत हैं। कइयोंका कहना है कि जब ये उत्पन्न हुए थे, तब धात्रीको ऐसा प्रतीत हुआ कि इनके शरीरमें प्राणोंका सञ्चार नहीं हो रहा है। वे प्रसवके अनन्तर अन्य

बालकोंकी भाँति रोये नहीं। जब इनके कानमें हरि-मन्त्र बोला गया तब ये रोने लगे। इसलिये माताने कहा—'यह यमराजके यहाँ नीमकी तरह कड़वा साबित हो।' इसलिये इसका नाम माताने 'निमाई' रख दिया।

बहुतोंका मत है कि इनका प्रसवगृह एक नीमके वृक्षके नीचे था, इसलिये इनका नाम 'निमाई' रखा गया। बहुतोंके विचारमें यह नाम हीनताका द्योतक इसलिये रखा गया, कि बच्चेकी दीर्घायु हो। लोकमें ऐसा प्रचार है कि जिस माताकी सन्तानें जीवित नहीं रहतीं वह अपनी सन्तानका इसी प्रकार हीन नाम रखती हैं। कुछ भी हो, हमारा मत तो यह है, यह नाम किसी अर्थको लेकर नहीं रखा गया। प्यारमें ऐसे ही नाम रखे जाते हैं। और सर्वसाधारणमें वही प्रेमका नाम प्रचलित होता है। जैसे नित्यानन्दका 'निताई', जगन्नाथका 'जगाई' इत्यादि। कुछ भी क्यों न हो, सम्पूर्ण नवद्वीपमें गौराङ्गका यही नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ। पण्डित होनेपर भी सब लोग इन्हें 'निमाई पण्डित' के ही नामसे जानते तथा पहिचानते थे।

नाम-करण-संस्कारके अनन्तर पिताने इनके स्वभावकी परीक्षा करनी चाही। उन्होंने इनके सामने रुपये-पैसे, अन्न-वस्त्र, द्रव्य-शस्त्र तथा पुस्तकें रख दीं और बड़े प्रेमसे बोले—'बेटा! इनमेंसे किसी चीजको उठा तो लो।' प्रायः बालक चमकीली चीजोंको सबसे पहिले पसन्द करते हैं, किन्तु यह स्वभाव तो साधारण लौकिक बालकोंका होता है, ये तो अलौकिक थे। झट इन्होंने सबसे पहिले श्रीमद्भागवतकी पुस्तकपर हाथ रख दिया। सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई। सबने एक स्वरमें कहा—'निमाई बड़ा भारी पण्डित होगा।'

मन्त है—

होनहार बिरवानके होत चीकने पात।
इसीलिये [illegible] ॥

प्रेम-प्रवाह

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥*

ओतप्रोतरूपसे परिप्लावित इस प्रेमपयोधिरूपी जगत्में जीव अपनी क्षुद्रताके कारण ऐसे संकीर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, कि उस प्रेमपीयूषका सम्पूर्ण स्वारस्य एकदम नष्ट हो जाता है। अहा! जब सुख-दुःखमें समान भाव हो जाय, किसी भी अवस्थामें चित्तकी वृत्ति सजातीय-विजातीयका अनुभव न करने लगे उस समयके सुखका भला क्या कहना है? ऐसा प्रेम किसी विरले ही महापुरुषके शरीरमें प्रकट होता है और उनकी प्रीतिके पात्र कोई बड़भागी ही सुजन होते हैं। महापुरुषोंमें जन्मसे ही यह विश्व-विमोहन प्रेम होता है।

---

* जो कि सुख-दुःखमें समान रहता है तथा सम्पूर्ण अवस्थाओंमें अपने अनुकूल ही बना रहता है, जो हृदयका एकमात्र विश्रामस्थान है, वृद्धावस्था जिसके रसको नष्ट नहीं कर सकती, जो समयके बदलनेसे स्वयं नहीं बदलता है और जिसकी स्थिति सदा स्नेह-सारमें ही रहती है, सत्पुरुषके इस प्रकारके सुन्दर प्रेमके पात्र कोई बड़भागी पुरुष ही होते हैं।

सभी महापुरुषोंके सम्बन्धमें हम चिरकालसे सुनते आ रहे हैं, कि वे जन्मसे ही सभी प्राणियोंमें समान भाव रखते थे। महात्मा नानकजी जब बाल्यावस्थामें भैंस चराने जाते तो एकान्तमें बैठकर ध्यान करने लगते। बहुत-से लोगोंने प्रत्यक्ष देखा कि एक बड़ा भारी सर्प अपने फणसे उनके ऊपर छाया किये रहता और जब वे ध्यानसे उठते तब चला जाता। सिंहोंको कुत्तेकी तरह पूँछ हिलाते अभीतक तपस्वियोंके आश्रममें देखा गया है। महापुरुषोंके अंगमें यह प्रेमकी आकर्षक बिजली जन्मसे ही होती है, कि पापी-से-पापी पुरुषकी तो बात ही क्या है, पशु-पक्षी, कीट-पतंगतक उनके आकर्षणसे खिंचकर उनके चेरे हो जाते हैं।

शचीदेवीके छोटेसे ऑगनमें जो दिन-रात्रि 'हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल' की ध्वनि गूँजती रहती है, इसका कारण निमाईकी अपूर्व रूपमाधुरी ही नहीं है, किन्तु उनकी विश्वमोहिनी मन्द मुस्कानने ही पास-पड़ोसियोंकी स्त्रियोंको चेरी बना लिया है, उन्हें निमाईकी मन्द मुस्कानके देखे बिना कल ही नहीं पड़ती। माताओंका यह सनातन स्वभाव है कि उनकी सन्तानपर जो कोई प्रेम करता है तो उनके हृदयमें एक प्रकारकी मीठी-मीठी गुदगुदी होती है, उनका जी चाहता है इस प्यार करनेवाले पुरुषको मैं क्या दे दूँ! स्त्रियाँ निमाईको जितना ही प्यार करतीं, शचीमाता निमाईको उतना ही और अधिक सजातीं। मातृ-हृदयको भी ब्रह्माजीने एक अपूर्व पहेली बनाया है।

निमाई अभी छोटा है, बहुत-से स्थानोंसे बालकके लिये छोटे-छोटे सिले वस्त्र और गहने आये हैं। माताने अब निमाईको उन्हें पहिनाना आरम्भ कर दिया है। एक दिन माताने निमाईको उबटन लगाकर खूब नहवाया। तेल डालकर छोटे-छोटे घुँघराले बालोंको कङ्घीसे साफ किया। एक पीला-सा कुर्ता शरीरसे पहिनाया। हाथके कड़ूलोंको मिट्टीसे घिसकर चमकीला

किया। कमरमें करधनी पहिनायी, उसे एक काले डोरेसे बाँध भी दिया। पैरोंमें छोटे-छोटे कड़ूले पहिनाये। कण्ठमें कठुला पहिनाया। कई एक काले गंडे-तावीज बच्चेकी मंगल-कामनाके निमित्त पहिलेसे ही पड़े थे। बड़ी-बड़ी कमल-सी आँखोंमें काजल लगाया। बायीं ओर मस्तकपर एक काला-सा टिप्पा भी लगा दिया, जिससे बच्चेको नजर न लग जाय। खूब शृंगार करके माता बच्चेके मुखकी ओर निहारने लगी। माता उस अपूर्व सौन्दर्य-माधुरीका पान करते-करते अपने आपेको भूल गयी। इतनेमें ही विश्वरूपने आकर कहा—'अम्मा! अभी भात नहीं बनाया?'

कुछ झूठी व्यग्रता और रोष दिखाते हुए माताने जल्दीसे कहा—'तेरे इस छोटे भाईसे मुझे फुरसत मिले तब भात भी बनाऊँ। वह तो ऐसा नटखट है, कि तनिक आँख बचते ही घरसे बाहर हो जाता है, फिर इसका पता लगाना ही कठिन हो जाता है।'

विश्वरूपने कहा—'अच्छा ला, इसे मैं खिलाता हूँ। तू तबतक जल्दीसे रन्धन कर।' यह कह विश्वरूपने बालक निमाईको अपनी गोदमें ले लिया। माता तो दाल-चावल बनानेमें व्यस्त हो गयी और विश्वरूप धूपमें बैठ गये। भला विश्वरूप-जैसे विद्याव्यासंगी बालक टाली कैसे बैठे रह सकते हैं? वे निमाईको पास बिठाकर पुस्तक पढ़ने लगे। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते वे उसमें तन्मय हो गये। अब निमाईको किसका भय? धीरेसे रेंग-रेंगकर आप आँगनके दूसरी ओर एकान्तमें जा पहुँचे? वहाँपर, एक कोई बड़भागी सर्प देवता बैठे हुए थे। बस, निमाईको एक नूतन खिलौना मिल गया। वे उसके साथ खेलने लगे।

माता शरीरसे तो दाल-भात बनाती जाती थीं, किन्तु उनका मन निमाईकी ही ओर लगा हुआ था। थोड़ी देरमें जब उसने दोनों भाइयोंमें

कुछ भी बातें-चीतें न सुनीं तो विश्वरूपको सावधान करनेके निमित्त उन्होंने वहींसे पूछा—'विश्वरूप ! निमाई सो गया क्या ?'

मानो कोई घोर निद्रासे जागकर अपने चारों ओर जगानेवालेको भौंचक्केकी भाँति देखता है उसी प्रकार पुस्तकसे नजर उठाकर विश्वरूपने कहा—'क्या अम्मा ! क्या कहा ? निमाई ? निमाई तो यहाँ नहीं है !'

मानो माताके कलेजेमें किसीने गरम ठेस लगा दी हो, उनका मातृ-हृदय उसी समय किसी अशुभ आशङ्काके भयसे पिघलने लगा। वे दाल-भातको वैसे ही छोड़ कर जल्दीसे बाहर आयीं। विश्वरूप भी उठकर खड़े हो गये। दोनों माँ-बेटे इधर-उधर निमाईको ढूँढ़ने लगे। आँगनके दूसरी ओर उन्होंने जो कुछ देखा उसे देखकर तो सबके छक्के छूट गये। माताने बड़े जोरसे एक चीत्कार मारी। उनकी चीत्कारको सुनकर आस-पाससे और भी स्त्री-पुरुष वहाँ आ गये।

सबोंने देखा निमाईका आधा शरीर धूलि-धूसरित है, आधा अङ्ग तेलके कारण चमक रहा है। बालोंमें भी कुछ धूलि लगी है। कुर्तेमें पीठकी ओर एक गाँठ लगी है, वह बड़ी ही भली मालूम पड़ती है। पीले रङ्गके वस्त्रमेंसे सुवर्ण-रङ्गका शरीर बड़ा ही सुहावना मालूम पड़ता है। सर्प गुड़मुड़ी मारे बैठा है। निमाई उसके ऊपर सवार है। उसने अपना काला गौके खुरके चिह्नसे चिह्नित विशाल फण ऊपर उठा रखा है। निमाईका एक हाथ फणके ऊपर है। एकसे वे जमीनको छू रहे हैं। एक पैरमें वलय देकर साँप चुपचाप पड़ा है। सूर्यके प्रकाशमें उसका स्याह काला शरीर चमक रहा है। निमाईको कोई चिन्ता ही नहीं। वे हँस रहे हैं। हँसनेसे आगेके दाँत जो अभी नये ही निकले हैं खूब चमक रहे हैं। देखनेवालोंके होश उड़ गये। सभीके हृदयमें एक विचित्र आन्दोलन उठ रहा था। किसीकी हिम्मत भी

नहीं पड़ती थी, कि बच्चेको साँपसे छुड़ावे। इसी समय शचीदेवी छुड़ानेके लिये दौड़ीं। उनका दौड़ना था कि साँप जल्दीसे अपने बिलमें घुस गया। निमाई हँसते-हँसते माताकी ओर चले। माताने जल्दीसे बालकको छातीसे चिपटा लिया। उस समय माताको तथा अन्य सभी लोगोंको जो आनन्द हुआ होगा उसका वर्णन भला कौन कर सकता है! सभीने बच्चेको सकुशल कालके गालमेंसे लौटा देखकर भाँति-भाँतिके उपचार किये। किसीने झाड़-फूँक की, किसीने ताबीज बनाया।

स्त्रियाँ कहने लगीं—'यह कोई कुलदेवता है, तभी तो इसने बच्चेको कोई क्षति नहीं पहुँचायी।' कोई-कोई बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ बच्चेका मुँह चूम-चूमकर कहने लगीं—'निमाई, तू इतनी बदमाशी क्यों किया करता है? क्या तुझे खेलनेको साँप ही मिले हैं? निमाई उनकी ओर देखकर हँस देते तभी सब स्त्रियाँ गाने लगतीं—

हरि हरि-बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

इस प्रकार निमाईकी अधिक चञ्चलता देखकर माता उनकी अधिक चिन्ता रखने लगी। माता जितनी ही अधिक होशियारी रखती, ये उतना ही अधिक उसे धोखा भी देते।

एक दिन ये घरसे निकलकर बाहर रास्तेमें एकान्तमें खेल रहे थे। शरीरपर बहुत-से आभूषण थे, उनमें कई सोनेके भी थे। इतनेमें ही चोर उधर आ निकला। निमाईको आभूषण पहिने एकान्तमें खेलते देखकर उसके मनमें बुरा भाव उत्पन्न हुआ और वह इन्हें पीठपर चढ़ाकर एकान्त स्थानकी ओर जाने लगा। इनके स्पर्शमात्रसे ही उसकी विचित्र दशा हो गयी, उसे अपने कुकृत्योंपर रह-रहकर पश्चात्ताप होने लगा। निमाईका एक पैर उसके कन्धेके नीचे लटक रहा था। उस कमलकी भाँति कोमल पैरको देखकर उसका हृदय भर आया। उसने एक बार

निमाईके कमलकी तरह खिले हुए मुँहकी ओर ध्यानपूर्वक देखा। पीठपर चढ़े हुए निमाई हँस रहे थे। चोरका हृदय पानी-पानी हो गया। जगदुद्धारक निमाईका वही पापी सर्वप्रथम कृपापात्र बना।

इधर निमाईको घरमें न देखकर माता-पिताको बड़ी चिन्ता हुई। मिश्रजी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गङ्गाजीतक पहुँचे, किन्तु निमाईका कुछ भी पता नहीं चला। इधर शचीदेवी पगलीकी तरह आस पासके मुहल्लोंके सभी घरोंमें निमाईको ढूँढ़ने लगी। स्त्रियाँ कहतीं—'वह बड़ा चञ्चल है, घरमें रहना तो मानो सीखा ही नहीं। तुम चिन्ता मत करो। यहीं कहीं खेल रहा होगा। मिल जायगा। चलो मैं भी चलती हूँ।' इस प्रकार सभी स्त्रियाँ शची-माताको धैर्य बँधाती थीं, किन्तु शचीको धैर्य कहाँ? उन सबकी बातोंको अनसुनी करती हुई माता एक घरसे दूसरे घरमें दौड़ने लगी। विश्वरूप अलग ढूँढ़ रहे थे।

इधर चोरकी चित्तवृत्ति शुद्ध होनेसे उसका भाव ही बदल गया। बस, वही उसका चोरीका अन्तिम दिन था। उसने धीरेसे लाकर निमाईको उनके द्वारपर उतार दिया।

माता-पिता तथा भाई इधर ढूँढ़ रहे थे, किसीने आकर समाचार दिया कि निमाई तो घरपर खेल रहा है। मानो मरु-भूमिमें जलाभावके कारण मरते हुए पथिकको सुन्दर सुशीतल जल मिल गया हो अथवा किसी परम बुभुक्षितको अच्छे-अच्छे खाद्य-पदार्थ मिल गये हों, इस प्रकारकी प्रसन्नता मिश्रजीको हुई। उन्होंने द्वारपर आकर देखा कि निमाई हँस रहा है। माताने आकर बच्चेको छातीसे चिपटाया। विश्वरूपने भाईको पुचकारा। स्त्रियाँ आकर गाने लगीं—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

अलौकिक बालक

स्वगर्भशुक्तिनिर्भिन्नं सुवृत्तं, सुतमौक्तिकम्।
वंशश्रीतिलकीभूतं मन्दभाग्यस्य दुर्लभम् ॥*

शची-रूपी सीपीके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है, जिसमें निमाईके समान संसारको सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला बहुमूल्य मोती पैदा हुआ? शचीकी समझमें स्वयं नहीं आता था कि यह बालक कैसा है! इसकी सभी बातें दिव्य हैं, सभी चेष्टाएँ अलौकिक हैं। देखनेमें तो यह बालक-सा प्रतीत होता है, किन्तु बातें ऐसी करता है कि अच्छे-अच्छे समझदार भी उन्हें सरलतापूर्वक नहीं समझ सकते। कभी तो उसे भ्रम होता और सोचने लगती यह कोई छद्म-वेष बनाये महापुरुष या देवता मेरे यहाँ क्रीड़ा कर रहे हैं और कभी-कभी मातृस्नेहके कारण सब कुछ भूल जाती।

एक दिन माताने देखा कि घरमें बड़े जोरोंका प्रकाश हो रहा है। बहुत-से तेजपूर्ण दिव्य दिव्य पुरुष निमाईकी पूजा और स्तुति कर रहे हैं। यह देखकर माताको बड़ा भय मालूम हुआ। वे जल्दीसे घरके भीतर गयीं। वहाँ जाकर उन्होंने देखा निमाई सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं। यह

---

* अपनी माताके गर्भरूपी सीपीको निर्भिन्न करके अच्छे गुणोंवाला पुत्ररत्न जो कि अपने वंशकी श्रीको बढ़ानेवाला है, ऐसे सौभाग्यशाली 'सुतका' मन्द भाग्यवाले पुरुषोंके यहाँ उत्पन्न होना अत्यन्त ही दुर्लभ है।

बात शचीदेवीने अपने पति पण्डित जगन्नाथ मिश्रसे कही। मिश्रजीने कहा—'हम तो पहिलेसे ही जानते थे, यह बालक कोई साधारण पुरुष नहीं है।'

इसी प्रकार एक दिन आँगनमें ध्वजा, वज्र, कुश आदि शुभ चिह्नोंसे चिह्नित छोटे-छोटे पैरोंको देखकर शचीदेवी विस्मित हो गयीं। उन्होंने वे चरणचिह्न मिश्रजीको भी दिखाये। भाग्यवान् दम्पतीने उन चरणोंकी धूलि अपने मस्तकपर चढ़ायी। मिश्रजी कहने लगे—'मालूम पड़ता है, घरके बालगोपाल ठाकुर सशरीर आँगनमें घूमते हैं। यह हमलोगोंका परम सौभाग्य है।' इतनेमें ही उन्होंने निमाईके छोटे-छोटे पैरोंमें भी वे ही चिह्न देखे। मिश्रजी पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्तीको बुलाकर लाये और निमाईके हाथ तथा पैरोंकी रेखा उन्हें दिखायी। सब देखकर चक्रवर्ती महाशय बोले—'हमने उसी दिन जन्मकुण्डली ही देखकर कह दिया था, कि यह बालक कोई साधारण बालक नहीं है। भविष्यमें इसके द्वारा संसार-का बहुत कल्याण होगा।'

एक दिन मिश्रजीने निमाईसे कहा—'बेटा! भीतरसे पुस्तक ता रु आ।' निमाई हँसते हुए भीतर चले गये। मिश्रजीको ऐसा प्रतीत हुआ मानों नूपुरकी सुमधुर ध्वनि निमाईके पैरोंमेंसे होती जा रही है। उन्होंने शचीदेवीजीसे पूछा—'निमाईको नूपुर तुमने पहिना दिये हैं क्या?' शचीदेवीने उत्तर दिया—'नहीं तो, नूपुर तो मैंने नहीं पहिनाये। देखते नहीं हो उसके पैरोंमें सिवाय कड़लोंके और कुछ भी नहीं है।' मिश्रजी सब समझकर चुप हो गये। निमाई पुस्तक रखकर चले गये।

एक दिन ये अपनी मातासे किसी बातपर झगड़ बैठे। चञ्चल तो वे थे ही, किसी बातपर अड़ गये। माताने बहुत मनाया, नहीं माने, तब माता रोषमें भरकर बाहर जाने लगी। इन्होंने अपने कोमल करोंसे माता-

पर थोड़ा प्रहार किया। माताका हृदय भर आया। उन्हें निमाईकी अलौकिक लीलाएँ और उनकी लोकोत्तर सभी बातें स्मरण होने लगीं। वे अपने भाग्यकी सराहना करने लगीं। इसी बीचमें उन्हें अपनी दरिद्रावस्थाका भी स्मरण हो आया। दुःखके बीचमें माता अधीर हो उठीं और वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ी। पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ शचीमाताको पंखा आदिसे वायु करने लगीं। निमाई घबड़ा गये। माताकी ऐसी अवस्था देखकर उनके होश उड़ गये। वे स्त्रियोंसे पूछने लगे—'माता किस प्रकार अच्छी हो सकेंगीं?' उनमेंसे किसी स्त्रीने कह दिया—'यदि दो ताजी नारिकेल ला सको और उनका जल इन्हें पिलाया जाय तो ये अभी अच्छी हो जायँ।'

यह सुनकर ये दौड़े-दौड़े बाहर गये और थोड़ी ही देरमें दो बड़े-बड़े ताजा नारिकेल लेकर घरमें वापिस आये। नारिकेल फोड़कर उसका जल शचीमाताके मुँहमें डाला गया। धीरे-धीरे वे होशमें आने लगीं। जब वे खूब होशमें आ गयीं तब ये उनसे लिपटकर खूब रोये और रोते-रोते बोले—'माँ! न जाने मुझे क्या हो जाता है जो तुम्हें इतना तंग करता हूँ। मेरी माँ! अब कभी ऐसा काम न करूँगा।'

एक दिन ये वैसे ही रोने लगे और खूब जोर-जोरसे रोने लगे। माता-पिताने इन्हें बार-बार समझाया, पुचकारा, बहलाया किन्तु ये मानते ही न थे। बराबर रोते ही जाते थे। अन्तमें माताने पूछा—'तू चाहता क्या है? क्यों इतना रोता है? मुझे सब बात बता दे। तू कहेगा वही चीज तुझे ला दूँगी।'

आपने रोते-ही-रोते कहा—'जगदीश और हिरण्य पण्डितके घर जो आज ठाकुरजीके लिये नैवेद्य बना है उसे ही लेकर हम चुप होंगे।'

यह सुनकर सभी चकित हो गये। किसीका भी साहस नहीं पड़ता था कि उनके घर जाकर बिना पूजा किये नैवेद्यको लाकर बालकको दे दे।

सभी चुप होकर एक दूसरेके मुखकी ओर देखने लगे। निमाई फूट-फूट-कर रो रहे थे। माताने बहुत समझाया—'बेटा! पूजा माईकी चीज है, जबतक भगवान्का भोग नहीं लगता तबतक नहीं खाते। पूजा हो जाने दे, मैं जाकर उनके घरसे ला दूँगी। बिना पूजा किये जो बच्चे मिठाईको खा लेते है, उनके कान पक जाते हैं। रोवे मत। ये तेरे सब साथी तेरी हँसी करेंगे कि निमाई कैसा रोनेवाला है!'

माताकी इन बातोंका निमाईपर कुछ भी असर नहीं हुआ। ये बराबर रोते ही रहे। किसीने जाकर उन ब्राह्मणोंसे ये बातें कह दीं। ये दोनों वैष्णव ब्राह्मण पण्डित जगन्नाथ मिश्रके पड़ोसी थे और मिश्रजीसे बड़ा प्रेम मानते थे। निमाई उनके घर बहुत जाया-आया करते थे। इस बातको सुनकर उनके घरके सभी लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ कि निमाईको यह कैसे पता चला कि हमारे घर आज भगवान्के लिये नैवेद्य तैयार हो गया है। कुछ भी हो, वे बड़ी प्रसन्नतासे नैवेद्य लेकर निमाईके पास आये। निमाईने सभी सामग्रियोंमेंसे थोड़ा-थोड़ा लेकर खा लिया तब ये शान्त हुए।

माताको इनकी ऐसी बातोंपर बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगी—इसपर जरूर कोई भूत-पिशाच आता है, इसलिये उन्होंने देवताओंके नामसे द्रव्य उठाकर रख दिया, देवियोंकी पूजा की और बहुत सी मनौतियाँ भी मानीं। वे निमाईकी ऐसी दशा देखकर मनमें किसी अशुभ बातकी शङ्का करके डर जातीं और बच्चेकी मङ्गल-कामनाके निमित्त भाँति-भाँतिके उपाय सोचतीं।

धीरे-धीरे इनकी अवस्था पाँच सालके लगभग हुई। पिताने इनका अक्षरारम्भ कराया। लिखनेके लिये हाथमें पट्टी और खड़िया दी। भला इन्हें क्या पढ़ना था, ये तो सभी कुछ पढ़े-पढ़ाये ही आये थे। पिताको

दिखानेके लिये तो कभी ये पट्टीपर कुछ उलटी-सीधी लकीरें करने लगते किन्तु वैसे पढ़ते कुछ भी नहीं थे। खड़ियाको लेकर शरीरमें मल लेते, लम्बे-लम्बे माथेपर उसके तिलक लगा लेते और मातासे कहते–'अम्मा! तेरे घरमें एक परम वैष्णव आया है, कुछ भिक्षा देगी!' माता इनके तिलकोंको देखती और हँस पड़ती। गोदमें बिठाकर मुख चूमती और कहती–'बेटा इतना उपद्रव नहीं किया करते हैं। कुछ पढ़ना-लिखना भी चाहिये। अब तो निरा बालक ही नहीं है। तेरी बराबरीके ब्राह्मणके बालक पोथी पढ़ लेते हैं, तू वैसे ही दिनभर इधर-उधर खेला करता है।'

ये माताकी बातोंको सुन लेते और मुसकरा देते। खा-पीकर जल्दी बालकोंमें खेलनेके लिये भाग जाते। सभी बालकोंको लेकर ये उन्हें नाचना सिखाते। तीन-तीन चार-चार बालक मिलकर हाथ पकड़ पकड़ नाचते और घूमते-घूमते कभी चक्कर आनेसे धूलिमें गिर भी पड़ते। कभी ऊपर हाथ उठा-उठाकर 'हरि बोल, हरि बोल' कहकर खूब नाचते। इनके साथ-साथ और बालक भी 'हरि बोल, हरि बोल' की उच्च ध्वनि करने लगते। रास्ता चलनेवाले लोग इनके खेलोंको देखकर खड़े हो जाते और पंथी इनकी लीलाओंको देखा करते। बहुत-से विद्वान् पण्डित भी उधरसे निकलते, बच्चों-के साथ निमाईको नाचते देखकर उन्हें अपनी पुस्तकी विद्यापर बड़ी लज्जा आती। उनका जी चाहता था कि सब कुछ छोड़-छाड़कर इन बच्चोंके ही साथ नृत्य करने लगें, किन्तु लोक-लज्जा उन्हें ऐसा न करनेके लिये विवश करती।

इस प्रकार ये खेलमें भी बालकोंको कुछ-न-कुछ शिक्षा देने लगे। पिता इन्हें जितना ही पढ़ाना चाहते थे ये उतने ही पढ़नेसे भगते थे। ज्यों-ज्यों इनकी अवस्था बड़ी होती जाती थी, त्यों-त्यों चञ्चलता भी दूने से अधिक बढ़ती जाती थी।

बाल्य-भाव

दिग्वाससं गतव्रीडं जटिलं धूलिधूसरम्।
पुण्याधिका हि पश्यन्ति गंगाधरमिवात्मजम्॥*

'इस कामके करनेसे क्या फायदा?' 'इसको क्यों करें, इससे हमारा क्या मतलब?' ये प्रश्न स्वार्थजन्य हैं, स्वार्थ अज्ञानजन्य है और अज्ञान ही बन्धनका हेतु है। *'भगवान्‌ने इस सृष्टिको क्यों उत्पन्न किया?'* यह सभी अज्ञानी जीवोंकी शङ्का है, जो बिना मतलबके कुछ करना ही नहीं जानते। इसीलिये भगवान् व्यासदेवजीने इसका यही सीधा-सादा उत्तर दिया है, कि उसका कुछ भी मतलब नहीं। 'बाल-लीलावत्' है। बच्चोंको देखा है, खाली गाड़ी देखकर उसपर बहुत दूरतक चढ़कर चले जाते हैं और फिर उधरसे पैदल ही लौट आते हैं। कोई पूछे—'ऐसा करनेसे उन्हें क्या लाभ?' इसका उत्तर कुछ भी नहीं। लाभ-हानि बच्चा जानता ही नहीं। उसके लिये दो चीज हैं ही नहीं, या तो लाभ-ही-लाभ है या हानि-ही-हानि। या तो उसके लिये सभी वस्तु पवित्र-ही-पवित्र हैं या सभी अपवित्र हैं। *वह ज्यों-ज्यों हमलोगोंके संसर्गमें रहकर ज्ञान या अज्ञान* सीखता जाता है, त्यों-ही-त्यों मतलब और फायदा सोचने लगता है। उस समय उसकी वह द्वन्द्वातीतपनेकी अवस्था धीरे-धीरे लोप हो जाती है। फिर *वह मज़ा जाता रहता है।*

---

* सम्पूर्ण शरीर धुलिसे धूसरित हो रहा हो, छोटी-छोटी अल्कावलि मस्तकके चारों ओर फहरा रही हो, जिसे किसी भी कामके करनेमें लज्जा न लगती हो और शरीरपर एक भी वस्त्र न हो ऐसे महादेवकी भाँति दिगम्बर बालकको आँगनमें खेलते हुए भाग्यवान् ही गृहस्थ देख सकते हैं।

बाल-भाव भी कितना मनोहर है, जब साधारण बालकोंके ही विनोदमें परम आनन्द और उल्लास भरा रहता है, तब दिव्य बालकोंकी लीलाओंका तो कहना ही क्या ? उस समय तो लोग उन्हें नहीं जानते, ज्यों-ज्यों उनके जीवनमें प्रकाश होने लगता है त्यों-ही-त्यों उन पुरानी बातोंमें भी रस भरता जाता है। निमाई अलौकिक बालक थे। उनकी लीलाएँ भी बड़ी मधुर और साधारण बालकोंकी भाँति होनेपर भी परम अलौकिक थीं। पाठक स्वयं समझ लेंगे कि ३-४ वर्षकी अवस्थाके बालककी कितनी गूढ़-गूढ़ बातें होती थीं।

एक दिन माताने देखा, निमाई एकदम नंगा है। इधर-उधरसे चीरें उठाकर लपेट ली हैं। सम्पूर्ण शरीरमें धूलि लपेटे हुए हैं। एक घूरेपर अशुद्ध हॉड़ियोंपर आप बैठे हैं। हॉड़ियोंमेंसे कारिख लेकर मुँह और माथेपर काली-काली, लम्बी-लम्बी रेखाएँ खींच ली हैं। शरीरमें जगह-जगह काली बिंदी लगा ली है। एक फूटी हॉड़ीको खपड़ेसे बजा-बजाकर आप कुछ गा रहे हैं। सुवर्ण-जैसे शरीरपर भस्मके ऊपर काली-काली बिंदी बहुत ही भली मालूम होती थी। जो भी उधरसे निकलता वही उस अद्भुत स्वाँगको देखनेके लिये खड़ा हो जाता। निमाई अपने रागमें मस्त थे, उन्हें दीन-दुनियाँका कुछ भी पता नहीं। किसीने जाकर यह समाचार शचीमाताको सुनाया। माता दौड़ी-दौड़ी आयीं और दो-चार मीठी-मीठी प्रेमयुक्त कड़ी बातें कहकर डॉटने लगीं—'निमाई! तू अब बहुत बदमाशी करने लगा है। भला ब्राह्मणके बेटेको ऐसे अपवित्र स्थानमें बैठना चाहिये ?'

आपने कहा—'अम्मा! स्थानका क्या अपवित्र और क्या पवित्र ! स्थान तो सभी एक-से हैं। हाँ, जो स्थान हरि-सेवा-पूजासे हीन हो वहाँ बैठना ठीक नहीं। इन हॉड़ियोंमें तो तैंने भगवान्‌का प्रसाद बनाया है। भला, फिर ये हॉड़ियाँ अपवित्र कैसे हुईं ?'

माताने डाँटकर कहा—'बहुत ज्ञान मत छाँट, जल्दीसे उठकर स्नान कर ले।'

निमाई भला कब उठनेवाले थे? वे तो वहीं डटे रहे और फिर वही अपना पुराना राग अलापने लगे। माताने जब देखा यह किसी भी तरह नहीं उठता, तो स्वयं जाकर इनका हाथ पकड़कर उठा लायीं और घरमें आकर इन्हें स्नान कराया और स्वयं स्नान किया।

इसी प्रकार ये सभी बालोचित लीलाएँ करते। कभी किसी कुत्तेके बच्चेको पकड़ लाते और उसे दूध-भात खिलाते। दिनभर उसे बाँधे रखते। माता यदि उसे भगा देती तो खूब रोते। कभी पक्षियोंको पकड़नेको दौड़ते और कभी गौके छोटे बच्चेके साथ खेलते और उससे धीरे-धीरे न जाने क्या-क्या बातें करते। सबके घरोंमें बिना रोक-टोक चले जाते। कोई कहती—'निमाई! तुझे हम सन्देश देंगे, ज़रा नाच तो दे।' तब आप कहते—'पहिले सन्देश (मिठाई) दो, तब नाचेंगे।' वे सन्देश-लड्डू-पेड़े इन्हें दे देतीं। ये उसी समय कुछ मुँहमें भर लेते, शेषको हाथमें लेकर ऊपर हाथ उठा-उठाकर खूब नाचते। इस प्रकार ये घर-घर जाकर खूब नाच दिखाते और खानेके लिये खूब माल पाते। स्त्रियाँ इन्हें बहुत प्यार करतीं। कोई केला देती, कोई मेवा देती, कोई मिठाई देती। ये सबसे ले लेते, स्वयं खाते और अपने साथियोंको बाँट देते। इस प्रकार ये सभीके मनको अपनी ओर आकर्षित करने लगे और नर-नारियोंको परम सुख देने लगे।

एक दिन ये बाहरसे दौड़े-दौड़े आये और जल्दीसे मातासे बोले—'अम्मा! अम्मा! बड़ी भूख लग रही है, कुछ खानेके लिये हो तो दे।'

माताने कहा—'बेटा! बैठ जा। अभी दूध-चिउरा लाती हूँ, उन्हें तबतक खा ले फिर झटसे भात बनाऊँगी।' यह कहकर माताने भीतरसे

लाकर एक कटोरेमें दूध-चिउरा इन्हें दिया । माता तो देकर भीतर चली गयीं, ये दूध-चिउरा न खाकर पासमें पड़ी मिट्टीको खाने लगे । माताने जब आकर देखा कि निमाई तो मिट्टी खा रहा है, तब वे जल्दीसे कहने लगीं—

'अरे निमाई ! तू यह क्या कर रहा है ? मिट्टी क्यों खाता है ?'

आपने भोली सूरत बनाकर कहा—'अम्मा ! तैंने भी तो मुझे मिट्टी लाकर दी है । मिट्टी ही मैं खा रहा हूँ ।'

माताने कहा—'मैंने तो तुझे दूध-चिउरा दिया है, उसे न खाकर तू मिट्टी खा रहा है ।'

आपने कहा—'माँ ! यह सब मिट्टी ही तो है । सभी पदार्थ मिट्टीके ही विकार हैं ।'

माता इस गूढ़ ज्ञानको समझ गयी । पुचकारकर बोलीं—'बेटा ! हैं तो सब मिट्टी ही किन्तु काम सबका अलग-अलग है । घड़ा भी मिट्टी है, रेत भी मिट्टी है । घड़ेमें पानी भरकर लाते हैं, तो वह रखा रहता है और रेतमें पानी डालें तो वह सूख जायगा । इस लिये सबके काम अलग-अलग हैं ।'

आपने मुँह बनाकर कहा—'हाँ, ऐसी बात है ? तब हमें तैंने पहिलेसे क्यों नहीं बताया, अब ऐसा न किया करेंगे । अब कभी मिट्टी न खायेंगे । भूख लगनेपर तुझसे ही माँग लिया करेंगे ।'

इस प्रकार भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाओंके द्वारा निमाई माताको दिव्य सुखका आस्वादन कराने लगे । माता इनकी भोली और गूढ़ ज्ञानसे सनी हुई बातें सुन-सुनकर कभी तो आश्चर्य करने लगतीं, कभी आनन्दके सागरमें गोता लगाने लगतीं ।

बाल-लीला

पंकाभिषिक्तसकलावयवं विलोक्य
दामोदरं वदति कोपवशाद् यशोदा।
त्वं सूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे !
इत्युक्तस्मितमुखोऽवतु नो मुरारिः ॥*

निमाईकी सभी लीलाएँ दिव्य हैं। अन्य साधारण बालकोंकी भाँति वे चञ्चलता और चपलता तो करते हैं, किन्तु इनकी चञ्चलतामें एक अलौकिक भावकी आभा दृष्टिगोचर होती है। जिसके साथ ये चपलता करते हैं, उसे किसी भी दशामें इनके ऊपर गुस्सा नहीं आता, प्रत्युत वह प्रसन्न ही होता है। ये चञ्चलताकी हद कर देते हैं, जिस बातके लिये मना किया जाय, उसे ही ये हठपूर्वक बार-बार करेंगे—यही इनकी विशेषता थी। इन्हें अपवित्र या पवित्र किसी भी वस्तुमें राग या द्वेष नहीं। इनके लिये सब समान ही है।

एक दिनकी बात है कि निमाईके पिता पण्डित जगन्नाथ मिश्र गङ्गास्नान करके घर लौट रहे थे। उन्होंने अपने घरके समीप एक परदेशी ब्राह्मणको देखा। देखनेमें वह ब्राह्मण किसी शुभ तीर्थका प्रतीत होता था।

---

* एक दिन यशोदाजीने खूब अच्छी तरह नहला-धुलाकर बालक कृष्णको आँगनमें बिठा दिया। थोड़ी देरमें माता क्या देखती है, कि कृष्ण सम्पूर्ण शरीरमें कीच लपेटे हुए आ रहे हैं। उन्हें देखकर माताको बड़ा गुस्सा आया और बोलीं—'ओः पूतनाके मारनेवाले ! मालूम पड़ता है, तू पहिले जन्ममें सूकर था, इसीलिये तेरी यह कीचमें लोटनेकी आदत अभीतक बनी है।' ऐसी बात सुनकर कृष्ण विस्मित-से होकर माताके मुखकी ओर देखने लगे। भक्त कहता है, ऐसे बालकृष्ण हमारा कल्याण करें।

उसके चेहरेपर तेज था, माथेपर चन्दनका तिलक था और गलेमें तुलसी-की माला थी। मुखसे प्रतिक्षण भगवन्नामका जप कर रहा था। मिश्रजीने ब्राह्मणको देखकर नम्रतापूर्वक उनके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने यहाँ आतिथ्य स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। मिश्रजीके शील-स्वभावको देखकर ब्राह्मणने उनका अतिथि होना स्वीकार किया और वे उनके साथ-ही-साथ घरमें आये।

घर पहुँचकर मिश्रजीने ब्राह्मणके चरणोंका प्रक्षालन किया और उस जलको अपने परिवारके सहित सिरपर चढ़ाया, घरमें छिड़का तथा आचमन किया। इसके अनन्तर विधिवत् अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय तथा फल-फूलके द्वारा ब्राह्मणकी पूजा की और पश्चात् भोजन बना लेनेकी भी प्रार्थना की। ब्राह्मणने भोजन बनाना स्वीकार कर लिया। शचीदेवीने घरके दूसरी ओर लीप-पोतकर ब्राह्मणकी रसोईकी सभी सामग्री जुटा दी। पैर धोकर ब्राह्मणदेव रसोईमें गये। दाल बनायी, चावल बनाये, शाक बनाया और आलू भूनकर उनका भुरता भी बना लिया। शचीदेवीने पापड़ दे दिये, उन्हें भूनकर ब्राह्मणने एक ओर रख दिया। सब सामग्री सिद्ध होनेपर ब्राह्मणने एक बड़ी थालीमें चावल निकाले, दाल भी हाँडीमेंसे निकालकर थालीमे रखी। केलेके पत्तेपर शाक और भुरता रखा। भुने पापड़को भातके ऊपर रखा। आसन-पर सुस्थिर होकर बैठ गये, सभी पदार्थोंमें तुलसीपत्र डाले। आचमन करके वे भगवान्‌का ध्यान करने लगे। आँखें बंद करके वे सभी पदार्थोंको विष्णु भगवान्‌के अर्पण करने लगे। इतनेमें ही घुटुओंसे चलते हुए निमाई वहाँ आ पहुँचे और जल्दी-जल्दी थालीमेंसे चावल लेकर खाने लगे। ब्राह्मण जब आँख खोलकर देखा तो सामने बालकको खाते पाया। ब्राह्मण एकदम चौंक उठा और जोरसे कहने लगा—'अरे, यह क्या हो गया!' इतना सुनते ही निमाई भयभीतकी भाँति वहाँसे भागने लगे। हाय-हाय करके मिश्रजी दौड़े। कोलाहल सुनकर शचीदेवी भी वहाँ आ गयीं। मिश्रजी

बालक निमाईको मारनेके लिये दौड़े। निमाई जल्दीसे जाकर माताके पैरोंमें लिपट गये। इतनेमें ही ब्राह्मण दौड़े आये। उन्होंने आकर मिश्रजीको पकड़ लिया और बड़े प्रेमसे कहने लगे—'आप तो पण्डित हैं, सब जानते हैं। भला बच्चेको चौके-चूल्हेका क्या ज्ञान? इसके ऊपर आप गुस्सा न करें। भोजनकी क्या बात है? थोड़ा चना-चर्वण खाकर जल पी लूँगा।'

सभीको बड़ा दुःख हुआ। आस-पासके दो-चार और भी ब्राह्मण वहाँ आ गये। सभीने मिलकर ब्राह्मणसे फिर भोजन बनानेकी प्रार्थना की। सभीकी बातको ब्राह्मण टाल न सके और वे दूसरी बार भोजन बनानेको राजी हो गये। शचीदेवीने जल्दीसे फिर चौका लगाया, ब्राह्मण देवता स्नान करके रसोई बनाने लगे। अबके बनाते-बनाते चार-पाँच बज गये। शचीदेवीने निमाईको पलभरके लिये भी इधर-उधर नहीं जाने दिया। संयोगकी बात, माता किसी कामसे थोड़ी देरके लिये भीतर चली गयीं। उसी समय ब्राह्मणने रसोई तैयार करके भगवान्‌के अर्पण की। वे आँख बंद करके ध्यान कर ही रहे थे कि उन्हें फिर खटपट-सी मालूम हुई। आँख खोलकर देखते हैं, तो निमाई फिर दोनों हाथोंसे चावल उठा उठाकर खा रहे हैं और दालको अपने शरीरसे मल रहे हैं। इतनेमें ही माता भीतरसे आ गयीं। निमाईको वहाँ न देखकर वह दौड़कर ब्राह्मणकी ओर गयीं। वहाँ दालसे सने हुए निमाईको दोनों हाथोंसे भात खाते हुए देखकर वे हाय-हाय करने लगीं। मिश्रजी भी पास ही थे। अबके वे अपने गुस्सेको न रोक सके। बालकको जाकर पकड़ लिया। वे उसको तमाचा मारनेको ही थे कि ब्राह्मणने जाकर उनका हाथ पकड़ लिया और विनती करके कहने लगे 'आपको मेरी शपथ है जो बच्चेपर हाथ उठावें। भला, अबोध बालकको क्या पता? रहने दीजिये, आज भाग्यमें भोजन बदा ही नहीं है।'

निमाई डरे हुए माताकी गोदीमें चुपचाप चिपटे हुए थे, बीच-बीचमें पिताकी ओर छिपकर देख भी लेते कि उनका गुस्सा अभी शान्त हुआ या

नहीं । माताको उनकी डरी हुई भोलीभाली सूरतपर बड़ी दया आ रही थी । इसलिये वे कुछ भी न कहकर चुपचाप उन्हें गोदमें लिये खड़ी थीं ।

ब्राह्मणके आनेके पूर्व ही विश्वरूप भोजन करके पाठशालामें पढ़नेके लिये चले गये थे । उसी समय वे भी लौट आये । आकर उन्होंने अतिथि ब्राह्मणके चरणोंको स्पर्श करके प्रणाम किया और चुपचाप एक ओर खड़े हो गये । उनके सौन्दर्य, तेज और ओजको देखकर ब्राह्मणने मिश्रजीसे पूछा—'यह देवकुमारके समान तेजस्वी बालक किसका है ?' कुछ लजाते हुए मिश्रजीने कहा—'यह आपका ही है ।' ब्राह्मण एकटक विश्वरूपकी ओर देखने लगा । विश्वरूपके विश्वविमोहन रूपके देखनेसे ब्राह्मणकी तृप्ति ही नहीं होती थी । धीरे-धीरे विश्वरूपको सभी बातोंका पता चल गया । उन्होंने ब्राह्मण देवताके सामने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज ! अबकी बार आप मेरे आग्रहसे भोजन और बना लें । अबके मैं अपने ऊपर जिम्मेवारी लेता हूँ । अबकी बार आपको भोजन पानेतकमें किसी भी प्रकारका विघ्न न होगा ।'

ब्राह्मणने बड़े ही प्रेमसे विश्वरूपको पुचकारते हुए कहा—'भैया ! तुम मेरी तनिक भी चिन्ता न करो । मेरी कुछ एक ही दिनकी बात थोड़े ही है । मैं तो सदा ऐसे ही घूमता रहता हूँ । मुझे रोज-रोज भोजन बनानेका अवसर कहाँ मिलता है ? कभी-कभी तो महीनों वनके कन्द मूल-फलोंपर ही रहना पड़ता है । बहुत दिन चना-चर्वणपर ही गुजर होती है, कभी-कभी उपवास भी करना पड़ता है । इसलिये मुझे तो इसका अभ्यास है । तुम्हारे यहाँ कुछ मीठा या चना-चर्वण हो तो मुझे दे दो उसे ही पाकर जल पी लूँगा । अब कल देखी जायगी ।'

विश्वरूपने बड़ी नम्रतासे दीनता प्रकट करते हुए कहा—'महाराज ! यह तो हम आपके स्वभावसे ही जानते हैं कि आपको स्वयं किसी बातकी

इच्छा नहीं। किन्तु आपके भोजन करनेसे ही हम सबको सन्तोष होगा। मेरे पूज्य पिताजी तथा माताजी बहुत ही दुखी हैं। इनका साहस ही नहीं हो रहा है कि आपसे पुनः प्रार्थना करें। इन सबको तभी सन्तोष हो सकेगा जब आप स्वयं बनाकर फिर भोजन करें। अपने लिये नहीं किन्तु हमारी प्रसन्नताके निमित्त आप भोजन बनावें।'

विश्वरूपकी वाणीमें प्रेम था, उनके आग्रहमें आकर्षण था और उनकी विनयमें मोहकता थी। ब्राह्मण फिर कुछ भी न कह सके उन्होंने पुनः भोजन बनाना आरम्भ कर दिया।

अबके निमाईको रस्सीसे बाँधकर माता तथा विश्वरूपने अपने पास ही सुला लिया। ब्राह्मणको भोजन बनानेमें बहुत रात्रि हो गयी। दैवकी गति उसी समय सबको निद्रा आ गयी। ब्राह्मणने भोजन बनाकर ज्यों ही भगवान्‌के अर्पण किया त्यों ही साक्षात् चतुर्भुज भगवान् उनके सामने आ उपस्थित हुए। देखते-ही-देखते उनके चारकी जगह आठ भुजाएँ दृष्टिगोचर होने लगीं। चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान थे। एकमें माखन रखा था। दूसरेसे खा रहे थे। शेष दो हाथोंसे मुरली बजा रहे थे। भगवान्‌ने हँसते हुए कहा—'तुम मुझे बुलाते थे, मैं बालकरूपमें तुम्हारे पास आता था, तुमने मुझे पहिचाना नहीं। मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे अपना अभीष्ट वर माँगो।'

गद्‌गद कण्ठसे हाथ जोड़े हुए ब्राह्मणने धीरे-धीरे कहा—'हे पुरुषोत्तम! आपकी माया अनन्त है, भला मैं क्षुद्र प्राणी उसे कैसे समझ सकता हूँ! हे निरञ्जन! मुझ अज्ञानीके ऊपर आपने इतनी कृपा की, मैं तो अपनेको इसके सर्वथा अयोग्य समझता हूँ। भगवन्! मैंने न कोई तप किया, न कभी ध्यान किया; जप, दान, धर्म, पूजा, पाठ मैंने आपकी प्रसन्नताके निमित्त कुछ भी तो नहीं किया। फिर भी मुझ दीन-हीन कंगालपर

आपने इतनी कृपा की, इसे मैं आपकी स्वाभाविक करुणा ही समझता हूँ। मेरा कोई ऐसा साधन तो नहीं था, जिससे आपके दर्शन हो सकें। हे नाथ ! यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं तो यही वरदान दीजिये कि आपकी मञ्जुल मूर्ति मेरे मन-मन्दिरमें सदा बनी रहे।'

'एवमस्तु' कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मणने बड़े ही आनन्द और उल्लासके साथ भोजन किया। इतनेमें ही माता आदिकी आँखें खुलीं। निमाईको पास ही सोता देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई। जब देखा कि ब्राह्मण भी बड़े प्रेमसे प्रसाद पाकर निवृत्त हो गये हैं तब तो उन्हें परम सन्तोष हुआ। प्रातःकाल ब्राह्मण देवता निमाईको मन-ही-मन प्रणाम करके चले गये और जबतक वे रहे नित्यप्रति किसी-न-किसी समय आकर निमाईके दर्शन कर जाते थे। ऐसे बड़भागी भक्तोंके दर्शन सद्गृहस्थियोंको ही कभी-कभी होते हैं।

निमाई अब थोड़ा-थोड़ा बोलने भी लगे थे। स्त्रियाँ खिलाते-खिलाते कहतीं—'निमाई ! तू ब्राह्मणका बालक होकर भिखारी ब्राह्मणके हाथके चावल खा लेता है, अब तेरी जाति कहाँ रही ! तेरा विवाह भी न होगा। बहू भी न आवेगी। बेटा ! ऐसे किसीके हाथके चावल नहीं खाये जाते। देख, ब्राह्मणके बालक खूब पवित्रतासे रहते हैं। तू अच्छी तरहसे रहेगा, उपद्रव न करेगा तो तेरी बहुआ-सी बहू आवेगी; रुन-झुन करती हुई घरमें घूमेगी। अब तो ऐसी बदमासी न करेगा ?'

निमाई धीरे-धीरे कहने लगते—'हमें ब्राह्मणपनेसे क्या ? हम तो ग्वाल-बाल हैं। ग्वालोंकी ही तरह जहाँ मिल जाता है खा लेते हैं। लाओ तुम्हारे घरका खा लें।' यह सुनकर सभी हँसने लगतीं और निमाईको सन्देश (मिठाई) आदि चीजें खानेको देतीं।

चाञ्चल्य

किं मिष्टं सुतवचनं मिष्टतरं किं तदेव सुतवचनम्।
मिष्टान्मिष्टतमं किं श्रुतिपरिपक्वं तदेव सुतवचनम् ॥*

(सु० र० भां० ९३। ९)

इतनी चञ्चलता करनेपर भी मिश्र-दम्पतीका प्रेम निमाईके प्रति अधिकाधिक बढ़ता ही जाता था। यही नहीं, किन्तु निमाईकी चञ्चलतामें माता-पिताको एक अपूर्व आनन्द आता था। मिश्रजी तो मनुष्य-स्वभावके कारण कभी-कभी बहुत चञ्चलतासे ऊबकर नाराज भी हो जाते, किन्तु माताका हृदय तो सदा बच्चेकी बातें सुननेके लिये छटपटाता ही रहता सच है, बच्चेकी बोलीमें मोहिनी विद्या है। संसारमें बच्चेकी तोतली बोलीसे बढ़कर बहुमूल्य वस्तु मिल ही नहीं सकती। देखा गया है, प्रायः माताका सबसे छोटी सन्तानपर बहुत अधिक ममत्व होता है। निमाई मिश्रजीकी

---

* मीठी वस्तु क्या है? पुत्रकी मीठी वाणी। सबसे मीठी वस्तु क्या है? वही पुत्रकी मधुर वाणी। अत्यन्त मीठीसे भी मीठी वस्तु क्या है? वेदशास्त्रों-द्वारा यही सुना गया है, कि कानोंमें खूब अच्छी तरहसे गूँजती हुई पुत्रकी वाणी ही सबसे मीठी है। अर्थात् पुत्रकी वाणीसे मीठी वस्तु कोई भी नहीं।

वृद्धावस्थामें उत्पन्न हुए थे इसीलिये उनका भी इनके प्रति आवश्यकतासे अधिक स्नेह था। इतनी चञ्चलता करनेपर भी मिश्रजी उन्हें बहुत अधिक डाँटते-फटकारते नहीं थे। इसलिये ये मिश्रजीके सामने भी चञ्चलता करनेमें नहीं चूकते थे। सबसे अधिक तो ये माताके सामने उपद्रव करते। माताके सामने इन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था। पिताके सामने थोड़ा संकोच करते और भाई विश्वरूपके सामने तो ये कभी भी उपद्रव नहीं करते थे, उनसे तो ये बहुत ही अधिक संकोच करते थे। विश्वरूप भी इनसे अत्यधिक स्नेह करते, किन्तु वह स्नेह अव्यक्त होता था। प्रायः वे अपने प्रेमको लोगोंके सामने प्रकट नहीं करते थे। निमाई भी उनका मन-ही-मन बहुत आदर करते थे। उनके आते ही भोले-भाले बालककी तरह चुपचाप बैठ जाते या बाहर उठ जाते।

अब ये पिताजीके साथ गंगा-स्नान करनेको भी जाने लगे। विश्वरूप सबकी धोती, तैल और भीगे आँवले लेकर आगे-आगे चलते और मिश्रजी उनके पीछे होते। निमाई कभी तो पिताजीकी उँगली पकड़कर चलते और कभी भाईका वस्त्र पकड़े हुए चलते। रास्तेमें चलते हुए इधर-उधर देखते जाते। पिताजीसे भाँति-भाँतिके ऊटपटाँग प्रश्न भी करते जाते। मिश्रजी किसीका तो उत्तर दे देते और किसीको वैसे ही टाल देते। कभी-कभी आप दोनोंसे अलग होकर चलते। इसपर विश्वरूप इन्हें बुलाकर झटसे गोदमें ले लेते। गंगा स्नान करके मिश्रजी तथा विश्वरूप सन्ध्या-वन्दन करते, ये भी बैठकर उनकी नकल करते। जैसे वे लोग जल छिड़कते, ये भी जल छिड़कते, जब वे आचमन करते, ये भी आचमन करते तथा सूर्यको अर्घ देनेपर ये भी खड़े होकर सूर्यको अर्घ देते। कभी-कभी तैल लगाकर स्नान करनेके अनन्तर फिर आप बालूमें लोट जाते। पिता फिरसे इन्हें स्नान कराते। घर आकर ये सब बातें अपनी मातासे कहते। स्त्रियाँ पूछतीं—'बेटा! अच्छा तुमने सन्ध्या कैसे की?' तब आप पद्मासन लगाकर बैठ जाते

और आँखें बंदकर धीरे-धीरे ओष्ठ हिलाने लगते। कभी-कभी नाक बंद करके प्राणायामका अभिनय करते। जब ये अपने छोटे-छोटे हाथोंको ऊपर उठाकर, सूर्यकी ओर टकटकी लगाकर उपस्थानका ढंग दिखाते तब स्त्रियाँ हँसते-हँसते लोट-पोट हो जातीं। इसी प्रकार ये जिस कामको देखते उसीकी नकल करते। इनके चाञ्चल्यसे कभी-कभी बड़ी हँसी होती।

एक दिन मिश्रजीके साथ ये गंगा-स्नान करने गये। स्नान करनेके अनन्तर मिश्रजी प्रायः पासके भगवान्‌के मन्दिरमें दर्शन करने जाया करते थे। ये भी शामके समय कभी-कभी बालकोंके साथ उसमें आरती देखने और प्रसाद लेने चले जाते थे। आज दोपहरको भी ये मिश्रजीके साथ मन्दिरमें चले गये। मिश्रजीने जिस प्रकार साष्टाङ्ग प्रणाम किया उसी प्रकार इन्होंने भी किया। उन्होंने प्रदक्षिणा की तब ये भी प्रदक्षिणा करने लगे। पिताजीको हाथ बाँधे देखकर इन्होंने भी हाथ जोड़ लिये और इधर-उधर देखते-भालते हाथ जोड़े जगमोहनमें बैठ गये। पुजारीजीने मिश्रजीको चम्मचमें थोड़ा केसर-कर्पूर-मिश्रित प्रसादी चन्दन दिया। इनका ध्यान तो उस तरफ था ही नहीं, ये तो न जाने किस चीजको देख रहे थे। पुजारीजीने थोड़ा-सा चन्दन इन्हे भी दिया। इन्होंने पञ्चामृतकी तरह दोनों हाथ फैलाकर चन्दनको ग्रहण किया और चटसे उसे खा गये। पुजारीजी तथा मिश्रजी यह देखकर हँसने लगे। कड़ुवा लगनेसे ये वहीं थू-थू करने लगे और गुस्सा दिखाते हुए बोले—'यह कड़ुवा-कड़ुवा प्रसाद पुजारीजीने न जाने आज कहाँसे दे दिया ?'

मिश्रजीने हँसते हुए कहा—'बेटा, यह प्रसादी चन्दन है! इसे खाते नहीं हैं मस्तकपर लगाते हैं।'

आपने मुँह बनाकर कहा—'तब आपने मुझे पहिलेसे यह बात क्यों नहीं बतायी थी ?'

पुजारीजीने जल्दीसे इन्हें एक पेड़ा दिया उसे पाकर ये खुश हो गये। घर आकर माताजीसे इन्होंने सभी बातें कह दीं।

अब तो ये अकेले भी गंगाजीपर चले जाते और वहाँ घंटों खेला करते। दो-दो, तीन-तीन बार स्नान करते। बालूके लड्डू बना-बनाकर अपने साथके लड़कोंको मारते, गंगाजीमेंसे पत्र-पुष्प निकाल-निकालकर उनसे बालूमें बाग बनाते और नाना प्रकारकी बाल-लीलाएँ करते। मिश्रजी इन्हें बहुत समझाते कि बेटा! कुछ पढ़ना भी चाहिये, किन्तु ये उनकी बातोंपर ध्यान ही न देते और दिनभर बालकोंके साथ खेला ही करते। एक दिन मिश्रजीको इनपर बड़ा गुस्सा आया, ये इन्हें पीटनेके लिये गंगा-किनारे गये। शचीदेवी भी मिश्रजीको क्रोधमें जाते देखकर गंगाकिनारेके लिये उनके पीछे-पीछे चल दीं। वहाँपर ये बच्चोंके साथ खूब उपद्रव कर रहे थे। मिश्रजी तो गुस्सेमें भरे ही हुए थे, इन्हें उपद्रव करते देखकर वे आपेसे बाहर हो गये और इन्हें पकड़नेके लिये दौड़े। ये भी बड़े चालाक थे, पिताको गुस्सेमें अपनी ओर आते देखकर ये खूब जोरसे घरकी तरफ भागे। रास्तेमें माता मिल गयीं। झटसे ये उनसे जाकर लिपट गये। माताने इन्हें गोदमें उठा लिया, ये उनके अञ्चलमें मुँह छिपाकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगे। माता कहती थीं—'तू बहुत उपद्रव करता है, किसीकी बात मानता ही नहीं, आज तेरे पिता तुझे खूब पीटेंगे।' इतनेमें ही मिश्रजी भी आ गये, वे बाँह पकड़कर इन्हें शचीदेवीकी गोदमेंसे खींचने लगे। माता चुपचाप खड़ी थीं। इसी बीच और भी १०-५ आदमी इधर-उधरसे आ गये। सभी मिश्रजीको समझाने लगे—'अभी बच्चा है, समझता नहीं। धीरे-धीरे पढ़ने लगेगा। आपको पण्डित होकर बच्चेपर इतना गुस्सा न करना चाहिये।' सब लोगोंके समझानेपर मिश्रजीका गुस्सा शान्त हुआ। पीछे उन्हें अपने इस कृत्यपर पश्चात्ताप भी हुआ।

कहते हैं, एक दिन रात्रिके समय स्वप्नमें किसी महापुरुषने इनसे कहा- 'पण्डितजी ! आप अपने पुत्रको साधारण पुरुष ही न समझें। ये अलौकिक महापुरुष हैं। इनकी इस प्रकार भर्त्सना करना ठीक नहीं।'

स्वप्नमें ही मिश्रजीने उत्तर दिया-'ये चाहे महापुरुष हों या साधारण पुरुष, जब ये हमारे यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं, तो हमें इनकी भर्त्सना करनी ही पड़ेगी। पिताका धर्म है कि पुत्रको शिक्षा दे। इसीलिये शिक्षा देनेके निमित्त हम ऐसा करते हैं।'

दिव्य पुरुषने फिर कहा-जब ये स्वयं सब कुछ सीखे हुए हैं और इन्हें अब किसी भी शास्त्रके सीखनेकी आवश्यकता नहीं तब आप इन्हें व्यर्थ क्यों तंग करते हैं ?'

इसपर इन्होंने कहा-'पिताका तो यही धर्म है, कि वह पुत्रको सदा शिक्षा ही देता रहे। फिर चाहे पुत्र कितना भी गुणी तथा शास्त्रज्ञ क्यों न हो। मैं अपने धर्मका पालन अवश्य करूँगा और आवश्यकता होनेपर इनको दण्ड भी दूँगा।' महापुरुष इनसे प्रसन्न होकर अन्तर्धान हो गये। प्रातःकाल ये इस बातपर सोचते रहे। कालान्तरमें ये इस बातको भूल गये।

इनकी अवस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी त्यों-ही-त्यों इनकी कान्ति और भी दिव्य प्रतीत होने लगी। ये शरीरसे खूब हृष्ट-पुष्ट थे। शरीरके सभी अंग सुगठित और मनोहर थे। शरीरमें इतना बल था, कि ४-४, ५-५ लड़के मिलकर भी इनको पराजित नहीं कर सकते थे। इनके चेहरेसे चञ्चलता सदा छिटकती रहती। जो भी इन्हें देखता खुश हो जाता और साथ ही सचेष्ट भी हो जाता कि कहीं हमसे भी कोई चञ्चलता न कर बैठें। रास्तेमें ये सदा कूदकर चलते। सीढ़ियोंसे गङ्गाजीमें उतरना हो तो सदा एक-दो सीढ़ी छोड़कर ही कूदते-कूदते उतरें। रास्तेमें दो-चार लड़कोंको खेलते

देखकर ये किसी दूसरेको उनके ऊपर ढकेल देते और फिर बड़े जोरोंसे हँस पड़ते।

गङ्गा-किनारेपर छोटी-छोटी कन्याएँ पूजाकी सामग्री लेकर देवी तथा गङ्गाजीकी पूजा करने जातीं। आप उनके पास पहुँच जाते और कहते-'सब नैवेद्य हमें चढ़ाओ, हम तुम्हें मनोवाञ्छित वर देंगे।' छोटी-छोटी कन्याएँ इनके अपूर्व रूपलावण्यको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो जातीं और इन्हें बहुत-सी मिठाई खानेको देतीं। ये उन्हें वरदान देते। किसीसे कहते-'तुम्हें खूब रूपवान् सुन्दर पति मिलेगा।' किसीसे कहते 'तुम्हारा विवाह बड़े भारी धनिकके यहाँ होगा।' किसीसे कहते 'तुम्हारे पाँच बच्चे होंगे।' किसीको सात, किसीको ग्यारह बच्चोंका वरदान देते। कन्याएँ सुनकर झूठा रोप दिखाते हुए कहतीं-'निमाई! तू हमसे ऐसी बातें किया करेगा तो फिर हम तुझे मिठाई न देंगी।' बहुत-सी कन्याएँ अपना नैवेद्य छिपाकर भाग जातीं तब ये उनसे हँसते-हँसते कहते—'भले ही भाग जाओ मुझे क्या, तुम्हें काना पति मिलेगा। धनिक भी होगा तो महा कंजूस होगा। ५-५ सौत घरमें होंगी, लड़की-ही-लड़की पैदा होंगी।' यह सुनकर सभी लड़कियाँ हँसने लगतीं और इन्हें लौटकर मिठाई दे जातीं। किसीसे कहते हमारी पूजा करो, हम ही सबके प्रत्यक्ष देवता हैं। कभी-कभी मालाएँ उठा-उठाकर गलेमें डाल लेते। स्त्रियोंके पास चले जाते और उन्हें पूजन करते देख कहते—'हरिको भजे तो लड़का होय। जाति पाँति पूछै ना कोय।' यह सुनकर स्त्रियाँ हँसने लगतीं। जो इनकी गाँवनातेसे भाभी या चाची होतीं वे इन्हें खूब तंग करतीं और खानेको मिठाई देतीं।

इन्हीं लड़कियोंमें लक्ष्मीदेवी भी पूजा करने आया करती थी। वह बड़ी ही भोली-भाली लड़की थी। निमाईके प्रति उसका स्वाभाविक ही स्नेह था। पूर्व-जन्मोंके संस्कारके कारण वह निमाईको देखते ही लज्जित

हो जाती और उसके हृदयमें एक अपार आनन्द-स्रोत उमड़ने लगता। ये सब लड़कियोंके साथ उसे भी देखते, किन्तु इससे कुछ भी नहीं कहते थे, न कभी इससे मिठाई ही माँगी। इसलिये लक्ष्मीदेवीकी हार्दिक इच्छा थी कि कभी ये मेरा भी नैवेद्य स्वीकार करें। किन्तु बिना माँगे देनेमें न जाने क्यों उसे लज्जा लगती थी!

एक दिन लक्ष्मीदेवीको पूजाके लिये जाती देखकर आपने उससे कहा—'तू हमारी ही पूजा कर।' यह सुनकर भोली-भाली कन्या बड़ी ही श्रद्धाके साथ इनकी पूजा करने लगी। छोटी-छोटी, पतली-पतली उँगलियोंसे काँपते हुए उसने निमाईके मस्तकपर चन्दन चढ़ाया, अक्षत लगाये, माला पहिनायी, नैवेद्य समर्पण किया और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। निमाईने आशीर्वाद दिया—'तुम्हे देवतुल्य रूपवान् तथा गुणवान् पति प्राप्त हो।' यह सुनकर बेचारी कन्या लज्जाके मारे जमीनमें गड़-सी गयी और जल्दी यहाँसे भाग आयी। कालान्तरमें इन्हीं लक्ष्मीदेवीको निमाईकी प्रथम धर्मपत्नी होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ये अपने साथके सभी लड़कोंमे सरदार समझे जाते थे। चञ्चलता तो मानो इनकी नस-नसमें भरी हुई थी। नटखटपनेमें इनसे बढ़कर दूसरा बालक नहीं था। सभी लड़के इनसे अत्यधिक स्नेह करते, मानो ये बालसेनाके सर्वप्रधान सेनापति थे। लड़के इनका इशारा पाते ही कर्तव्य-अकर्तव्य सभी प्रकारके काम कर डालते। बालकपनसे ही इनमें यह मोहिनी विद्या थी, कि जो एकबार इनके साथ रह गया, वह सदाके लिये इनका गुलाम बन जाता था। इसलिये ये अपने सभी साथियोंको लेकर गङ्गा-किनारे भाँति-भाँतिकी बालक्रीड़ाएँ करते। इन्हें स्त्री-पुरुषोंको तंग करनेमें बड़ा मजा आता था। कभी-कभी ये बहुत-से बालूके छोटे-छोटे लड्डू बनवाते। सभीकी झोलियोंमें दस-दस बीस-बीस लड्डू भर देते और

एक ओर खड़े हो जाते। गङ्गा-स्नान करके जो भी निकलता सभी एक साथ तड़ातड़ बालूके लड्डू उनके ऊपर फेंकते और जल्दीसे फेंककर भाग जाते। कभी-कभी किसीकी सूखी धोती लेकर गङ्गाजीमें डुबो देते। कभी ऐसा करते कि जहाँ दस-पाँच आदमी बैठे हुए बातें करते होते तो ये उनके पास जा बैठते और धीरेसे एकके वस्त्रको दूसरेके वस्त्रको बाँध देते। जब वे स्नान करनेको उठते तो एक दूसरेको अपनी ओर खींचता। कभी-कभी वस्त्र भी फट जाता। ये अपने साथियोंके साथ अलग खड़े हुए ताली बजा-बजाकर खूब जोरोंसे हँसते; सभी लोग हँसने लगते। बेचारे वे लज्जित हो जाते।

कभी लड़कोंके साथ घंटों स्नान करते रहते। एक दूसरेके ऊपर घंटों पानी उलीचते रहते। किसीको कच्छप बनाकर आप उसके ऊपर चढ़ जाते। कभी धोतीमें हवा भरकर उसके साथ गङ्गाजीके प्रवाहकी ओर बहते और कभी उस धोतीके फूले हुए गुब्बारेमेंसे हवाके बुलबुले निकालते। स्त्रियोंके घाटोंपर चले जाते, वहाँ पानीमें डुबकी लगाकर कछुएका रूप बना लेते और स्नान करनेवाली स्त्रियोंके पैर डुबकी मारकर पकड़ लेते। स्त्रियाँ चीत्कार मारकर बाहर निकलतीं तब ये हँसते-हँसते जलके ऊपर आते और सबसे कहते—'देखो हम कैसे कछुए बने।' स्त्रियाँ मधुर-मधुर भर्त्सना करतीं और कहतीं—'तू आज घर चल, मैं तेरी माँजीसे सब शिकायत करूँगी। मिश्रजी तुझे मारते-मारते ठीक कर देंगे।' कोई कहती 'इतना दंगली लड़का तो हमने कोई नहीं देखा। यह तो हद कर देता है। हमारे लड़के भी तो इसने बिगाड़ दिये। वे हमारी बातें मानते ही नहीं।' कोई कहती 'न जाने वीर! इस छोकरेमें क्या जादू है, इतना उपद्रव करता है, फिर भी यह मुझे बहुत प्यारा लगता है।' इस बातका सभी समर्थन करतीं।

स्त्रियोंकी ही भाँति पुरुष भी इनके भाँति-भाँतिके उपद्रवोंसे तंग आ गये। बहुतोंने जाकर इनके पितासे शिकायत की। स्त्रियाँ भी शचीमाताके पास जा-जाकर मीठा उलाहना देने लगीं। शचीदेवी सभीकी खुशामद करतीं और विनयके साथ कहतीं 'अब मैं क्या करूँ, तुम्हारा भी तो वह लड़का है। बहुत मना करती हूँ, शैतानी नहीं छोड़ता, तुम उसे खूब पीटा करो।' स्त्रियाँ सुनकर हँस पड़तीं और मन-ही-मन खुश होकर लौट जातीं।

एक दिन कई पण्डितोंने जाकर निमाईकी मिश्रजीसे शिकायत की और कहा 'अभी जाकर देख आओ तब तुम्हें पता चलेगा कि वह कितना उपद्रव करता है।' यह सुनकर मिश्रजी गुस्सेमें भरकर गङ्गा-किनारे चले। किसीने यह संवाद जाकर निमाईसे कह दिया। निमाई जल्दीसे दूसरे रास्ते होकर घर पहुँचे और अपने शरीरपर खड़ी आदि लगाकर मातासे बोले 'अम्मा! मुझे तैल दे दे मैं गङ्गा-स्नान कर आऊँ।' माताने कहा—'अभीतक तैंने स्नान नहीं किया क्या?'

आपने कहा 'अभी स्नान कहाँ किया! तू जल्दीसे मुझे तैल और धोती दे दे।' यह कहकर आप तैल हाथमें लेकर और धोती बगलमें दबाकर गङ्गाजीकी ओर चले। उधर मिश्रजीने गङ्गाजीके किनारे जाकर बच्चोंसे पूछा 'यहाँ निमाई आया था क्या?' बच्चे तो पहिलेसे ही सिखाये-पढ़ाये हुए थे। उन्होंने कहा 'आज तो निमाई इधर आया ही नहीं।' यह सुनकर मिश्रजी घरकी ओर लौटने लगे। घरसे निकलते हुए बगलमें धोती दबाये निमाई मिले। मिश्रजीने कहा—'तू इतना दंगल क्यों किया करता है?'

आपने जोरसे कहा 'न जाने क्यों लोग हमारे पीछे पड़ गये हैं? यही बात अम्मा कहती थीं, कि स्त्रियाँ तेरी बहुत शिकायत करती थीं।

मैं तो अभी पढ़कर आ रहा हूँ । अबतक गङ्गाजीकी ओर गया ही नहीं । यदि ये हमारी झूठी शिकायतें आ-आकर करते हैं तो अब हम सत्य ही किया करेंगे ।'

मिश्रजी चुप हो गये और ये हँसते-हँसते गङ्गाजीकी ओर स्नान करने चले गये । लड़कोंमें जाकर अपनी चालाकीका सभी वृत्तान्त सुनाया । लड़के सुनकर खूब जोरसे हँसने लगे ।

इस प्रकार इनकी अवस्था ५ वर्षकी हो गयी । माता-पिताको इनकी इस चाञ्चल्य वृत्तिसे बहुत ही आनन्द प्राप्त होता । विश्वरूप इनसे ११-१२ वर्ष बड़े थे किन्तु वे जन्मसे ही बहुत अधिक गम्भीर थे, इसलिये पिता भी उनका बहुत आदर करते थे । अब तो उनकी अवस्था १६ वर्षकी हो चली थी, इसलिये 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्' अर्थात् पुत्र जब १६ वर्षका हो जाय तो उससे मित्रकी भाँति व्यवहार करना चाहिये, इस सिद्धान्तानुसार मिश्रजी उनके प्रति पण्डितका-सा व्यवहार करते ।

एक दिन माताने भोजन बनाकर तैयार कर लिया, किन्तु विश्वरूप अभीतक पाठशालासे नहीं आये । वे श्रीअद्वैताचार्यकी पाठशालामें पढ़ते थे । आचार्यकी पाठशाला मिश्रजीके घरसे थोड़ी दूर गङ्गाजीकी ओर थी । माताने निमाईसे कहा 'बेटा निमाई ! देख तेरा दादा अभीतक भोजन करने नहीं आया । जाकर उसे पाठशालामेंसे बुला तो ला ।' बस, इतना सुनना था, कि ये नंगेबदन ही वहाँसे पाठशालाकी ओर चल पड़े ।

शरीरकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णकी भाँति सूर्यके प्रकाशके साथ मिलकर झलमल-झलमल कर रही थी । गौरवर्ण-शरीरपर स्वच्छ साफ धोती बड़ी ही भली मालूम पड़ती थी । निमाई आधी धोती ओढ़े हुए थे । उनके बड़े-बड़े विकसित कमलके समान सुन्दर और स्वच्छ नेत्र मुखचन्द्रकी शोभाको द्विगुणित कर रहे थे । आचार्यके सामने हँसते-हँसते इन्होंने भाईसे कहा 'दादा ! चलो भात तैयार है, अम्मा तुम्हें बुला रही हैं ।'

विश्वरूपने निमाईको गोदमें बिठा लिया और स्नेहसे बोले—'निमाई! आचार्यदेवको प्रणाम करो' यह सुनकर निमाई कुछ लजाते हुए मुसकराने लगे। वे लज्जाके कारण भाई विश्वरूपकी गोदमें छिपे-से जाते थे। आचार्य-से आज्ञा लेकर विश्वरूप घर चलनेको तैयार हुए। निमाई विश्वरूपका वस्त्र पकड़े उनके पीछे खड़े हुए थे। आचार्यने निमाईको खूब ध्यानसे देखा। आज पहिले-ही-पहिले उन्होंने निमाईको भलीभाँति देखा था। देखते ही उनके सम्पूर्ण शरीरमें बिजली-सी दौड़ने लगी। उन्हें प्रतीत होने लगा कि मैं इतने दिनसे जिन भवभयहारी जनार्दनकी उपासना कर रहा हूँ, वे ही जनार्दन साकार बनकर बालक-रूपमें मुझे अभय प्रदान करने आये हैं। उन्होंने मन-ही-मन निमाईके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और अपने भावको दबाते हुए बोले—'विश्वरूप! यह तुम्हारे भाई हैं न?'

विश्वरूपने नम्रतापूर्वक कहा—'हाँ, आचार्यदेव! यह मेरा छोटा अनुज है। बड़ा चञ्चल है, आपके सामने वह ऐसे चुपचाप भोले बालककी भाँति खड़ा है, आप इसे गङ्गा-किनारे या घरपर देखें तब पता चले कि यह कितना कौतुकी है। संसारको उलट-पलट कर डालता है। माता तो इससे तंग हो जाती हैं।' आचार्य यह सुनकर हँसने लगे। निमाई विश्व-रूपकी आड़मेंसे छिपकर आचार्यकी ओर देखने लगे। विश्वरूपका वस्त्र पकड़कर जाते-जाते दो-तीन बार निमाईने फिर-फिर आचार्यकी ओर देखा। आचार्य चेतना-शून्य-से हो गये। वे ठीक-ठीक न समझ सके कि हमारे चित्तको यह बालक हठात् अपनी ओर क्यों आकर्षित कर रहा है। अन्तमें ये ही आचार्य गौराङ्गदेवके मुख्य पार्षद हुए जिनके द्वारा गौराङ्ग अवतारी माने जाने लगे। इसलिये अब यह जान लेना जरूरी है कि ये अद्वैताचार्य कौन थे और इनकी पाठशाला कैसी थी?

विश्वरूपका वस्त्र पकड़कर जाते-जाते दो-तीन बार निमाईने फिर-फिर आचार्यकी ओर देखा । [पृष्ठ १०८]

अद्वैताचार्य और उनकी पाठशाला

गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।
पापं तापं च दैन्यं च घ्नन्ति सन्तो महाशयाः ॥*

(सु० र० भां० ४७ । ६)

जो आचार्य अद्वैत गौर-धर्मके प्रधान स्तम्भ हैं, गौर-लीलाओंके जो प्रथम प्रवर्तक, प्रबन्धक और संयोजक समझे जाते हैं, जिन्होंने वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और बुद्धिवृद्ध होनेपर भी बालक गौराङ्गकी पद-रजको अपने मस्तकका सर्वोत्तम लेपन बनाया, जिन्होंने गौराङ्गसे पहिले अवतीर्ण होकर गौर-लीलाके अनुकूल वायुमण्डल बनाया, उत्तम-से-उत्तम रंगमञ्च तैयार किया, उसपर गौराङ्गको प्रधान अभिनय-कर्ता बनाकर भक्तोंके साथ भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करायीं और गौराङ्गके तिरोभावके अनन्तर अपनी सम्पूर्ण लीलाओंका संवरण करके आप भी तिरोहित हो गये। उन अद्वैताचार्यके पूर्वज श्रीहट्ट (सिलहट) जिलेमें लाउड़ परगनेके अन्तर्गत नवग्राम नामके एक छोटे-से ग्राममें रहते थे । हम पहिले ही बता चुके हैं, कि उस समय भारतमें बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमें प्रायः स्वतन्त्र ही नरपति शासन करते थे । लाउड़ भी एक छोटी-सी रियासत थी । उन दिनों उस रियासतके शासनकर्ता महाराज दिव्यसिंहजी थे । महाराज परम धार्मिक तथा गुणग्राही थे । उनकी सभामें पण्डितोंका बहुत सम्मान होता था । आचार्यके पूज्य पिता पण्डित कुबेर तर्कपञ्चानन महाराजकी सभाके राज-पण्डित थे ।

---

* श्रीगंगाजी पापोंको क्षय कर देती हैं, चन्द्रमा तापको शमन करनेमें समर्थ हैं और कल्पवृक्ष दैन्यको नष्ट कर सकते हैं, किन्तु महानुभाव संत तो पाप, ताप और दैन्य इन सभीको नष्ट करनेमें समर्थ होते हैं ।

तर्कपञ्चानन महाशय न्यायके अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता-की चारों ओर ख्याति थी। विद्वान् होनेके साथ-ही-साथ वे धनवान् भी थे, किन्तु एक ही दुःख था, कि उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसी कारण वे तथा उनकी धर्मपत्नी लाभादेवी सदा चिन्तित बनी रहती थीं। लाभादेवीके गर्भसे बहुत-से बच्चे हुए और वे असमयमें ही इस असार संसारको त्यागकर परलोकगामी हुए। इसी कारण तर्कपञ्चानन महाशय अपने पुराने गाँवको छोड़कर नवद्वीपके इस पार शान्तिपुरमें आकर रहने लगे। यहींपर लाभादेवीके गर्भ रहा और यथासमयपर पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्रका नाम रखा गया कमलाक्ष। ये ही कमलाक्ष आगे चलकर महाप्रभु अद्वैतके नामसे प्रसिद्ध हुए।

बालक कमलाक्ष आरम्भसे ही विनयी, चतुर, मेधावी तथा भगवत्-परायण थे। उन दिनों बंगालमें शाक्त-धर्म और वाम-मार्गका बोलबाला था। धर्मके नामपर लाखों मूक प्राणियोंका वध किया जाता था और उसे बड़े-बड़े भट्टाचार्य और विद्यावागीश परम धर्म मानते और बताते थे। कमलाक्ष इन कृत्योंको देखते और मन-ही-मन दुखी होते, कि भगवान् कब इन लोगोंको सुबुद्धि देंगे, कब इन लोगोंका अज्ञान दूर होगा, जिससे कि धर्मके नामसे ये प्राणियोंकी हिंसा करना बंद कर दें। निर्भीक ये बालकपनसे ही थे, जिस बातको सत्य समझ लेते उसे किसीके भी सामने कहनेमें नहीं चूकते फिर चाहे वह कितना ही बड़ा आदमी क्यों न हो।

एक बारकी बात है कि राज्यकी ओरसे कालीदेवीकी विशेष पूजाके उपलक्ष्यमें एक बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। इस समारोहमें बालक कमलाक्ष भी गये। उन्होंने देखा कालीमाईकी भेंटके लिये सैकड़ों बकरे तथा भैंसोंका बलिदान किया गया है। दूर-दूरसे कालीमाईके कीर्तनके

लिये सुप्रसिद्ध कीर्तनकार बुलाये गये हैं। कमलाक्ष भी काली-मण्डपमें बिना कालीमाईको प्रणाम किये जा बैठे। उनके इस व्यवहारसे महाराज दिव्यसिंहको बड़ा आश्चर्य हुआ। अपनी राजसभाके एक सुप्रतिष्ठित पण्डित्-के पुत्रके इस अधार्मिक व्यवहारसे वे क्षुब्ध-से हो गये और कहने लगे—'कमलाक्ष! तुम देवीको बिना ही प्रणाम किये कैसे बैठ गये?'

इसपर बालक कमलाक्षने कुछ रोषके साथ कड़ककर कहा—'देवी तो जगज्जननी है। सभी प्राणी उसकी सन्तान हैं। जो माता अपने पुत्रोंको खाती है, वह माता नहीं राक्षसी है। पुत्र चाहे कैसा भी कुपुत्र हो किन्तु माता कुमाता कभी नहीं होती 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' एक सच्चिदानन्द भगवान् ही पूजनीय और वन्दनीय हैं। उनको प्रणाम करनेसे ही सबको प्रणाम हो जाता है। आपलोग देवी-देवताओंके नामसे अपनी वासनाओंको पूर्ण करते हैं।'

बालकके मुखसे ऐसी बात सुनकर राजा दिव्यसिंह अवाक् रह गये। कमलाक्षके पिता कुबेर तर्कपञ्चानन भी वहाँ बैठे थे, उन्होंने महाराजका पक्ष लेकर कहा—'देवी-देवता सभी उस नारायणके ही रूप हैं। इसलिये देवीकी प्रतिमाके सम्मुख प्रणाम न करना महापाप है। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।'

पिताकी बात सुनकर कमलाक्ष निर्भीक होकर कहने लगे—'एक जनार्दन भगवान्‌हीकी पूजासे सबकी पूजा हो सकती है, जहाँ प्राणियोंकी हिंसा होती हो, वह न तो देवस्थान है और न वह देवपूजा ही है।'

छोटे बालकके मुखसे ऐसी बातें सुनकर सभी दर्शक आश्चर्यचकित हो गये। महाराजने इनकी बुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की। इस प्रकार अल्पावस्थामें ही इन्होंने अपनी निर्भीकता, दयालुता और वैष्णव-परायणताका परिचय दिया।

धीरे-धीरे इनकी अवस्था १२-१३ वर्षकी हुई। पिताके समीप पढ़नेसे इनकी तृप्ति नहीं हुई। उन दिनों इनके पिता लाउड़में ही रहते थे, ये विद्याध्ययनके निमित्त शान्तिपुर चले गये, समाचार मिलनेपर इनके माता-पिता भी इनके समीप शान्तिपुर ही आ गये। यहाँपर रहकर इन्होंने वेद-वेदाङ्ग तथा नव्य न्यायकी विशेष शिक्षा प्राप्त की। थोड़े ही दिनोंमें ये एक नामी पण्डित गिने जाने लगे। कालान्तरमें इनके माता-पिता परलोकवासी हुए। मरते समय इनके पिता आदेश दे गये थे कि—'हमारा गयाजीमें जाकर श्राद्ध अवश्य करना।' पिताकी अन्तिम आज्ञाको पालन करनेके निमित्त और उनकी परलोकगत आत्माकी शान्तिके निमित्त इन्होंने श्रीगयाधामकी यात्रा की और वहाँपर श्रीगदाधर भगवान्‌के चरण-चिह्नोंका दर्शन करके शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पितृश्राद्ध आदि सभी कृत्य बड़ी श्रद्धाके साथ कराये।

अद्वैताचार्य अब युवा हो गये थे, भक्तिका अंकुर उनके हृदयमें जन्मसे ही था। विद्याने उनके भक्तिभाव तथा प्रेमको और भी अधिक विकसित कर दिया। वे सदा जीवोंके कल्याणकी ही बात सोचा करते थे। संसारसे उन्हें कुछ उपरामता-सी हो गयी। चित्तमें वैराग्य तो पहिलेहीसे था। अब माता-पिताके परलोक-गमनसे ये निश्चिन्त हो गये। इसलिये इन्होंने भारतके प्रायः सभी मुख्य-मुख्य पुण्य-तीर्थोंकी यात्रा की। सेतुबन्ध रामेश्वर, शिवकाञ्ची, मदुरा आदि तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए ये भगवान् मध्वाचार्यके आश्रमपर पहुँचे। वहाँपर श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी महाराज भी उपस्थित थे। इन *श्रीमाधवेन्द्रपुरीने ही पहिले-पहिल संन्यासियोंमें भक्तिभाव* तथा मधुर उपासनाका प्रचार किया। इनके प्रसिद्ध शिष्योंमें श्रीईश्वरपुरी, श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीब्रह्मानन्दपुरी, श्रीरङ्गपुरी, श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि तथा श्रीरघुपति उपाध्याय विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीईश्वरपुरी इनके

अन्तरङ्ग तथा प्रधान शिष्य थे। इन्हें ही श्रीगौराङ्गके दीक्षागुरु होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

श्रीमाधवेन्द्रपुरी अद्वैताचार्यको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए। उनकी शीलता, नम्रता, विद्या, भक्ति और देशके उद्धारकी सच्ची लगनको देखकर पुरी महाशय गद्गद हो उठे। उन्होंने अद्वैतको छातीसे लगाया और श्रीकृष्णमन्त्रकी दीक्षा देकर इनमें नवशक्तिका सञ्चार किया। अपने गुरुदेवके सामने भी इन्होंने अपनी मनोव्यथा कही। तब पुरी महाशयने इन्हें आश्वासन देते हुए कहा—'संसारकी रचना उन्होंने ही की है। इस बढ़ते हुए कदाचारको वे ही भक्तभयहारी भगवान् मेट सकेंगे, तुम घबड़ाओ मत। भगवान् शीघ्र ही अपने किसी विशेष रूपसे अवतीर्ण होकर भक्तिका उद्धार करेंगे।' गुरुदेवके आश्वासनसे इन्हें विश्वास हो गया कि भगवान् भक्तोंके भयको भञ्जन करनेके निमित्त अवश्य ही इस धराधामपर अवतीर्ण होंगे। इसलिये ये अपने गुरुदेवकी चरणरज मस्तकपर चढ़ाकर व्रजकी यात्रा करते हुए शान्तिपुर लौट आये।

श्रीअद्वैतकी कुशाग्र बुद्धि और भगवत्-भक्तिका श्रीमाधवेन्द्रपुरीपर प्रभाव पड़ा। जब उन्होंने गौड़देशकी यात्रा की तो वे शान्तिपुर भी पधारे और कुछ काल अद्वैताचार्यके ही घरमें रहे। अद्वैताचार्य नामी पण्डित होनेके साथ ही धनवान् भी थे। शान्तिपुरके वैष्णवोंके वे ही एकमात्र आधार थे। उन दिनों शास्त्रार्थ करना ही पाण्डित्यका प्रधान गुण समझा जाता था। वाद-विवादमें विपक्षीको पराजित करके अपने पाण्डित्यका प्रदर्शन करना ही उन दिनों भारी पण्डित होनेका प्रमाणपत्र था। इसलिये बहुत-से पण्डित अपनेको दिग्विजयी बताते थे और जिसके भी पाण्डित्यकी प्रशंसा सुनते उसीसे शास्त्रार्थ करनेको उद्यत हो जाते थे। आचार्यकी ख्याति सुनकर भी एक दिग्विजयी तर्कपञ्चानन महाशय इनसे शास्त्रार्थ करने आये और अन्तमें इनसे परास्त होकर वे इनके शिष्य बन गये।

इसलिये इनकी ख्याति अब पहिलेसे और भी अधिक हो गयी। इनके पिताके आश्रयदाता महाराज दिव्यसिंहजी भी इनकी प्रशंसा सुनकर इनके दर्शनोंके लिये आये। उन्होंने इनका भक्तिभावपूर्ण पाण्डित्य देखकर अपने सफेद बालोंवाला सिर इनके चरणोंपर रख दिया। और गद्गद कण्ठसे कहा—'आपने अपने सम्पूर्ण कुलका उद्धार कर दिया। कृपा करके मुझे भी अपने चरणोंकी शरण दीजिये।' बूढ़े राजा शाक्त होनेपर भी इनके शिष्य बन गये। वे इनमें बड़ी श्रद्धा रखते थे। अन्तमें उन्होंने राजकाज छोड़कर एकान्तमें अपना निवासस्थान बना लिया और कृष्ण-कीर्तन करते-करते ही शेष आयुका अन्त किया। अद्वैतकी बाल-लीलाओंका वे सदा गुणगान करते रहते थे। उन्होंने संस्कृतमें अद्वैतकी बाल-लीलाओंको लिखा भी था।

श्रीमाधवेन्द्रपुरीने इन्हें गृहस्थी बननेकी आज्ञा दी। गुरुदेवकी आज्ञा शिरोधार्य करके इन्होंने नारायणपुर-निवासी पण्डित नृसिंह भादुड़ीकी सीता और ठकुरानी नामकी दो पुत्रियोंके साथ विवाह किया और उनके साथ सुखपूर्वक समय बिताने लगे।

ये बड़े ही उदार, कोमलहृदय तथा कृष्ण-कथा-प्रिय थे। भेदभाव या संकीर्णताको ये कृष्ण-भक्तिमें बाधक समझते थे। उन्हीं दिनों परम भक्त हरिदास भी इनके पास आये। ये यवन-बालक थे, किन्तु ये बड़े होनहार तथा कृष्ण-भक्त, इसलिये आचार्यने इन्हें अपने पास ही रखकर व्याकरण, गीता, भागवत आदिको पढ़ाया। ये बड़े ही समझदार थे, आचार्यके चरणोंमें इनकी परम श्रद्धा थी, आचार्य भी इन्हें पुत्रकी तरह मानते तथा प्यार करते थे। हरिदास आचार्यके घरमें ही भोजन आदि करते थे। एक नामी पण्डित होकर अद्वैताचार्य मुसलमान-बालकको अपने घरमें रखते हैं, इस बातसे सभी पण्डित तथा ब्राह्मण इनका विरोध करने

लगे, किन्तु इन्होंने उनकी कुछ भी परवा न की। एक दिन किसी ब्राह्मणके यहाँ श्राद्धके समय सबसे प्रथम आचार्यने श्राद्धान्न हरिदासके ही हाथोंमें दे दिया। इससे कुपित होकर पण्डितोंने इनसे कुछ बुरा-भला कहा। इन्होंने निर्भय होकर कह दिया—'हरिदासको भोजन करानेसे मैं करोड़ों ब्राह्मणोंके भोजनोंका माहात्म्य समझता हूँ।' इनकी इस बातसे सभी भौंचक्के-से रह गये।

ये कोरे पण्डित ही न थे, किन्तु क्रियावान् भक्त और विचारवान् भी थे। ये शास्त्रोंका पठन-पाठन करते हुए भी सदा हरि-कीर्तन और भगवत्-भक्तिमें परायण रहते थे। उन दिनों अधिकांश पण्डित पुस्तकोंके कीड़े तथा शुष्क वाद-विवाद करनेवाले ही थे। शास्त्रोंके अनुसार क्रियाएँ करना तो वे जानते ही न थे। शास्त्रोंमें ऐसे पण्डितोंको मूर्ख कहा है—

> शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
> यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
> सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
> न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥

अर्थात् 'शास्त्र पढ़नेपर भी यदि उसके अनुसार आचरण न करे तो मनुष्य मूर्ख ही बना रहता है। जैसे कैसी भी बढ़िया-से-बढ़िया औषधको मनसे सोच लो, जबतक उसे घोट-पीसकर व्यवहारमें न लाओगे तबतक नीरोग कभी भी नहीं बन सकते।' उन दिनोंके पण्डित ऐसे ही अधिक थे। अद्वैताचार्यकी उनसे नहीं पटती थी, इसलिये इन्होंने अपनी एक नयी पाठशाला खोल ली। उसमें ये दिनभर तो शास्त्रोंको पढ़ाते थे और रात्रिमें हरिदास आदि अपने अन्तरङ्ग भक्तोंके साथ 'कृष्ण-' करते थे। इनकी पाठशालामें विशेषकर भक्ति-शास्त्रोंकी ही

इसलिये आस्तिक और भगवत्-भक्त पण्डितगण इनके प्रति बड़ी ही श्रद्धा रखते थे। कहते हैं एक वार पण्डित जगन्नाथ मिश्रके घर जाकर इन्होंने उन्हें पुत्रवान् होनेका आशीर्वाद दिया था, तभी विश्वरूपका जन्म हुआ। निमाई जब गर्भमें थे तब शचीदेवीने एक वार इनके चरणोंमें भक्तिभावसे प्रणाम किया। इन्होंने आशीर्वाद दिया—'इस गर्भसे तुम्हारे अवतारी पुत्र उत्पन्न होगा।' इस प्रकार सभी धार्मिक लोग इनका बहुत अधिक सम्मान करते थे। पण्डित जगन्नाथ मिश्रसे इनका बहुत अधिक स्नेह था। विश्वरूपको मिश्रजीने इन्हींके हाथों सौंप दिया था। विश्वरूप-जैसे मेधावी, गम्भीर और होनहार बालकको पाकर ये परम प्रसन्न हुए और बड़े ही मनोयोगके साथ उनको पढ़ाने लगे। विश्वरूप एक बार जिस श्लोकको पढ़ लेते दुबारा फिर उन्हे पूछनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। उनकी बुद्धि असाधारण थी। प्रायः आचार्यकी पाठशालामें ऐसे ही विद्यार्थी पढ़ते थे। दिनभर घट-पट और अवच्छिन्न-अवच्छेदकता ही बकते रहनेवाले तथा सदा व्याकरणकी फक्किकाओंके ही ऊपर सम्पूर्ण शक्ति खर्च कर देनेवाले विद्यार्थी इनके यहाँ बहुत कम थे। उनके लिये तो और ही बहुत-सी पाठशालाएँ थीं। भक्तितत्व और सद्ज्ञानवर्धनके निमित्त ही आचार्यने अपनी पाठशाला खोल रखी थी। उन्हें पाठशालासे कुछ आजीविका तो करनी ही नहीं थी। उनकी पाठशालामें सदा भक्तितत्त्वके ही ऊपर आलोचना-प्रत्यालोचना होती रहती। विश्वरूप इन विषयोंमें सबसे अधिक भाग लेते। उनका चित्त बालकपनसे ही संसारसे विरक्त था। अद्वैताचार्यकी कथाओंका तो आगे समय-समयपर यथास्थान उल्लेख होता ही रहेगा। अब आइये थोड़ा निमाईके दद्दा विश्वरूपके मनोविचारोंको समझनेकी चेष्टा करें। देखें वे अपने जीवनका क्या लक्ष्य स्थिर करते हैं!

विश्वरूपका वैराग्य

को देशः कानि मित्राणि कः कालः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥*
(सु० र० भाँ० ३८३ । १)

भगवत्पादपद्मोंसे पृथक् होकर प्राणी प्रारब्धकर्मानुसार असंख्य योनियोंमें भ्रमण करता हुआ मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होता है। एक यही योनि ऐसी है जिसमें वह अपने सत्स्वरूपको पुनः प्राप्त कर सकता है। मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है, शेष सभी भोगयोनियाँ हैं। मनुष्य ही कर्मके द्वारा निष्कर्म और पुनरावृत्तिसे रहित बन सकता है। पुनरावृत्ति कर्मवासनाओंके द्वारा होती है। जीव अपनी वासनाओंके द्वारा फिर-फिर जन्म ग्रहण करता है और मरणके दुःखोंको भोगता है। यदि कर्मवासना क्षय हो जाय तो परावर भगवान्‌का दर्शन हो जाता है। भगवद्दर्शनके

---

* देश क्या है ? ये मित्र कौन हैं ? समय क्या है ? व्यय-आगम ये क्या चीज हैं ? मैं स्वयं कौन हूँ और मेरी शक्ति क्या है ? इन बातोंका बार-बार चिन्तन करना चाहिये। अर्थात् जो इस मनुष्यजन्मकी महत्ता और कालकी महानता समझते हैं, उनके हृदयमें ये प्रश्न बार-बार उठते रहते हैं।

तीन मुख्य धर्म हैं—(१) हृदयमें जो अज्ञानकी ग्रन्थि पड़ी हुई है, जिसके द्वारा असत् पदार्थोंको सत् समझे बैठे हैं वह ग्रन्थि खुल जाती है। (२) अज्ञान संशयके द्वारा उत्पन्न होता है और संशय ही विनाशका मुख्य हेतु है, परावरके साक्षात् हो जानेपर सर्वसंशय आप-से-आप मिट जाते हैं। संसृतिका मुख्य हेतु है कर्मबन्ध। कर्म ही प्राणियोंको नाना योनियोंमें सुख-दुःख भुगताते रहते हैं। जिसे भगवत्-साक्षात्कार हो गया है उसके सभी कर्म क्षय हो जाते हैं। बस, फिर क्या है! वह संसार-चक्रसे मुक्त होकर अपने सत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यही तो जीवका परम पुरुषार्थ है।

त्याग-धर्म सृष्टिके आदिमें सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ। सभी प्राणियोंका मुख्य और प्रधान उद्देश्य है 'त्याग'। इन संसारी विषयोंका जभी त्याग कर सके तभी त्याग कर देना चाहिये। इसीलिये सृष्टिके आदिमें सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन—ये चार त्यागी संन्यासी ही उत्पन्न हुए। भगवान्के वामन, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभदेव आदि बहुत-से अवतारोंने त्यागका ही उपदेश दिया है। त्याग ही 'साधन' है इसीलिये मनुष्यको ही साधक कहा गया है। बहुत-से लोग कहते हैं गृहस्थ-धर्म यदि निष्काम-भावसे किया जाय तो सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु यह रोचक और श्रुतिमधुर शब्द हैं, जो पूर्वजन्मकी सञ्चित वासनाओंके अनुसार सर्वत्याग करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, उनके आश्वासनके निमित्त ये शब्द हैं। जैसे मांस खानेकी जो अपनी वासनाका संवरण नहीं कर सकता उसके लिये कहते हैं—'यदि मांस खाना ही है तो यज्ञ करके जो शेष बचे उसे प्रसाद समझकर खाओ। ऐसा करनेसे हिंसा न होगी।' इन शब्दोंमेंसे ही

स्पष्ट प्रतीत होता है कि असलमें अहिंसा तो यही है जिसमें किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचाया जाय, किन्तु तुम उसका पालन नहीं कर सकते तो अपनी वासनाको सर्वतोमुखी स्वतन्त्र मत छोड़ दो, उसे संयममें लाओ। कामवासनाको संयममें लानेके ही लिये गृहस्थी होनेकी आज्ञा दी है, उसीको धर्म कहते हैं। धर्महीन वासनाएँ तो बन्धनका हेतु हैं ही, किन्तु केवल धर्म भी बन्धनका हेतु है, यदि तुम अपनी वासनाओंको संयममें रखकर धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करते रहोगे तो स्वर्गका सुख भोगते रहोगे, जन्म-मरणके चक्करसे नहीं छूट सकते। हाँ, यदि मोक्षकी प्राप्तिके उद्देश्यसे जो धर्माचरण करोगे तो धीरे-धीरे इन कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे। पूर्वजन्मकी वासनाओंके अनुसार प्राणी स्वयं इन बन्धनोंमें फँसता है। कर्दम प्रजापतिने दस हजार वर्षतक भगवान्‌की अनन्य भावसे भूख-प्यास सहकर और प्राणोंका निरोध करके तपस्या की थी। तपस्यासे प्रसन्न होकर जब भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हुए और वरदान माँगनेको कहा तब उन्होंने हाथ जोड़े हुए गद्गदकण्ठसे कैसी सत्य बात कही थी! उन्होंने कहा—'भगवन्! मुझमें और ग्राम्य-पशुमे कोई अन्तर नहीं। मैंने कामनासे तुम्हारी उपासना की है, मैं काम-सुखका इच्छुक हूँ, यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं, तो मेरे अनुकूल मुझे भार्या दीजिये। यही मैं वरदान माँगता हूँ।'

दस हजार वर्षकी घोर तपस्याके फलस्वरूप भार्याका वरदान सुनकर भगवान्‌के नेत्रोंमें जल भर आया और उस बिन्दुके गिरनेसे ही विन्दुसरतीर्थ बन गया। वे अपनी मायाकी प्रबलता देखकर स्वयं आश्चर्यान्वित हो गये और स्वयं इनके यहाँ देवहूतिके गर्भसे कपिलरूपमें उत्पन्न हुए। भगवान् कपिलने अपने पिताको तथा माताको तत्त्वोपदेश किया और अन्तमें वे संसारसे संन्यास लेकर भगवान्‌के अनन्य धामको प्राप्त हुए। इसलिये कपिल भगवान्‌का मत है—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा

वनाद् वा ।' किसी भी आश्रममें क्यों न हो जब उत्कट वैराग्य हो जाय तब सर्व-धर्मोका परित्याग करके एक प्रभुके ही पादपद्मोंमें मन लगाना चाहिये, यही प्राणीमात्रका परम पुरुषार्थ है। किन्तु उत्कट वैराग्य भी तो पूर्वजन्मोंके परम शुभ संस्कारोंसे प्राप्त होता है।

निमाईके भाई विश्वरूपकी अवस्था अब सोलह वर्षकी हो चली। वे साधारण बालक नहीं थे। मालूम पड़ता है वे सत्य अथवा ब्रह्मलोकके जीव थे जो अपने अपूर्ण ज्ञानको पूर्ण करनेके निमित्त योगभ्रष्ट शुचि ब्राह्मणके घरमें कुछ कालके लिये उत्पन्न हो गये थे। और लोग इस बातको क्या समझें ? माता-पिताके लिये तो वे साधारण पुत्र ही थे, माता-पिताका जो कर्तव्य है उसका वे पालन करने लगे। विश्वरूप अपने ममेरे भाई लोकनाथको छोड़कर और किसीसे विशेष बातें नहीं करते थे। लोकनाथको वे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे। लोकनाथ इनसे साल-छः-महीने अवस्थामें छोटे थे, वे भी इनमें गुरुकी भाँति भक्ति करते थे। दोनोंके विचार भी एक-से थे, एकान्तमें घंटों परमार्थ-विषयक बातें होती रहतीं।

मिश्रजीने देखा पुत्रकी अवस्था सोलह वर्षकी हो चुकी है, इसलिये इसके विवाहका कहींसे प्रबन्ध करना चाहिये। अपने विचार उन्होंने शचीदेवीके सम्मुख प्रकट किये। शचीदेवीने भी इनकी बातका समर्थन किया। अब माता-पिता विश्वरूपके अनुरूप कन्याकी खोज करने लगे।

इधर विश्वरूपके विचारोंमें और अधिक गम्भीरता आने लगी। पंद्रह वर्षकी अवस्थाके पश्चात् सभी युवकोंके हृदयोंमें एक प्रकारकी महान् खलबली-सी उत्पन्न हुआ करती है। चित्त किसी अत्यन्त प्यारेके मिलनके लिये तड़पता रहता है। हृदयमें एक मीठी-मीठी वेदना-सी होती है। जी चाहता है अपनेको किसीके ऊपर न्यौछावर कर दें। इसी बातको समझकर

माता-पिता इस अवस्थामें लड़केका विवाह कर देते हैं और अपने हृदयको समर्पण करनेके निमित्त संगिनी पाकर बहुत-से शान्त हो जाते हैं। बहुत-से धनके बन्धनमें फँसकर, बहुत-से मित्रके प्रेममें फँसकर और बहुत-से विषयवासनाओंमें फँसकर उस वेगको शान्त कर लेते हैं। उस वेगको जिधर लगाओ उधर ही वह लग जायगा। विश्वरूपने उस प्रेमको माता-पिताके ही बीचमें सीमित न रखकर उसे विश्वके साथ तद्रूप बनाना चाहा। वे इसी बातको सोचते रहते थे, कि इस कोलाहलपूर्ण संसारसे कैसे उपरत हो सकेंगे?

जब इन्होंने अपने विवाहकी बात सुनी तब तो मानो इनके वैराग्य-रूपी प्रज्वलित अग्निमें घृतकी आहुति पड़ी। ये बार-बार सोचने लगे—'क्या विवाह करके संसारी सुख भोगनेसे मुझे परम शान्ति मिल सकेगी? क्या मैं गृहस्थी बनके अपने चरम लक्ष्यतक शीघ्र-से-शीघ्र पहुँच सकूँगा? क्या मुझे माता-पिता और भाइयोंके ही बीचमें अपने प्रेमको सीमित बनाकर संसारी बनना चाहिये? उनकी यह विकलता बढ़ती ही जाती थी। एक दिन लोकनाथने एकान्तमें इनसे पूछा—'भैया! क्या कारण है, तुम अब सदा किसी गम्भीर विचारमें डूबे रहते हो?'

उनकी बात सुनकर इन्होंने उन्हें टालते हुए कहा—'नहीं, कुछ नहीं, वैसे ही शास्त्रविषयक बातें सोचता रहता हूँ, कोई विशेष बात तो नहीं है।'

उन्होंने फिर कहा—'आप चाहे बतावें या न बतावें मैं सब जानता हूँ। फूफाजी आपके विवाहकी सोच रहे हैं। मैं आपके भावोंको खूब जानता हूँ, कि आप विवाहके बन्धनमें कभी न फँसेंगे। आप इसके लिये सबका त्याग कर सकते हैं, किन्तु मैं आपके चरणोंमें यही विनीत भावसे प्रार्थना करता हूँ, कि मुझे अपने चरणोंसे पृथक् न करें—यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है।'

विश्वरूपने उन्हें गाढ़ आलिङ्गन करते हुए कहा—'भैया! तुम कैसी बात कर रहे हो यदि ऐसा कुछ होगा भी तो मैं तुम्हारी सम्मतिके बिना कुछ थोड़े ही कर सकता हूँ। तुम तो मेरे प्राण हो, भला तुम्हें छोड़कर मैं कैसे जा सकता हूँ।'

दोनों भाई यथासमय भोजन करनेके निमित्त अपने-अपने घर चले गये। विश्वरूप घरमें बहुत ही कम रहते थे, केवल दोपहरको और शामको भोजन करनेके ही निमित्त घर जाते, नहीं तो सदा अद्वैताचार्यजीकी पाठशालामें ही शास्त्रालोचना तथा गम्भीर विचार करते रहते। इसीलिये माता-पिताको इनके मनोभावोंके सम्बन्धमें विशेष जानकारी नहीं हो सकी। बीच-बीचमें जब निमाई इन्हें बुलाने जाते तब ये थोड़ी देरके लिये घर आ जाते और कभी-कभी निमाईसे दो-चार बातें करते। मिश्रजी इनसे बातें करनेमें सङ्कोच करते थे। इनके पढ़नेमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं डालना चाहते थे।

धीरे-धीरे विश्वरूपका वैराग्य दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक बढ़ने लगा। एक बार उन्होंने ज्ञानदृष्टिसे देखा कि ये माता, पिता, भाई, मित्र आदि असलमें चीज क्या हैं! विचार करते-करते वे संसारी सम्बन्धोंसे ऊँचे उठ गये। उन्हें प्रतीत होने लगा, सभी प्राणी अपने प्रारब्ध-कर्मोंके अनुसार बिना सोचे-समझे दिन-रात कर्मोंमें जुटे हुए हैं। अन्धेकी भाँति बिना आगेका ध्यान किये किसी अज्ञात मार्गकी ओर चले जा रहे हैं। विचार करते-करते उन्हें संसारके सभी प्राणी समानरूपसे रेंगते हुए-से दीखने लगे। जैसे किसी बहुत ऊँचे स्थानपर चढ़कर देखनेसे मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष सभी छोटे-छोटे भिनगे-से उड़ते दिखायी पड़ते हैं, उनमें फिर विवेक नहीं किया जा सकता कि कौन मनुष्य है, कौन पशु। सभी समानरूपसे छोटे-छोटे कण-से दिखायी पड़ते हैं, उसी प्रकार विचारकी ऊँची भित्तिपर

चढ़कर विश्वरूपको ये संसारी जीव दीखने लगे। उनका माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवोंके प्रति जो मोह था, वह एकदम जाता रहा। वे अपनेको समझ गये और मन-ही-मन कहने लगे—'ये संसारी लोग भी कितने दयाके पात्र हैं! रोज न जाने क्या-क्या विचार करते रहते हैं। बड़े-बड़े विधान बनाते रहते हैं, किन्तु सभी किसी अज्ञात शक्तिकी प्रेरणासे घूम रहे हैं।' लोग कहते हैं, 'अजी अभी संसारका सुख भोग लो। आगे चलकर भगवद्भजन कर लेंगे। वे अज्ञ यह नहीं समझते कि यह शरीर क्षणभंगुर है, इसका दूसरे क्षणका भी पता नहीं।' इन विचारोंके आते ही उन्होंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। भर्तृहरिजीके इस श्लोकको वे बार-बार पढ़ने लगे—

> यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
> प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

'अरे ओ युवको! जबतक यह कोमल और नूतन शरीर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था तुमसे बहुत दूर चुपचाप तुम्हारी ताकमें बैठी है, जबतक तुम्हारी इन्द्रियोंकी शक्ति न्यून नहीं हुई है और जबतक यह आयु शेष नहीं हुई है, तबतक ही आत्माके कल्याणका प्रयत्न कर लो, इसीमें बुद्धिमानी है। नहीं तो घरमें आग लगनेपर जो कुँआ खोदनेकी बात सोचकर चुपचाप बैठा है, उसके घरमें आग लगनेपर वह जल ही जायगा। आग लगनेपर कुँआ खोदनेमें प्रयत्न करना मूर्खता है।'

विश्वरूपका गृह-त्याग

धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः।
जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये ॥*
(श्रीवा० रा० सु० २६। ४७)

बन्धनका हेतु ममत्व है, ममत्वका सम्बन्ध मनसे है। जिसने मनसे ममत्वको निकाल दिया, वह तो नित्यमुक्त ही है। उसके लिये न कोई अपना है न पराया, वह तो अनेक रूपोंमें एक ही आत्माको चारों ओर देखता है, फिर वह संकुचित सीमामें अपनेको आबद्ध नहीं रख सकता। विश्वरूपने निश्चय कर लिया कि मुझे इस गृहको त्याग देना चाहिये। जहाँपर माता-पिता ही मुझे अपना समझते हैं, जहाँ नित्यप्रति भाँति-भाँतिके संसारी प्रलोभनोंके आनेकी सम्भावना है, ऐसी जगह अब अधिक दिन ठहरना ठीक नहीं है। ऐसा निश्चय कर लेनेपर एक दिन इन्होंने अपनी माताको एक पुस्तक देते हुए कहा—'माँ, यह पुस्तक निमाईके लिये है, जब वह बड़ा हो तो इस पुस्तकको उसे दे देना, भूल मत जाना।'

माताने सरलताके साथ उत्तर दिया—'तबतक तू कहीं चला थोड़े ही जायगा। मैं भूल जाऊँ तो तू तो न भूलेगा। तू ही इसे अपने हाथसे उसे देना और पढ़ाना। तू भी तो अब पण्डित बन गया है। निमाई तुझसे ही पढ़ा करेगा।'

विश्वरूपने मानसिक भावोंको छिपाते हुए कहा—'हाँ, ठीक है, मैं रहा तो दे ही दूँगा, किन्तु तू भी इस बातको याद रखना।'

---

* वे सत्यकी उपासना करनेवाले जितात्मा महाभाग महात्मा मुनिगण धन्य हैं जिन्हें न तो किसीसे अनुराग है और न किसीसे द्वेष। जो सभी प्राणियोंमें समानभाव रखकर सभीको समदृष्टिसे देखते हैं।

भोली-भाली माताको क्या पता कि मेरा विश्वरूप अब दो ही चार दिनका मेहमान है। दो-चार दिनके बाद फिर इसकी मनमोहिनी सूरत हमलोगोंको कभी भी देखनेको न मिल सकेगी। माता अपने काम-धंधेमें लग गयी।

जाड़ेका समय है, खूब कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा है। सभी प्राणी जाड़ेके मारे गुड़मुड़ी मारे रात्रिमें सो रहे हैं। चारों ओर नीरवताका साम्राज्य है, कहीं भी कोलाहल सुनायी नहीं पड़ता, सर्वत्र स्तब्धता छायी हुई है। ऐसे समय विश्वरूपको निद्रा कहाँ? वे तो भविष्य-जीवनको महान् बनानेकी ऊहापोहमें लगे हुए हैं। घरमें एक बार दृष्टि डाली। एक ओर माता सो रही है, उसके पास ही चुपचाप निमाई आँख बंद किये हुए शयन कर रहे हैं। मिश्रजी दूसरी ओर रजाई ओढ़े खाटपर सो रहे हैं। विश्वरूपने एक बार खूब ध्यानसे पिताकी ओर देखा। सिरके बाल पके हुए थे, मुँहपर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। हमेशा गृहस्थीकी चिन्ता करते रहनेसे उनका स्वभाव ही चिन्तामय बन गया था, सोते समय भी मानो वे किसी गहरी चिन्तामें डूबे हुए हैं। निर्धन वृद्धके चेहरेकी ओर देखकर एक बार तो विश्वरूप अपने निश्चयसे विचलित हुए। उनके मनमें भाव आया—'पिता वृद्ध हैं, आजीविकाका कोई निश्चित प्रबन्ध नहीं, निमाई अभी निरा बालक ही है, घरका काम कैसे चलेगा?' किन्तु थोड़े ही देर बाद वे सोचने लगे—'अरे, मैं यह क्या सोच रहा हूँ! जिसने इस चराचर विश्वकी रचना की है, जो सभीके भरण-पोषणका पहिलेसे ही प्रबन्ध कर देता है, उसको कर्ता न मानकर मैं अपनेमें कर्तापनेका आरोप क्यों कर रहा हूँ? वृत्ति तो सबकी वही चलाता है। मनुष्य तो निमित्तमात्र है। विश्वम्भर ही सबका पालन करते हैं, मुझे अपने सत्संकल्पसे विचलित न होना चाहिये' यह सोचकर उन्होंने सोती हुई माताको मन-ही-मन प्रणाम किया। छोटे

भाईको एक बार प्रेमपूर्वक देखा और धीरेसे घरसे निकल पड़े । संकेतके अनुसार लोकनाथ उन्हें गङ्गातटपर तैयार बैठे मिले। दोनों एक दूसरेको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए, अब उन्हें यह चिन्ता हुई, कि रात्रिमें गङ्गा-पार किस प्रकार जा सकते हैं। अब बहुत ही शीघ्र प्रातःकाल होनेवाला है । इधर-उधर कहीं जायँगे तो पहिचाने जानेपर पकड़े जायँगे। इसलिये गङ्गा-पार जाये बिना क्षेम नहीं है । उस समय नावका मिलना कठिन था । दोनों ही युवक निर्भीक थे, जीवनका मोह तो उन्हें था ही नहीं । मनुष्य इस जीवन-रक्षाके ही लिये साहसके काम करनेसे डरा करता है । जिसने जीवनकी उपेक्षा कर दी है, जिसने अपने शीशको उतारकर हथेलीपर रख लिया है, वह संसारमें जो भी चाहे कर सकता है, उसके लिये कोई काम कठिन नहीं । 'असम्भव' तो उसके शब्द-कोषमें रहता ही नहीं। ये दोनों युवक भी भगवान्‌का नाम लेकर पतितपावनी कलिमलहारिणी भगवती भागीरथीकी गोदमें बिना शङ्काके कूद पड़े । मानो आज वे जलती हुई भव-दावाग्निसे निकलकर जगज्जननी माँ जाह्नवीकी सुशीतल क्रोड़में शाश्वत शान्तिके निमित्त सदाके लिये प्रवेश करते हों।

गङ्गाजीके किनारे रहनेवाले छोटे-छोटे बच्चे भी खूब तैरना जानते हैं, फिर ये तो युवक थे और तैरनेमें प्रवीण थे, सामान इन लोगोंके पास कुछ था ही नहीं, इसीलिये ये निर्विघ्न गङ्गा पार हो गये । जाड़ेका समय था, शरीरके सभी वस्त्र भीग गये थे, किन्तु इन्हें इस बातका ध्यान ही नहीं था। शीतोष्णादि द्वन्द्व तो तभीतक बाधा पहुँचा सकते हैं जबतक कि शरीरमें ममत्व होता है । शरीरसे ममत्व कम हो जानेपर मनुष्य द्वन्द्वोंकी वेदनासे ऊँचा उठ जाता है, तभी वह निर्द्वन्द्व हो सकता है। विश्वरूप निर्द्वन्द्व हो चुके थे । वे गीले ही वस्त्रोंसे आगे बढ़े चले गये।

इसके पश्चात् विश्वरूपजीका कोई निश्चित वृत्तान्त नहीं मिलता। पीछेसे यही पता चला कि इन्होंने किसी अरण्य नामक संन्यासीसे संन्यास

ग्रहण कर लिया और इनके संन्यासका नाम हुआ शङ्करारण्य। इनके संन्यासी हो जानेपर लोकनाथने इनसे संन्यास लिया। दो वर्षोंतक ये भारतके अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे। अन्तमें महाराष्ट्रके परम प्रसिद्ध तीर्थ पण्ढरपुरमें इन्होंने श्रीविट्ठलनाथजीके क्षेत्रमें अपना यह पाञ्चभौतिक शरीर त्याग कर दिया। देहत्यागके पूर्व इन्होंने अपना स्वकीय तेज श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीके आश्रममें उनके परम प्रिय शिष्य श्रीईश्वरपुरीको प्रदान कर दिया था। उन्हींसे वह तेज नित्यानन्दके पास आया। इसीलिये नित्यानन्दको बलराम या शेषनागका अवतार मानते हैं। इस प्रसङ्गको पाठक आगे समझेंगे।

इधर प्रातःकाल हुआ। मिश्रजीने देखा विश्वरूप शय्यापर नहीं है। इतने सबेरे पितासे पहिले वे उठकर कहीं नहीं जाते थे। पिताको एकदम शङ्का हो गयी। उन्होंने शय्याके समीप जाकर देखा। पहिले तो सोचा गङ्गास्नानके लिये चला गया होगा; किन्तु जलपात्र और धोती तो ज्यों-की-त्यों रखी है। थोड़ी देरतक वे चुप रहे, फिर उनसे नहीं रहा गया, उन्होंने यह बात शचीदेवीसे कही। शचीदेवी भी सोचमें पड़ गयी। निमाई भी उठ बैठा। शचीदेवीने कहा—'बेलपोखरा (शचीदेवीके पिता नीलाम्बर चक्रवर्तीका घर बेल्पोखरा मुहल्लेमें ही था, विश्वरूप लोकनाथसे शास्त्रविचार करने बहुधा वहीं चले जाते थे) लोकनाथके पास चला गया होगा।' मिश्रजी जल्दीसे चक्रवर्ती महाशयके घर गये। वहाँ जाकर देखा कि लोकनाथ भी नहीं है। सभी समझ गये। दोनों परिवारके लोग शोकसागरमें मग्न हो गये। शचीदेवी दौड़ी-दौड़ी अद्वैताचार्यके यहाँ गयी। वहाँ भी विश्वरूपका कुछ पता नहीं था। क्षणभरमें यह बात सर्वत्र फैल गयी कि विश्वरूप घर छोड़कर चले गये। चारों ओरसे मिश्रजीके स्नेही उनके घर आने लगे। लोगोंकी भीड़ लग गयी। अद्वैताचार्य

भी अपने शिष्योंके साथ वहाँ आ गये। सभी भाँति-भाँतिकी कल्पना करने लगे। कुछ भक्त कहने लगे—'अब घोर कलियुग आ गया। साधु ब्राह्मणोंका मान नहीं, वैष्णवोंको सर्वत्र अपमानित होना पड़ता है, धर्म कर्म सभी लोप हो गये। अब यह संसार भले आदमियोंके रहने योग्य नहीं रहा। हमें भी सर्वस्व छोड़कर विश्वके ही मार्गका अनुसरण करना चाहिये।' कुछ कहते—'भाई! विश्वरूपको हम इतना निष्ठुर नहीं समझते थे, उसने अपने छोटे भाईका भी तनिक मोह नहीं किया।'

मिश्रजीकी आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी, वे मुखसे कुछ भी नहीं कहते थे, नीची दृष्टि किये वे बराबर भूमिकी ओर ताक रहे थे, मानो उन्हें सन्देह हो गया था, कि इस भूमिने ही मेरे प्राणप्यारे पुत्रको अपनेमें छिपा लिया है। उनके धँसे हुए कपोल और सिकुड़ी हुई खालके ऊपरसे अश्रु-बिन्दु बह-बहकर पृथ्वीमें गिरते जाते थे और वे उसी समय पृथ्वीमें विलीन होते जाते थे। इससे उनका सन्देह और भी बढ़ता जाता था, कि जो पृथ्वी बराबर इन अश्रुओंको अपनेमें छिपाती जाती है उसने ही जरूर मेरे बेटे विश्वरूपको छिपा लिया है। उनकी दृष्टि ऊपर उठती ही नहीं थी। लोग परस्परमें क्या बातें कर रहे हैं इसका उन्हें कुछ भी पता नहीं था। उनके साथी-सम्बन्धी उन्हें भाँति-भाँतिसे समझाते, किन्तु वे किसीकी भी बातका प्रत्युत्तर नहीं देते थे।

इधर शचीदेवीके करुण-रुदनको सुनकर पत्थर भी पसीजने लगे। माता जोर-जोरसे दहाड़ मारकर रुदन कर रही थी। विश्वरूपके गुणोंका बखान करते-करते माता जिस प्रकार गौ अपने बच्चेके लिये आतुरतासे रम्हाती है उसी प्रकार शचीदेवी उच्चस्वरसे विलाप कर रही थीं। वे बार-बार कहतीं—'बेटा, इस बूढ़ीको अधजली ही छोड़कर [illegible] गया। यदि मेरा और

अपने बूढ़े बापका कुछ खयाल न किया तो न सही, इस अपने छोटे भाईकी ओर भी तूने नहीं देखा। यह तो तेरे बिना क्षणभर भी नहीं रह सकेगा। विश्वरूप ! मैं नहीं जानती थी, कि तू इतना निर्दयी भी कभी बन सकेगा।'

माताके विलापको सुनकर निमाई भी जोर-जोरसे रोने लगे और रोते-रोते वे एकदम बेहोश हो गये। भ्रातृ-वियोगका स्मरण करके तथा माता-पिताके दुःखको देखकर निमाई मूर्छित हो गये। उनका सम्पूर्ण शरीर संज्ञाशून्य हो गया। आस-पासकी स्त्रियोंने जल्दीसे निमाईको उठाया, उनके मुखमें जल डाला और उन्हें सचेत करनेके लिये भाँति-भाँतिकी चेष्टाएँ करने लगीं। स्त्रियाँ शचीदेवीको समझा रही थीं—'शची! अब रोनेसे क्या होगा, धैर्य धारण करो। तुम्हारे पुत्रने कोई बुरा काम तो किया ही नहीं। तुम्हारी सैकड़ों पीढ़ियोंको उसने तार दिया। भगवान्‌की भक्तिसे बढ़कर और क्या है ? अब इस निमाईको ही देखकर धैर्य धारण करो। देख, तेरे रुदनसे यह बेहोश हो गया है, इसका खयाल करके तू रोना बंद कर दे।' माताने कुछ-कुछ धैर्य धारण किया। निमाईको धीरे-धीरे चेतना होने लगी। वे थोड़ी ही देरमें प्रकृतिस्थ हो गये। अपने आँसुओंको पोंछकर आप मातासे बोले—'माँ ! दादा चले गये तो कोई चिन्ता नहीं। मैं तुमलोगोंकी बड़ा होकर सेवा-शुश्रूषा करूँगा। आपलोग धैर्य धारण करें।'

लोग मिश्रजीसे कह रहे थे। हम उत्तरकी ओर जाते हैं, चार आदमियोंको दक्षिणकी ओर भेजो। लोकनाथके पिता दो-चार आदमियोंको लेकर गङ्गापार जायँ। अभी दो-चार कोस ही तो पहुँचे होंगे, हम उन्हें जल्दी ही लौटा लावेंगे। इन सब लोगोंकी बातें सुनकर ऊपर दृष्टि उठाकर मिश्रजीने साहसके साथ कहा—'अब भाई ! कहीं जानेसे क्या लाभ ?

विश्वरूप बालक तो है ही नहीं। यदि उसकी ऐसी ही इच्छा है, तो भगवान् उसकी मनोकामना पूर्ण करें। यदि उसे संन्यासमें ही सुख है तो वह संन्यासी ही बनकर रहे। आप सबलोग भगवान्से यही प्रार्थना करें, कि वह संन्यासी होकर अपने धर्मको यथारीति पालन करता रहे और फिर लौटकर घरमें न आवे।' पिताके ऐसे साहसपूर्ण वचनोंको सुनकर सभीको बड़ा आनन्द हुआ। सभी इसी सम्बन्धकी बातें करते हुए सुखपूर्वक घर लौट गये।

माता-पिताने धैर्य धारण तो किया, किन्तु उनके हृदयमें सर्वगुण-सम्पन्न पुत्रके वियोगके कारण एक गहरा-सा घाव हो गया जो अन्ततक बना रहा। मिश्रजी तो एक ही घावको लेकर इस संसारसे विदा हो गये, किन्तु वृद्धा शचीके तो आगे चलकर एक और भी बड़ा भारी घाव हुआ था, जिसकी मीठी-मीठी वेदनाका रसास्वादन करते हुए उसने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी प्रकार वेदनामय ही बिताया। गृहस्थमें जहाँ अनेक सुख और आनन्दके अवसर आते हैं, वहाँ ऐसे दुःखके भी प्रसङ्ग बहुत आते हैं जिनके स्मरणमात्रसे छाती फटने लगती है। जगज्जननी सीताजी जब अपने प्राणनाथ श्रीरामचन्द्रजीके वियोगसे अत्यन्त ही व्यथित हो उठीं और उनकी वेदना असह्य हो गयी तब उन्होंने रोते-रोते बड़ी ही मार्मिक वाणीमें हनूमान्‌जीसे ये वचन कहे थे—

> प्रियान्न संभवेद्‌दुःखमप्रियादधिकं भवेत्।
> ताभ्यां हि ते वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम्॥

वे जितात्मा सत्यवादी महात्मा धन्य हैं जिन्हें प्रियकी प्राप्तिमे न तो सुख होता है और अप्रियकी प्राप्तिमें जिन्हे दुःख-व्यथा नहीं पहुँच सकता, जिनकी वृत्ति सुख-दुःखमें समान रहती है, ऐसे महात्माओंके चरणोंमे बार-बार प्रणाम है।

निमाईका अध्ययनके लिये आग्रह

विद्यानाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो
धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं
तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु॥*

(भर्तृ० नी० श० २०)

पुत्र-स्नेह भी संसारमें कितनी विलक्षण वस्तु है ? जिस समय माता-पिताका ममत्व पराकाष्ठापर पहुँच जाता है, उस समय वे कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानको खो बैठते हैं। बड़े-बड़े पण्डित भी पुत्र-स्नेहके कारण अपने

---

* विद्या मनुष्यकी अतुलनीय कीर्तिस्वरूपा है, भाग्य क्षय होनेपर विद्या ही एकमात्र आश्रयदात्री है। विद्या सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु है, विरहमें रति है और मनुष्यके तृतीय नेत्रके समान है। विद्या सत्कारकी खानि, कुलकी महिमाको बढ़ानेवाली और बिना ही रत्नोंके सर्वोत्तम भूषण है। इसलिये सम्पूर्ण विषयोंकी उपेक्षा करके एक विद्यामें ही अधिकार करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

कर्तव्यसे च्युत होते हुए देखे गये हैं। भगवान्‌की माया ही विचित्र है, उसका असर मूर्ख-पण्डित सभीपर समानरूपसे पड़ता है। पण्डित जगन्नाथ मिश्र स्वयं अच्छे विद्वान् थे, कुलीन ब्राह्मण थे, विद्याके महत्त्वको जानते थे, किन्तु विश्वरूपके विछोहसे वे अपने कर्तव्यको खो बैठे। सर्वगुणसम्पन्न पुत्रके असमयमें धोखा देकर चले जानेके कारण उनके हृदयपर एक भारी चोट लगी। वे इस विछोहका मूल कारण विद्याको ही समझने लगे। उनके हृदयमें बार-बार यह प्रश्न उठता था—'यदि विश्वरूप इतना अध्ययन न करता, यदि मैं उसे इस प्रकार सर्वदा पढ़ते रहनेकी छूट न देता, तो सम्भव है मुझे आज यह दिन न देखना पड़ता। इसलिये इनके मनमें आया कि अब निमाईको अधिक पढ़ाना-लिखाना न चाहिये। हाय रे! मोह!

इधर अबतक तो निमाई कुछ पढ़ते ही लिखते न थे। दिनभर बालकोंके साथ उपद्रव मचाते रहना ही इनका प्रधान कार्य था, किन्तु विश्वरूपके गृह त्यागनेके अनन्तर इनका स्वभाव एकदम बदल गया। अब इन्होंने उपद्रव करना बिल्कुल छोड़ दिया। अब ये खूब मन लगाकर पढ़ने लगे। दिनभर खूब परिश्रमके साथ पाठ पढ़ते और खेलने-कूदने कहीं भी न जाते। माता-पिताके साथ भी अब ये सौम्यताका बर्ताव करने लगे। इस एकदम स्वभाव-परिवर्तनका पिताके ऊपर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। वे सोचने लगे—'मुझे जो भय था वही सामने आ उपस्थित हुआ। निमाई भी अब विश्वरूपकी भाँति अध्ययनमें संलग्न हो गया। इसकी बुद्धि उससे कम तीव्र नहीं है। एक ही दिनमें इसने सम्पूर्ण वर्णोंकी जानकारी कर ली थी, यदि इसे भी अध्ययनके लिये विश्वरूपकी भाँति स्वतन्त्रता दे दी जाय तो यह भी हमारे हाथसे जाता रहेगा। यह सोचकर उन्होंने एक दिन निमाईको बुलाया और बड़े प्यारसे कहने लगे—'बेटा! मैं तुमसे एक बात कहता हूँ, तुम्हें मेरी वह बात चाहे उचित हो या

अनुचित माननी ही पड़ेगी।'

निमाईने नम्रतापूर्वक कहा—'पिताजी! आप आज्ञा कीजिये। भला, मैं कभी आपकी आज्ञाको टाल सकता हूँ! आपके कहनेसे मैं सब कुछ कर सकता हूँ।'

मिश्रजीने कहा—'हम तुम्हें अपनी शपथ दिलाकर कहते हैं, तुम आजसे पढ़ना बंद कर दो। हमारी यही इच्छा है कि तुम पढ़ने-लिखनेमें विशेष प्रयत्न न करो।

जिस दिनसे विश्वरूप गृह त्यागकर चले गये थे, उस दिनसे निमाई माता-पिताकी आज्ञाको कभी नहीं टालते थे। पिताकी बात सुनकर इन्होंने नीचे सिर झुकाये हुए ही धीरेसे कहा—'जैसी आज्ञा होगी मैं वही करूँगा।' इतना कहकर ये भीतर माताके पास चले गये और पिताकी आज्ञा माताको सुना दी। दूसरे दिनसे इन्होंने पढ़ना-लिखना बिलकुल बंद कर दिया।

अब इन्होंने अपनी वही पुरानी चञ्चलता फिर आरम्भ कर दी। लड़कोंके साथ गङ्गाजीके घाटोंपर जाते, घंटों जलमें ही स्नान करते रहते। कभी अपने साथियोंको लेकर लोगोंके ऊपर पानी उलीचते। स्त्रियोंके पास चले जाते, छोटे-छोटे बच्चोंको रुला देते। स्त्रियोंके सूखे वस्त्रोंको जलमें फेंककर भाग जाते। किसीकी घाटपर रखी हुई नैवेद्यको बिना उसके पूछे ही जल्दीसे चट कर जाते। कोई आकर डाँटने लगता तो बड़े जोरोंके साथ रोने लगते, सभी बालक इनके चारों ओर खड़े हो जाते, आस-पाससे और भी लोग इकट्ठे हो जाते। कोई तो उस डाँटनेवालेको बुरा-भला कहता। कोई इन्हें शान्त करनेकी चेष्टा करता। बहुत-से कहते—'अजी! कोई कहाँतक सहन करे, यह लड़का है भी बड़ा उपद्रवी, किसीकी सुनता ही नहीं।' इस प्रकार लोग नित्यप्रति जा-जाकर मिश्रजीसे शिकायत करते। मिश्रजी इन्हें पुचकारकर कहते—

'बेटा! इतना दंगल नहीं करना चाहिये।' आप धीरेसे कहते—'तब हम करें क्या? जब पढ़ने न जायँगे तो बालकोंके साथ खेल ही करेंगे। हमसे चुपचाप घरमें तो बैठा नहीं जाता।' पिता इनका ऐसा उत्तर सुनकर चुप हो जाते।

ये भाँति-भाँतिके खेल खेलने लगे। एक दिन आपने बहुत ही फटे-पुराने कपड़े पहिन लिये, आँखोंमें पट्टी बाँध ली और एक लड़केका कंधा पकड़कर घर-घर भीख माँगने लगे। बहुत-से लड़के इनके साथ ताली बजा-बजाकर हँसते जाते थे। ये घरोंमें जाते और स्त्रियोंसे कहते—'माई! अन्धेको भीख डालना, भगवान् तेरा भला करेंगे।' स्त्रियाँ इनकी ऐसी क्रीड़ा देखकर खूब जोरोंसे हँसने लगती और इन्हें कुछ खानेकी चीजें दे देतीं। ये उसे अपने साथियोंमे बाँटकर खा लेते और फिर दूसरे घरमें जाते। इस प्रकार ये अपने घर भी गये। शचीमाता भोजन बना रही थी। आपने आवाज़ दी—'मैया! भगवान् तेरा भला करे, दूध-पूत सदा फलते-फूलते रहें, इस अन्धेको थोड़ी भीख डाल देना।' माता निकलकर बाहर आयीं और इनका ऐसा रूप देखकर आश्चर्यके साथ कहने लगीं—'निमाई! तू कैसा होता जा रहा है, भला, ब्राह्मणके बालकको ऐसा रूप बनाना चाहिये। तू घर-घरसे भीख माँग रहा है, तेरे घरमें क्या कमी है? ऐसा खेल ठीक नहीं होता।'

आपने उसी समय पट्टी खोलकर कहा—'अम्मा! निर्धन ब्राह्मणका मूर्ख बालक अन्धा ही है, वह भीख माँगनेके सिवा और कर ही क्या सकता है? मुझे पढ़ावेगी नहीं तो मुझे भीख ही तो माँगनी पड़ेगी।' इनकी यह बात सुनकर शचीदेवीकी आँखोंमें मारे प्रेमके आँसू आ गये। उन्होंने इन्हें जल्दीसे गोदमें लेकर पुचकारा। साथके बच्चोंको थोड़ी-थोड़ी मिठाई देकर विदा किया और इन्हें स्नान कराके भोजन कराने लगी।

ये जान-बूझकर उपद्रव करने लगे । जब ये घरपर रहते और कोई चीज़ बेचनेवाला उधर आता तो मातासे बार-बार आग्रह करते हमें अमुक चीज़ दिला दो । मिठाईवाला आता तो मिठाई लेनेको कहते, फलवाला आता तो फलोंके लिये आग्रह करते । चाट बिकने आती तो चाट ही खानेको माँगते । न दिलानेपर खूब ज़ोरोंसे रोते और जबतक उसे पा नहीं लेते तबतक बराबर रोते ही रहते । चीज़ मिलनेपर उसमेंसे थोड़ी-सी खा लेते, शेषको वैसे ही छोड़ देते ।

माता बार-बार प्यारसे समझाती—'बेटा ! तू जानता नहीं, तेरे पिता निर्धन हैं, उनके पास इतने पैसे कहाँसे आये । तू दिनभर भाँति-भाँतिकी चीजोंके लिये रोया करता है, जो भी बिकने आता है उसीके लिये आग्रह करने लगता है । इतने पैसे मैं कहाँसे लाऊँ ?'

आप कहते—'हमें पढ़ने न दोगी तो हम ऐसा ही करेंगे । जब पढ़ेंगे नहीं तो यही करते रहेंगे । हमें इससे क्या मतलब, या तो हमें पढ़ने दो नहीं तो हम ऐसे ही माँगा करेंगे ।' इनकी ऐसी बातें सुनकर माता सोचती, इससे तो इसे पढ़ने ही दिया जाय तो अच्छा है, किन्तु विश्वरूपका स्मरण आते ही वह डर जाती और फिर उसे मिश्रजीके सामने ऐसा प्रस्ताव करनेका साहस न होता । ये और भी अधिकाधिक चञ्चल होते जाते ।

एक दिन आपने गुस्सेमें आकर घरमेंसे बहुत-से मिट्टीके बर्तन निकाल-निकालकर आँगनमें फोड़ दिये और आप-पासके ही एक घूरेपर जा बैठे । वहाँ उसी प्रकार अशुद्ध हाँड़ियोंको अपनी भुजाओंमें पहिन लिया । टूटी-फूटी टोकरीको सिरपर रख लिया और खपड़े घिस-घिसकर उससे शरीरको मलने लगे । माता बार-बार मने करतीं, किन्तु ये सुनते ही न थे, वहीं बैठकर चुपचाप फूटी हाँड़ियोंको बजाने लगे । बहुत-सी पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ भी आ गयीं । गङ्गास्नान करनेवाले

खड़े हो गये। माता इन्हें बार-बार धिक्कार देते हुए ऐसे अपवित्र कार्यको करनेसे मने करतीं। ये कहते—'मूर्ख बेटेसे तुम और आशा ही क्या रख सकती हो ? जब तुम हमें पढ़ाओगी नहीं तो हम ऐसा ही काम करेंगे। मूर्ख आदमी शुचि-अशुचि क्या जाने ? इसका ज्ञान तो विद्या पढ़कर ही होता है।' पासमें खड़ी हुई स्त्रियाँ शचीमाताको उलाहना देते हुए कहतीं—'बालक कह तो ठीक रहा है। तुम इसे पढ़ने क्यों नहीं देती ? यह तो बड़े भाग्यकी बात है कि बच्चा पढ़नेके लिये इतना आग्रह कर रहा है। हमारे बच्चे तो मारने-पीटनेपर भी पढ़ने नहीं जाते। इसे पढ़नेके लिये जरूर भेजा करो।' पासमें खड़े हुए और भी लोग बच्चेकी बातका समर्थन करने लगे।

सबके समझानेसे माताका भी भाव परिवर्तित हो गया। उन्होंने प्यारके साथ कहा—'अच्छा, कलसे पढ़ा करना, मैं तेरे पितासे कह दूँगी। अब आकर जल्दीसे स्नान कर ले।' इतना सुनते ही ये जल्दीसे उठकर चले आये और माताके कथनानुसार शीघ्र ही गङ्गास्नान करके घर लौट आये।

शचीदेवीने पण्डितजीसे बहुत आग्रह किया कि बच्चेको पढ़ने देना चाहिये। सभी पढ़े-लिखे संन्यासी थोड़े ही हो जाते हैं। नवद्वीपमें हजारों पण्डित हैं, इतने विद्यार्थी हैं, इनमेंसे कोई भी संन्यासी नहीं हुआ। यह तो भाग्यकी बात है। यदि इसके भाग्यमें संन्यास ही होगा तो हम उसे रोक थोड़े ही सकते हैं। ब्राह्मणका बालक मूर्ख ठीक नहीं होता। और भी बहुत-से लोगोंने पण्डितजीसे आग्रह किया। सब लोगोंके कहनेसे पण्डितजीने पढ़नेकी सम्मति दे दी। निमाई खूब मनोयोगके साथ पढ़ने-लिखने लगे। अब इन्होंने सभी प्रकारकी चञ्चलता छोड़ दी।

एक दिन इन्होंने नैवेद्यका पान खा लिया। उसे खाते ही ये बेहोश हो गये। थोड़ी देरमें होश आनेपर इन्होंने मातासे कहा—'अम्मा! भैया विश्वरूप मेरे पास आये थे, उन्होंने कहा—'तुम भी संन्यासी हो जाओ।' हमने कहा—'हम बालक हैं, भला हम संन्यासका मर्म क्या समझें। हम तो अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा ही करेंगे। यही हमारा धर्म है, हम अपने माता-पिताको छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहते।' मेरी बात सुनकर उन्होंने कहा—'अच्छा, तो ठीक है, माताजीके चरणोंमें हमारा प्रणाम कहना। अब हम जाते हैं।' यह कहकर वे चले गये।

इस बातको सुनकर माताको विश्वरूपकी याद आ गयी। उनकी आँखोंमेंसे अश्रुओंकी धार बहने लगी। उन्होंने अपने प्यारे निमाईको छातीसे चिपटा लिया। उनका मातृस्नेह उमड़ पड़ा और रुँधे हुए कण्ठसे रोते-रोते उन्होंने कहा—'बेटा निमाई! अब हमें तेरा ही एकमात्र सहारा है, हम वृद्ध अन्धोंकी तू ही एकमात्र लकड़ी है। हमारी सब आशाएँ तेरे-ही ऊपर हैं। तू हमें विश्वरूपकी तरह धोखा मत देना।' निमाई बहुत देर-तक माताकी गोदमें चिपके रहे, उन्हें माताकी शीतल सुखदायी गोदीमें परम शान्ति मिल रही थी, माता भी एक अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कर रही थी।

इस प्रकार निमाईकी अवस्था ९ वर्षकी हो गयी। शरीर इनका नीरोग, पुष्ट और सुगठित था, देखनेमें ये १६ वर्षके-से युवक जान पड़ते थे। अब पिताने इनके यज्ञोपवीतकी तैयारियाँ कीं।

व्रत-बन्ध

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते।
वेदपाठी भवेद् विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥*

(धर्मशास्त्र)

संस्कार ही जीवन-पथके परिचायक चिह्न हैं। जैसे संस्कार होंगे उन्हींके अनुसार जीवन आगे बढ़ेगा। संयम और नियम ही उन्नतिके साधन हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने संयमके ही सिद्धान्तोंपर वर्णाश्रम-धर्मका प्रसार किया और उनके लिये पृथक्-पृथक् विधान बनाये। द्विजातियोंके लिये १६ संस्कारोंकी आज्ञा दी। गर्भाधानसे लेकर मृत्यु अथवा संन्यास-पर्यन्त सभी संस्कारोंकी एक विशेष विधिका निर्माण किया। जिनसे चित्त-पर प्रभाव पड़े और भविष्य-जीवन उज्ज्वल बन सके। द्विजातियोंका वेदारम्भ और उपवीत-संस्कार यही प्रधान संस्कार समझा जाता है। असलमें यज्ञोपवीत-संस्कार होनेपर ही बालकके ऊपर वैदिक कर्म लागू होते हैं, इसीलिये इसे व्रत-बन्ध-संस्कार भी कहते हैं। पूर्वकालमें बच्चा जब पढ़नेके योग्य हो जाता था, तो उसे सद्गुरुके आश्रममें ले जाते थे। गुरु उसे ग्रहण करके शौच, आचार और वेदकी शिक्षा देते थे। बस, इसीको उपनयन-संस्कार कहते थे। विद्या समाप्त होनेपर गुरुकी आज्ञासे शिष्य जब घरको लौटता था, तो उसे समावर्तन-संस्कार कहते थे। ये

* जन्म-कालमें बालक शूद्रतुल्य ही होता है। संस्कार होनेसे उसकी द्विजसंज्ञा होती है, जो निरन्तर वेदोंका ही अध्ययन-अध्यापन करते-कराते रहते हैं इससे वे विप्र कहाते हैं और जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया वही असलमें ब्राह्मण है।

तीनों संस्कार आज भी नाममात्रको होते तो हैं, किन्तु इन तीनोंका अभिनय एक ही दिनमें करा दिया जाता है। यह विकृत संस्कार आज भी हमारी महत्ताका स्मरण दिलाता है।

आज निमाईका यज्ञोपवीत संस्कार होगा। घरमें विवाह-शादीकी तरह तैयारियाँ हो रही हैं, मिश्रजीने अपनी शक्तिके अनुसार इस संस्कारको खूब धूमधामसे करनेका निश्चय किया है। घरके आँगनमें एक मण्डप बनाया गया है। उसमें एक ओर विद्वान् ब्राह्मण बैठे हुए हैं, उनके पीछे मिश्रजीके सम्बन्धी और स्नेही बैठे हैं। सामने स्त्रियाँ बैठी हैं, जो भाँति-भाँतिके मङ्गलगीत गा रही हैं। द्वारपर बाजे बज रहे हैं, चारों ओर खूब चहल-पहल दिखायी पड़ती है। ग्रहपूजा और हवनादिका कार्य करानेके निमित्त आचार्य सुदर्शन और विष्णु पण्डित प्रभृति विद्वान् मिश्रजीके पास मण्डपमें बैठे हुए हैं। यथासमय क्षौर कराकर निमाई मण्डपमें बुलाये गये। उनका सिर घुटा हुआ था, आचार्यने उन्हें अपने हाथोंसे ब्रह्मचारियोंके-से पीत वस्त्र पहिनाये। पीले वस्त्रकी लंगोटी पहिनायी, ओढ़नेको मृगचर्म दिया और हाथमें बड़ा-सा एक पलासका दण्ड दिया। अब निमाई पूरे ब्रह्मचारी बन गये। गौर वर्णके उज्ज्वल शरीरपर पीत वस्त्र बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। पिताके पास बैठकर इन्होंने समिधाधान किया, अग्निमें आहुति दी और यज्ञोपवीत धारण किया। मिश्रजीने एक वस्त्रकी आड़ करके इनके कानमें वेदमाता सावित्री अथवा गायत्री-मन्त्रका उपदेश दिया। मन्त्रके श्रवणमात्रसे ये भावमें निमग्न हो गये। मन्त्र सुनते ही इन्होंने एक बड़े जोरकी हुंकार मारी और साथ ही अचेत होकर पृथ्वी-पर गिर पड़े। हाथका दण्ड एक ओर पड़ा था और ये अचेत होकर पृथ्वीपर दूसरी ओर पड़े थे। दोनों नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी, प्राणवायु बहुत धीरे-धीरे चल रहा था। यज्ञके धूम्र लगनेसे लाल-लाल

आँखें आधी खुली हुई थीं और ये संज्ञाशून्य हुए चुपचाप पृथ्वीपर पड़े थे। इनकी ऐसी अवस्था देखकर सभी घबड़ा गये। मिश्रजीने इनके मुहमें जल डाला। कई आदमी पंखेसे हवा करने लगे। धीरे-धीरे इनकी मूर्च्छा भंग हुई और ये कुछ कालमें सचेत हो गये। सभीको इनकी इस अवस्थासे महान् आश्चर्य हुआ। सचेत होनेपर इन्होंने पिताजीसे कहा—'पिताजी! अब मुझे क्या करना चाहिये?'

ब्रह्मचर्य-व्रत लेनेपर छात्रको गुरु-गृहमें रहकर भिक्षापर ही निर्वाह करना होता था, यज्ञोपवीतके समय आज भी एक दिनके लिये भिक्षाका अभिनय कराया जाता है। इसीलिये अब निमाईको भिक्षा माँगनेके लिये झोली दी गयी। निमाईके हृदयपर उस संस्कारका बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा था। इन कृत्योंके कारण इनकी कायापलट-सी हो गयी। मुखपर एक अपूर्व ज्योति दृष्टिगोचर होने लगी। मुँड़ा हुआ माथा सूर्यके प्रकाशमें दमकने लगा। एक हाथमें दण्ड लिये और दूसरेमें झोली लटकाये ब्रह्मचारीके वेशमें निमाई बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। मानो वामन भगवान् अपने भक्त बलिसे भिक्षा माँगने जा रहे हों। ये पहिले अपनी माताके पास भिक्षा माँगने गये, फिर बारी-बारीसे सभीके पास भिक्षा माँगने लगे। आचार्यने इन्हें भिक्षा माँगनेका प्रकार बता दिया था। उसी प्रकार ये सबके सामने जाते और—'भवति भिक्षां देहि' कहकर झोली सामने कर देते। स्त्रियाँ इनके रूप-लावण्यको देखकर मुग्ध हो गयीं, माता मन-ही-मन प्रसन्न हो रही थी, उनके हृदयमें पुत्रस्नेहकी हिलोरें निरन्तर उठ रही थीं। वे निमाईकी शोभाको देखते-देखते तृप्त ही न होती थीं। अतृप्त दृष्टिसे वे नीचा सिर किये हुए धीरे-धीरे निमाईकी ओर निहार रही थीं। स्त्रियाँ इन्हें भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ भेंटमें देतीं। कोई फल देती, कोई मिठाईका थाल और कोई-कोई इनकी झोलीमें द्रव्य डाल देतीं। ये सभीके पास जाकर खड़े हो जाते, जिसके भी सामने खड़े होते उसीकी इच्छा होती कि इसे

सर्वस्व समर्पण कर दें। इस प्रकार ये भिक्षा माँगते हुए इधरसे उधर घूमने लगे।

इसी बीचमें एक वृद्ध ब्राह्मण लाठी टेकते-टेकते संस्कारमण्डपमें आया। उसने निमाईको इशारेसे अपने पास बुलाया, ये जल्दीसे उसके समीप चले गये। उसने अपने काँपते हुए हाथोंसे एक सुपारी इनकी झोलीमें डाल दी। इन्होंने उस सुपारीको जल्दीसे झोलीमेंसे निकालकर अपने मुँहमें डाल लिया। सुपारीके खाते ही इनकी विचित्र दशा हो गयी। ये किसी भारी भावावेशमें मग्न हो गये और उसी भावावेशमें मातासे गम्भीर स्वरमें बोले—'माँ! आजसे एकादशीके दिन अन्न कभी न खाया करना' माता भी भावावेशमें अपनेको भूल गयी। वह समझ न सकी, कि निमाई ही मुझसे उक्त बात कह रहा है। उसे प्रतीत हुआ मानो कोई दिव्य पुरुष मुझे आदेश कर रहे हैं। इसीलिये उसने विनयके साथ उत्तर दिया—'जो आज्ञा, आजसे हरिवासरके दिवस अन्न ग्रहण न करूँगी।'

थोड़ी देरमें इन्होंने कहा—'अच्छा, अब हम जाते हैं, अपने पुत्र-की रक्षा करना।' इतना कहकर ये फिर अचेत होकर गिर पड़े और थोड़ी देर बाद चारों ओर अपनी बड़ी-बड़ी लाल-लाल आँखोंको फाड़-फाड़कर देखने लगे, मानो कोई नींदसे जागा हुआ आदमी आश्चर्यके साथ अपने पासके अपूर्व कार्योंको देख रहा हो। इनके प्रकृतिस्थ होनेपर मिश्रजीने पूछा—'बेटा! क्या बात थी, तुम क्या कह रहे थे।'

इन्होंने सरलताके साथ उत्तर दिया—'नहीं तो पिताजी! मैंने तो कोई बात नहीं कही। मुझे कुछ भी पता नहीं, जाने क्या हुआ। मुझे कुछ निद्रा-सी प्रतीत होने लगी थी।' इस बातको सुनकर सभी इस भावावेशके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके तर्क-वितर्क करने लगे। किसीने कहा—'किसी भूत-प्रेतका आवेश है' किसीने कहा—'किसी दिव्यात्माका आवेश

है।' भक्तोंने कहा—'नहीं, यह साक्षात् हरि भगवान्का आवेश है।' उसी दिन यज्ञोपवीतके समय इनका नाम 'गौरहरि' हुआ। स्त्रियोंको यह नाम बहुत ही प्रिय था। अबसे वे निमाईको प्रायः 'गौर' या 'गौरहरि' ही कहकर पुकारने लगीं।

यज्ञोपवीत-संस्कारके समाप्त होनेपर गौरका समावर्तन-संस्कार किया गया। उनके वस्त्र बदल दिये गये। माताने बड़ी-बड़ी आँखोंमें काजल लगा दिया। नूतन वस्त्र पहिनकर गौर बाहर आये। उन्होंने सबसे पहिले पिताके चरणोंको स्पर्श करके प्रणाम किया, फिर क्रमशः सभी वृद्ध ब्राह्मणोंकी चरण-वन्दना की। ब्राह्मणोंने इन्हें भाँति-भाँतिके आशीर्वाद दिये। इस प्रकार बड़े ही आनन्दके साथ इनका व्रत-बन्ध-संस्कार समाप्त हुआ।

यज्ञोपवीत हो जानेके अनन्तर ये आचार्य सुदर्शन और विष्णु पण्डितके समीप पढ़नेके लिये जाने लगे। इनकी मेधाशक्ति बाल्यकालसे ही बड़ी तीक्ष्ण थी। अध्यापक एक बार जो इन्हें पढ़ा देते, फिर दूसरी बार इन्हें पूछनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। इसलिये अध्यापक इनसे बहुत ही प्रसन्न रहने लगे।

थोड़े दिनोंके प श्चात् मिश्रजीने इन्हें मायापुरके निकटवर्ती गङ्गानगरकी पाठशालामें पढ़नेके लिये भेजा। उस समय उस पाठशालाके प्रधानाध्यापक पण्डित गङ्गादासजी थे। पण्डित गङ्गादासजी व्याकरणके अद्वितीय विद्वान् थे। व्याकरणमें उनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल चुकी थी, बड़े-बड़े योग्य छात्र उनकी पाठशालामें अध्ययन करते थे। उस समय व्याकरणकी वही पाठशाला मुख्य थी। निमाई भी अन्य छात्रोंके साथ पण्डित गङ्गादासजीके समीप व्याकरणका अध्ययन करने लगे।

पिताका परलोकगमन

> रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
> भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
> इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
> हा हन्त ! हन्त !! नलिनीं गज उज्जहार ॥*
>
> (भर्तृ० वै० श०)

---

* (सूर्यास्तके समय कमल मूँद जाते हैं, रसका लोलुप एक भ्रमर भी कमलके साथ उसमें बंद हो गया । रात्रिमें कमलके भीतर-ही-भीतर बैठा वह मनसूबे बाँध रहा था) अब थोड़ी देरमें मनोहर सुन्दर प्रभात हो जायगा । भगवान् भुवनभास्कर उदित होकर सम्पूर्ण लोकको आलोक प्रदान करेंगे, उस समय मारे प्रसन्नताके कमल खिल जायगा, चकवा अपनी प्यारी चकवीके रात्रिभरके वियोगको भूलकर उसे पाकर हँसने लगेगा । इस प्रकार वह चिन्ता कर ही रहा था, कि ओहो बड़े ही कष्टकी बात है, उसी समय एक मतवाला हाथी वहाँ चला आया और जिस कमलकी दण्डीमें वह फूल था, उसे तोड़कर कुचल डाला । भ्रमरके सब मनसूबे मनके मनमें ही रह गये ।

पण्डित जगन्नाथ मिश्रकी आशा-लता अब बड़ी ही तेजीके साथ बढ़ने लगी। उस लतापर छोटी-छोटी कलियाँ आने लगीं। उनकी मीनी-मीनी गन्धके कारण मिश्रजी कभी-कभी अपने आपेको भूल जाते। वे सोचने लगते—'भगवान् मेरी चिराभिलषित आशाको अब शीघ्र ही पूर्ण करेंगे।' मेरी आशा-लता अब शीघ्र ही फूलने-फलने लगेगी। वह दिन कैसा सुहावना होगा, जिस दिन निमाईको बहूके साथ अपने आँगनमें देखूँगा। माता-पिताकी यही सबसे मधुर और सुखकरी कामना है कि वे अपने पुत्रको प्यारी पुत्र-वधूके साथ देख सकें। संसारमें यही उनके लिये एक सुन्दरतम सुअवसर होता है। शचीदेवीके सहित मिश्रजी उसी दिनकी प्रतीक्षा करने लगे। 'तेरे मन कुछ और है, विधनाके कुछ और' विधिको मिश्रजीकी मनसूबा मंजूर नहीं था, उसने तो कुछ और ही रचना रच रखी थी। मिश्रजी अपने प्यारे पुत्रका विवाहोत्सव इस शरीरसे न देख सके।

निमाई अब ग्यारह वर्षके हो गये। नियमित समयपर पढ़ने जाते और रोज आकर पिताजीके चरणोंमें प्रणाम करते। एक दिन उन्होंने देखा, पिताजी ज्वरके कारण अचेत पड़े हैं। उन्होंने घबड़ाकर मातासे पूछा—'अम्मा! पिताजीको क्या हो गया है?' उदास होकर माताने कहा—'बेटा! तेरे पिताको ज्वर आ गया है।' निमाई पिताकी खाटके पास जा बैठे और धीरे-धीरे उनके माथेपर हाथ फेरने लगे। निमाईके सुकोमल शीतल कर-स्पर्शसे पिताकी तन्द्रा दूर हुई। उन्होंने क्षीण स्वरमें कहा—'निमाई! बेटा! मुझे थोड़ा जल तो पिला दे।'

निमाईने पासके बर्तनमेंसे जल पिलाया, अपने वस्त्रसे उनका मुँह पोंछा और प्रेमके साथ पूछने लगे—'पिताजी! अब आपकी तबीयत कैसी है?'

करवट बदलते हुए मिश्रजीने कहा—'अब मैं अच्छा हूँ; चिन्ताकी कोई बात नहीं, तू पढ़ने नहीं गया क्या ?'

निमाईने अन्यमनस्क-भावसे कहा—'अब जबतक आपकी तबीयत अच्छी तरहसे ठीक नहीं होती, तबतक मैं पढ़ने न जाऊँगा ।' मिश्रजी चुप हो गये, निमाई उदास-भावसे उनके पास बैठे रहे ।

कई दिन हो गये, ज्वर कम ही नहीं होता था। वैद्यको भी शचीदेवीने बुलाया । घरमें इतना द्रव्य नहीं था, कि बड़े-बड़े वैद्योंको बुलाया जा सके । पासमें जो मामूली वैद्य थे उन्हींकी बतायी हुई दवा कभी-कभी दी जाती । किन्तु रोग घटनेके स्थानमें बढ़ने लगा । मिश्रजी अपने जीवनकी आशासे निराश हो गये । उन्हें अपने अन्तिम समयका ज्ञान हो गया ।

क्षीण स्वरमें उन्होंने शचीदेवीसे कहा—'अब मेरे जीवनकी कोई आशा नहीं है, मालूम होता है, इस शरीरसे अब मैं अपनी आशाको पूरी होते न देख सकूँगा, अच्छा, जैसी रघुनाथजीकी इच्छा । मैं अब क्या कहूँ, मेरे साथ तुम्हें कुछ भी सुख प्राप्त न हो सका । भगवान्‌की ऐसी ही मर्जी थी, अब मैं तो थोड़े ही समयका मेहमान हूँ, निमाईका खयाल रखना ।' इतना कहते-कहते मिश्रजीकी साँस फूलने लगी । आगे वे कुछ भी न कह सके और चुप होकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगे । शचीदेवी फूट-फूटकर रोने लगी ।

पिताकी ऐसी दशा देखकर निमाईने उन्हें खाटसे नीचे उतारनेकी सलाह दी । मिश्रजी नीचे दामके आसनपर लिटाये गये । मिश्रजीने नीचेसे धीरे-धीरे कहा—'मुझे श्रीभागीरथीके तटपर ले चलो ।' उनकी इच्छाके अनुसार निमाई माताके साथ उन्हें स्वयं गङ्गातटपर ले गये । ग्यारह वर्षके

बालकने किसी दूसरेको हाथ नहीं लगाने दिया। माताकी सहायतासे वे स्वयं मिश्रजीको गङ्गा-तटपर ले गये।'

निमाईने भी समझ लिया, कि अब पिताजी हमें छोड़कर सदाके लिये जा रहे हैं। इसलिये उन्होंने रोते-रोते कहा—'पिताजी! मुझसे क्या कहते हैं, मुझे किसके हाथों सौंप रहे हैं?'

मिश्रजीने अपने शक्तिहीन हाथको धीरे-धीरे उठाकर निमाईके सिरपर फिराया और उनके सिरको छातीपर रखकर क्षीण स्वरमें कहा—'निमाई! मैं तुझे भगवान् विश्वम्भरके हाथों सौंपता हूँ, वे ही तेरी रक्षा करेंगे।' यह कहते-कहते मिश्रजीने पुण्यतोया भगवती भागीरथीकी गोदमें अपना यह नश्वर शरीर त्याग दिया। निमाई और शचीदेवी चीत्कार करके रोने लगे। सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें धैर्य धारण कराया। यथाविधि निमाईने पिताकी अन्त्येष्टि क्रिया की। पिताके परलोकगमनसे उन्हे बहुत दुःख हुआ। माताको तो चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार प्रतीत होने लगा। उन्हें मिश्रजीकी असामयिक मृत्युसे बहुत दुःख हुआ। घरमें कोई दूसरा नहो था। इसलिये गौरने ही माताको धैर्य धारण कराया। उन्होंने मातासे कहा—'अम्मा! भाग्यको कौन मेंट सकता है। मृत्यु तो एक-न-एक दिन सभीकी होनी है। हमारे भाग्यमें इतने ही दिन पिताजीका साथ बदा था। अब वे हमें छोड़कर चले गये। तुम इतनी दुखी मत हो। तुम्हे दुखी देखकर मेरा कलेजा फटने लगता है। मैं हर तरहसे तुम्हारी सेवा करनेको तैयार हूँ।'

निमाईके समझानेपर माताने धैर्य धारण किया और अपने शोकको छिपाया।

विद्याव्यासंगी निमाई

> अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
> रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम् ।
> लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरङ्गहृद्या
> विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥*
> (सु० र० भां० ४० । २५)

प्रायः मेधावी बालक गम्भीर होते हैं। उनके गाम्भीर्यमें उनक पाण्डित्य प्रस्फुटित नहीं होता, वे लोगोंके सम्मान-भाजन तो अवश्य बन जाते हैं, किन्तु सभी साथी उनसे खुलकर बातें नहीं कर सकते। उनके साथ संलाप करनेमें कुछ संकोच और भय-सा हुआ करता है। यदि प्रखर बुद्धिवाला छात्र मेधावी होनेके साथ ही चञ्चल, हँसमुख और मिलनसार भी हो तब तो उसका कहना ही क्या ? सुहागा मिले सोनेमें मानो सुगन्ध भी विद्यमान है। ऐसा छात्र छोटे-बड़े सभी छात्रों तथा अध्यापकोंक प्रीति-भाजन बन जाता है। निमाई ऐसे ही विद्यार्थी थे। ये आवश्यकतासे अधिक चञ्चल थे और वैसे ही अद्वितीय मेधावी। हँसीका तो मानो मुखसे सदा फुव्वारा ही छूटता रहता। ये बात-बातपर खूब जोरोंसे खिल-

---

* विद्वानोंकी मनोवृत्ति जगत्‌का हित करनेवाली और संसारी लोगोंकी वृत्तिसे विलक्षण ही होती है। उनकी वचनावलीकी रचना भी कुछ अलौकिक ही होती है। आकृति मनोहर और कृति लोकोत्तर होती है। उनकी सभी बातें ऐसी होती हैं जिनका वाणीके द्वारा वर्णन किया ही नहीं जा सकता।

खिलाकर हँसते और दूसरोंको भी अपने मनोहर विनोदोंसे हँसाते रहते। इनके पास मुँह लटकाये कोई बैठ ही नहीं सकता था, ये रोतेको हँसानेवाले थे।

पं० गंगादासजीकी पाठशालामें बहुत बड़े-बड़े विद्यार्थी अध्ययन करते थे जो इनसे विद्यावृद्ध होनेके साथ ही वयोवृद्ध भी थे। ३०-३०, ४०-४० वर्षके छात्र पाठशालामें थे। इनकी अवस्था अभी १३-१४ ही वर्षकी थी, फिर भी ये बड़े छात्रोंसे सदा छेड़खानी करते रहते। उन छात्रोंमें बहुत-से तो बड़े ही मेधावी और प्रत्युत्पन्नमति थे, जो आगे चलकर लोक-प्रसिद्ध पण्डित हुए। प्रसिद्ध कवि मुरारी गुप्त, कमलाकान्त, तन्त्रशास्त्रके सर्वमान्य आचार्य कृष्णानन्द उन दिनों उसी पाठशालामें पढ़ते थे। निमाई छोटे-बड़े किसीसे भी संकोच नहीं करते थे, ये सभीसे भिड़ जाते और उनसे वाद-विवाद करने लगते। विशेषकर ये वैष्णव-विद्यार्थियोंको खूब चिढ़ाया करते थे। उनकी भाँति-भाँतिसे मीठी-मीठी चुटकियाँ लेते और उन्हें लज्जित करके ही छोड़ते थे।

मुरारी गुप्त इनसे अवस्थामें बड़े थे, किन्तु ये उन्हें सदा चिढ़ाया करते। मुरारी पहिले तो बालक समझकर सदा इनकी उपेक्षा करते रहते। जब उन्हें इनकी विलक्षण बुद्धिका परिचय प्राप्त हुआ, तब तो वे इनके साथ खूब बातें करने लगे। ये कहते—'मुरारी! अमुक प्रयोगको सिद्ध करो।' मुरारी उसे ठीक-ठीक सिद्ध करते। ये उसमें बीसों दोष निकालते, उसका कई प्रकारसे खण्डन करते। मुरारी इनकी तर्कशैलीको सुनकर आश्चर्य प्रकट करने लगते, तब आप एक-एक शंकाका समाधान करते हुए मुरारीके ही मतको स्थापित करते। फिर हँसकर कहते—'गुप्त महाशय! यह तो पण्डितोंका काम है, आप ठहरे वैद्यराज। जड़ी-बूटी घोंट-पीसकर गोली बनाना सीख लो! नाड़ी देख ली, फिर चाहे रोगी मरो

या जीओ, तुम्हें अपने टकेसे काम। 'वैद्यराज नमस्तुभ्यं यमराजसहोदर। यमस्तु हरते प्राणान् त्वं तु प्राणान् धनानि च ॥' 'तुम तो यमराजके सहोदर हो। तुम्हें नमस्कार है।' मुरारी इनकी ये बातें सुनते और मन-ही-मन लज्जित होते, ऊपरसे इनके साथ हँसने लगते। इस प्रकार ये मुरारीके साथ सदा ही विनोद करते रहते। कभी-कभी मुरारी अत्यन्त चिढ़ानेसे खिन्न भी हो जाते, तब ये अपना कोमल करकमल उनकी देहपर फेरने लगते। इनके स्पर्शमात्रसे ही वे सब बातें भूल जाते और इनके प्रति अत्यन्त स्नेह प्रकट करने लगते। मुरारीमे इनकी खूब पटती थी और मुरारी भी इनमे हार्दिक स्नेह करते थे।

वाद-विवाद करनेमे ये अद्वितीय थे। जो भी छात्र मिल जाता उसीसे भिड़ पड़ते और वह चाहे उल्टा कहे या सीधा, सभीका खण्डन करते और उसे परास्त करके ही छोड़ते। अपने आप ही पहिले किसी विषयका खण्डन कर देते, फिर युक्तियोंद्वारा स्वयं ही उसका मण्डन भी करने लगते। विद्यार्थी इनकी ऐसी विलक्षण बुद्धिकी बारंबार बड़ाई करते और इनकी वाक्पटुताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते। किसी भी पाठशालाके छात्रको गङ्गातटपर या कहीं अन्यत्र रास्तेमें पाते वहीं उसे पकड़ लेते और उससे संस्कृतमें पूछते—'तुम्हारे गुरुका क्या नाम है? क्या पढ़ते हो?' जब वह कहता अमुक पाठशालामें व्याकरण पढ़ता हूँ, तब झट आप उससे प्रयोग पूछने लगते। बेचारा विद्यार्थी इनसे जिस किसी भाँति अपना पीछा छुड़ाकर भागता। शामके समय सभी पाठशालाओंके छात्र दल बना-बनाकर गङ्गाजीके किनारे आते और परस्परमें शास्त्रालाप किया करते। ये उन सबमें प्रधान रहते। कभी किसी पाठशालाके छात्रोंके साथ शास्त्रार्थ कर रहे हैं, कभी किसी पाठशालाके छात्रोंको परास्त कर रहे हैं, यही इनका नित्यप्रतिका कार्य था। दस-दस बीस-बीस छात्र मिल-कर इनसे शङ्का करने लगते। ये बारी-बारीसे सबका उत्तर देते। इनकी

पाठशालावाले इनका पक्ष लेते। कभी-कभी बातों-ही-बातोंमें वितण्डा भी होने लगता और मार-पीटतककी नौबत आ जाती। इस बातमें भी ये किसीसे कम नहीं थे। इस प्रकार ये सभी पाठशालाओंके छात्रोंमें प्रसिद्ध हो गये। विद्यार्थी इनकी सूरतसे घबड़ाते थे।

उन दिनों आजकलकी भाँति व्याकरणके टीकाग्रन्थोंका प्रचार नहीं था, छापेखाने नहीं थे, इसलिये पुस्तकें हाथसे ही लिखनी पड़ती थीं और मूलके साथ ही टीकाको भी कण्ठस्थ ही करना पड़ता था। अध्यापक टीकाओंके ऊपर जो टिप्पणियाँ बताते उन्हें छात्र भूल जाते थे। इसलिये कई छात्र परस्पर मिलकर पाठको विचार न लें तबतक पाठ लगता ही नहीं था। अब भी पाठशालाओंमें बुद्धिमान् छात्र अपने साथियोंको पाठ विचरवाया करते हैं। निमाई भी अपने साथियोंको पाठ विचरवाते, इसलिये सभी छात्र इनका गुरुकी भाँति आदर करते थे। ये विषयको इस ढंगसे समझाते थे कि मूर्ख-से-मूर्ख भी छात्र सहजहीमें पढ़े हुए पाठको समझ जाता था।

उन दिनों गौराङ्ग व्याकरणके 'पञ्जीटीका' नामक ग्रन्थको समाप्त कर चुके थे, इन्होंने उसके ऊपर एक सरल टिप्पणी भी लिखी। इनकी की हुई टीकाके ऊपर टिप्पणी विद्यार्थियोंके बड़े ही कामकी थी, बहुत शीघ्र ही विद्यार्थियोंमें इनकी टिप्पणीका प्रचार हो गया और बड़े-बड़े विद्वानोंने इनकी पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणीकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की। यहाँतक नहीं, उस टिप्पणीका नवद्वीपसे बाहर अन्य देशोंके छात्रोंमें भी प्रचार हुआ और सभीने इनके पाण्डित्यकी सराहना की। इस प्रकार इनकी प्रशंसा दूर-दूरतक फैल गयी। व्याकरणके साथ ही ये अलंकारके भी पाठ सुनते और उन्हें सुनते-सुनते ही हृदयंगम करते जाते थे। इस प्रकार ये थोड़े ही समयमें व्याकरण तथा अलंकारमें प्रवीण हो गये।

उन दिनों नवद्वीपमें न्यायका बोलबाला था। जो पण्डित व्याकरण पढ़कर न्याय नहीं जानता, उसका विशेष सम्मान नहीं होता था। न्यायमें उन दिनों पं० वासुदेव सर्वभौम नदियाके राजा समझे जाते थे। न्यायमें उन्हींकी पाठशाला सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी और उसमें सैकड़ों छात्र पढ़ते थे। उस पाठशालाके पढ़े हुए छात्र आज संसारप्रसिद्ध पण्डित माने जाते हैं। नव्यन्यायकी जो टीका 'जागदीशी' के नामसे न्यायका ही परिचय देती है उसीके प्रणेता पं० जगदीशके भी गुरु भवानन्द इसी पाठशालाके छात्र थे। 'दीधिति' नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थके प्रणेता पं० रघुनाथजी भी उन दिनों इसी पाठशालामें पढ़ते थे। इस प्रकार वह पाठशाला न्यायका एक भारी केन्द्र बनी हुई थी। निमाई भी पाठशालामें जाकर न्यायका पाठ सुनने लगे। ऐसी पाठशालाओंमें प्रत्येक छात्रोंके पृथक् पाठ नहीं चलते हैं। दस-पाँच पाठ होते हैं, अपनी जैसी योग्यता हो, उसी पाठको जाकर सुनते रहो; बस, यही पढ़ाई थी। सैकड़ों छात्र और पण्डित पाठ सुनने आते हैं। अध्यापक उनमेंसे बहुतोंका नाम-पता भी नहीं जानते। वे पाठ सुनकर चले जाते हैं। आज भी काशी आदि बड़े-बड़े स्थानोंकी प्राचीन ढंगकी पाठशालाओंमें ऐसा ही रिवाज है। निमाई भी पाठशालामें जाकर पाठ सुन आते। सार्वभौम महाशयका उन दिनों इनके साथ कोई विशेष परिचय नहीं हुआ; किन्तु इनकी चञ्चलता, चपलता, वाक्पटुता और लोकोत्तर मेधाके कारण मुख्य-मुख्य छात्र इनसे बहुत स्नेह करने लगे। वे यह भी जानने लगे कि न्याय-जैसे गम्भीर विषयको निमाई भलीभाँति समझता है। वह अन्य बहुत-से छात्रोंकी भाँति केवल सुनकर ही नहीं चला जाता।

पीछे जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं वे ही 'दीधिति' महाग्रन्थके रचयिता पण्डित रघुनाथ उन दिनों सभी छात्रोंमें सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। उन्हें स्वयं भी अपनी तर्कशक्ति और विलक्षण बुद्धिका भरोसा था। उनकी

उस समयसे ही यह प्रबल वासना थी कि मैं भारतवर्षमें एक प्रसिद्ध नैयायिक बनूँ। सम्पूर्ण देशमे मेरी विलक्षण बुद्धिकी ख्याति हो जाय। जो जैसे होनहार होते हैं, उनकी पहिलेसे ही वैसी भावना होती है। रघुनाथकी भी सर्वमान्य बननेकी पहिलेसे ही वासना थी। रघुनाथके साथ निमाईका परिचय पहिलेसे ही हो चुका था। उनके साथ इनकी गाढ़ी मैत्री भी हो चुकी थी। निमाई कभी-कभी रघुनाथके निवासस्थानपर भी जाया करते और उनसे न्यायसम्बन्धी बातें भी किया करते थे। इनकी बातचीतोंसे ही रघुनाथ समझ गये कि यह भी कोई होनहार नैयायिक है। वे समझते थे कि मुझसे न्यायमें स्पर्धा रखनेवाला नवद्वीपमें दूसरा कोई छात्र नहीं है। निमाईसे बातचीत करते-करते कभी उन्हें खटकने लगता कि यदि यह इसी प्रकार परिश्रम करता रहा, तो सम्भवतया मुझसे बढ़ सकता है। किन्तु उन्हें अपनी बुद्धिपर पूरा भरोसा था, इसलिये इस विचारको वे अपने हृदयमें जमने नहीं देते थे।

एक दिन रघुनाथको गुरुने कोई 'पंक्ति' लगानेको दी। वह 'पंक्ति' रघुनाथकी समझमें ही नहीं आयी। वे दिनभर चुपचाप बैठे हुए उसी पंक्तिको सोचते रहे। तीसरे पहर जाकर वह पंक्ति रघुनाथकी समझमें आयी, उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। गुरुको बताकर वे अपने स्थानपर भोजन बनाने चले गये।

निमाईका स्वभाव तो चञ्चल था ही, रघुनाथको पाठशालामें न देखकर आप उनके निवासस्थानपर पहुँचे। वहाँ जाकर देखा रघुनाथ भोजन बना रहे हैं। लकड़ी गीली है। रघुनाथ बार-बार फूँकते हैं, अग्नि जलती ही नहीं। धुएँके कारण उनकी आँखें लाल पड़ गयी हैं और उनमें-से पानी निकल रहा है। हँसते हुए निमाईने रघुनाथके चौकेमें प्रवेश किया। प्रेमके साथ हँसते हुए बोले—'पण्डित महाशय! आज असमयमें रन्धन क्यों हो रहा है?'

अग्निमे फूक देते हुए रघुनाथने कहा—'क्या बताऊँ भाई ! गुरुजीने एक 'पंक्ति' लगानेके लिये दी थी, वह मेरी समझमें ही नहीं आयी। दिनभर सोचते रहनेपर अब समझमे आयी, उसे अभी गुरुजीको सुनाकर आया हूँ, इसीलिये भोजन बनानेमें देर हो गयी।'

जल्दीसे निमाईने कहा—'जरा हम भी तो उस पंक्तिको सुनें ! पंक्ति क्या थी आफत थी, जो आप-जैसे पण्डितकी समझमे इतनी देरमे आयी। जरूर कोई बहुत ही कठिन होगी। मैं भी उसे एक बार सुनना चाहता हूँ।'

रघुनाथने वह पंक्ति सुना दी। थोड़ी देर सोचनेके अनन्तर निमाई हँस पड़े और बोले—'बस, इसी छोटी-सी 'पंक्ति' को इतनी देर सोचते रहे, इसमे है ही क्या ?'

ज़रा आवेशके साथ रघुनाथजीने कहा—'अच्छा, कुछ भी नहीं है तो तुम्हीं लगाकर बताओ।'

इतना सुनते ही निमाईने बड़ी ही सरलताके साथ पंक्तिके पूर्वपक्षकी स्थापना की। फिर यथावत् एक-एक शङ्काका समाधान करते हुए उसे बिल्कुल ठीक लगा दिया।

निमाईके मुखसे उस इतनी कठिन पंक्तिको खिलवाड़की भाँति हँसते-हँसते लगाते देख रघुनाथके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। उन्हें जो शङ्का थी, वह प्रत्यक्ष आ उपस्थित हुई। उनकी सभी आशापर पानी फिर गया। भोजन बनाना भूल गये। निमाई उनके मनोभावको ताड़ गये कि रघुनाथ कुछ लज्जित हो गये हैं, इसलिये यह कहते हुए कि 'अच्छा आप भोजन बनावें फिर मिलेंगे।' पाठशालाकी ओर चले गये। रघुनाथने जैसे-तैसे भात तो बनाया, किन्तु उनके हृदयमें निमाईकी बुद्धिके प्रति डाह होनेके कारण उन्हें भोजनमें आनन्द नहीं आया, जैसे-तैसे भोजन करके वे

पाठशालामें आये।

अब निमाईकी अवस्था सोलह वर्षकी हो चुकी थी, उनके घुँघराले लम्बे-लम्बे बाल, तेजस्वी चेहरा, सुगठित शरीर, बड़ी-बड़ी सुहावनी आँखें, मिष्ट-भाषण और मन्द-मन्द मुस्कान देखनेवालेको स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती थीं। वे सभीसे दिल खोलकर मिलते और खूब घुल-घुलकर बातें करते। उनके मिलनेवाले परस्परमें सभी यही समझते कि निमाई जितना अधिक स्नेह हमसे करता है, उतना किसी दूसरेसे शायद ही करता हो। इसका कारण यह था कि उनके हृदयमें किसी भी प्राणीके प्रति द्वेष नहीं था। जिसके हृदयमें प्राणीमात्रके प्रति सम्मान है उसे सभी अपना सगा-सम्बन्धी समझने लगते हैं। इसीलिये निमाईके बहुत अधिक स्नेही थे। व्याकरण पढ़नेके अनन्तर ये न्यायका अभ्यास करने लगे और उसी बीच न्यायके ऊपर भी एक टिप्पणी लिखने लगे।

इनके सहपाठी और स्नेही पं० रघुनाथजी उसी समय अपने जगत्-प्रसिद्ध 'दीधिति' ग्रन्थको लिख रहे थे। वे समझते थे, मेरा यह ग्रन्थ अर्वाचीन-न्यायके ग्रन्थोंमें अद्वितीय होगा। जब उन्होंने सुना कि निमाई भी एक न्यायका ग्रन्थ लिख रहे हैं, तब तो इनको भय मालूम पड़ने लगा और इनकी प्रबल इच्छा हुई कि उस ग्रन्थको देखना चाहिये। यह सोच-कर एक दिन उन्होंने निमाईसे कहा—'भाई! हमने सुना है, न्यायके ऊपर तुम कोई ग्रन्थ लिख रहे हो? हमारी बड़ी इच्छा है, किसी दिन अपने ग्रन्थको हमें भी दिखाओ।'

इन्होंने जोरोंसे हँसते हुए कहा—'अजी! आप भी कैसी बात कर रहे हैं। भला, हम न्याय-जैसे जटिल विषयपर लिख ही क्या सकते हैं? यह तो आप-जैसे पण्डितोंका काम है। हम तो वैसे ही मनोविनोदके लिये खिलवाड़-सा करने लगे हैं। आपसे किसने कह दी।'

रघुनाथने आग्रहके साथ कहा—'कुछ भी हो, मेरी बड़ी प्रबल इच्छा है, यदि तुम्हें कोई आपत्ति न हो, तो अपने ग्रन्थको मुझे ज़रूर दिखाओ।'

इन्होंने जल्दीसे कहा—'भला, इसमें आपत्तिकी बात ही क्या हो सकती है? यह तो हमारा सौभाग्य है कि आप-जैसे विद्वान् हमारी कृतिके देखनेकी जिज्ञासा करते हैं। मैं कल ज़रूर उसे लेता आऊँगा।'

दूसरे दिन निमाई अपने ग्रन्थको साथ लेते आये। पाठशालासे लौटते समय वे नावपर बैठकर रघुनाथको अपने ग्रन्थको सुनाने लगे। रघुनाथ ज्यों-ज्यों उस ग्रन्थको सुनते थे, त्यों-ही-त्यों उनकी मनोवेदना बढ़ती जाती थी। यहाँतक कि वे ग्रन्थको सुनते-सुनते फूट-फूटकर रोने लगे। निमाई अपनी धुनिमें सुनाते ही जा रहे थे, उन्हें पता भी नहीं था, कि रघुनाथकी ग्रन्थके सुननेसे क्या दशा हो रही है। सुनाते-सुनाते एक बार इन्होंने दृष्टि उठाकर रघुनाथकी ओर देखा। इनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। आश्चर्य प्रकट करते हुए निमाईने पूछा—'भैया! तुम रो क्यों रहे हो?'

आँसू पोंछते हुए रुद्धकण्ठसे उन्होंने कहा—'निमाई! तुमसे मैं अपने मनोगत भावोंको छिपाकर एक नया दूसरा पाप न करूँगा। सत्य बात तो यह है कि मैं इस अभिलाषासे एक ग्रन्थ लिख रहा था कि यह सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ होगा। किन्तु तुम्हारे इस ग्रन्थको देखकर मेरी चिराभिलषित आशापर पानी फिर गया। भला, तुम्हारे इस ग्रन्थके सामने मेरे ग्रन्थको कौन पूछेगा? इसी मनोवेदनाके कारण मैं अपने आँसुओंको रोकनेमें असमर्थ हो गया हूँ।'

यह सुनकर निमाई बड़े ज़ोरोंसे हँसे और उन्हें स्पर्श करते हुए बोले—'बस, इस छोटी-सी बातके ही लिये आप इतना अनुताप कर रहे

हैं। भला, यह भी कोई बात है, यह तो साधारण-सी पोथी है, मैं आपकी प्रसन्नताके निमित्त जलती अग्निमें भी कूदकर इन प्राणोंको स्वाहा कर सकता हूँ, फिर यह तो बात ही क्या है ? इस पुस्तकने आपको इतना कष्ट पहुँचाया, लो इसे मैं अभी नष्ट किये देता हूँ।' इतना कहते-कहते निमाई-ने अपनी बड़े परिश्रमसे हस्तलिखित पोथीको गङ्गाजीके प्रवाहमें फेंक दिया। जाह्नवीके तीक्ष्ण प्रवाहकी हिलोरोंमें पुस्तकके पन्ने इधर-उधर नाचने लगे, मानो निमाईके त्याग और प्रेमके गीत गा-गाकर वे आनन्दमें थिरक रहे हों।

रघुनाथने निमाईको गलेसे लगाया और प्रेमके कारण रुँधे हुए कण्ठसे बोले—'भैया निमाई! ऐसा लोकोत्तर दुस्साध्य कार्य तुम्हीं कर सकते हो। इतनी भारी लोकैषणाको तृणवत् समझकर उसका तिरस्कार कर देना तुम्हारे-जैसे ही महापुरुषोंका काम है। हम तो कीर्ति और प्रतिष्ठाके कीड़े हैं। हमारी पुस्तककी अपेक्षा तुम्हारे इस त्यागकी संसारमें लाखों गुनी ख्याति होगी और आगेके लोग इस त्यागके द्वारा प्रेमका महत्त्व समझ सकेंगे।'

इस प्रकारकी बातें करते हुए दोनों मित्र अपने-अपने घर लौट आये। उसी दिनसे निमाईका न्याय पढ़ना ही नहीं छूटा, किन्तु उनका पाठशाला जाना ही छूट गया। अब उन्होंने ऐसी विद्याको पढ़ना एकदम त्याग दिया। घरपर पिताकी और ज्येष्ठ भ्राताकी बहुत-सी पुस्तकें थीं, वे उन्हींका स्वयं अध्ययन करने लगे।

अपूर्व त्याग

पत्तोंसे भोगे हुए प्राणी शीतलताका सुखास्वादन करते हैं, उसकी पूर्ण आयुका अनुमान भी नहीं किया जाता है। यह शाश्वत वृक्ष बन जाता है।

निमाई यद्यपि अपने साथी विद्यार्थियोंकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और विलक्षण थे, फिर भी साधारण लोग यही समझते थे कि कालान्तरमें यह भी एक पाठशाला खोलकर नवद्वीपका अन्य पण्डितोंकी भाँति एक नामी पण्डित बन जायगा। यह भी अन्य पण्डितोंकी भाँति स्त्री-पुत्रोंमें आसक्त होकर सुखपूर्वक संसारी सुखोंका उपभोग करेगा। क्योंकि विद्वान् हो अथवा मूर्ख संसारी विषयोंमें तो सब समानरूपसे ही रत रहते हैं। बड़े लोगोंकी भोग-सामग्री बहुमूल्य और बड़ी होती है। छोटे लोग साधारण भोग-सामग्रियोंसे ही अपनी वासनाओंको पूर्ण करते हैं, किन्तु उनमें आसक्ति दोनोंकी समान ही है। बँधे दोनों ही हैं। फिर चाहे यह बन्धन रस्सीका हो अथवा रेशमका। सोनेकी हो या लोहेकी, बेड़ी तो समान ही हैं। दोनों ही बन्धनसे प्रभुकी इच्छाके बिना नहीं निकल सकते। अन्यान्य पण्डितोंको धनके ही लिये विद्योपार्जन करते देख लोगोंका यही अनुमान हो गया था कि निमाई भी अपने विद्या-बलसे खूब धन प्राप्त करेगा। उन्हें यह पता नहीं था, इसके उपदेशसे असंख्यों मनुष्य स्त्री, धन, परिवार और समस्त उत्तमोत्तम भोग-सामग्रियोंको तुच्छ समझकर महाधनकी प्राप्तिमें कटिबद्ध हो जायँगे और अपने मनुष्य-जन्मको सार्थक बनावेंगे। संसारी लोग बेचारे और अनुमान कर ही क्या सकते हैं! इनका आरम्भिक जीवन आदिमें अन्य साधारण जीवनोंकी भाँति था ही, इससे लोगोंका यही अनुमान लगाना ठीक था।

निमाईकी अवस्था अब सोलह वर्षकी है। व्याकरण, अलङ्कार और न्यायमें इन्होंने प्रवीणता प्राप्त कर ली है। आगे पढ़नेकी भी इच्छा थी, किन्तु कई कारणोंसे इन्होंने पाठशालामें जाकर पढ़ना बंद कर दिया।

घरपर अकेली विधवा माता थी, निर्वाहका कोई दूसरा प्रबन्ध नहीं था। आकाशी वृत्ति थी, ईश्वरेच्छासे जो भी आ जाता उसीपर निर्वाह होता। मिश्रजी कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ गये थे, उनके सामने भी इसी प्रकार निर्वाह होता था। अब निमाई समझदार हो गये, विद्वान् भी बन गये, इसीलिये अब जीवन-निर्वाहके लिये भी कुछ उद्योग करना चाहिये। वृद्धा माताको सुख पहुँचानेका यही अवसर है। यह सब सोच-समझकर इन्होंने सोलह वर्षकी छोटी ही अवस्थामें अध्यापनका कार्य करना आरम्भ कर दिया।

इनकी विलक्षण बुद्धि और पठन-पाठनकी अद्वितीय सुन्दर शैलीसे सभी शास्त्रीय ज्ञान रखनेवाले पुरुष परिचित थे। इसलिये इन्हें नवद्वीप-जैसे विद्याके भारी केन्द्रस्थानमें अध्यापक बननेमें कोई कठिनता न हुई। नवद्वीपमें मुकुन्द संजय नामके एक विद्यानुरागी धनी-मानी व्यक्ति थे। उनके एक पुरुषोत्तम संजय नामका पुत्र था। संजय महाशय अपने पुत्रके पढ़ानेके निमित्त किसी योग्य अध्यापककी तलाशमें थे। निमाईकी ऐसी इच्छा देख उन्होंने इनसे प्रार्थना की। निमाई स्वयं ही एक पाठशाला स्थापित करनेकी बात सोच रहे थे, किन्तु उनके छोटे-से मकानमें पाठशाला स्थापित करनेके योग्य स्थान ही न था। संजय भगवत्-भक्त होनेके साथ धनी भी थे। बङ्गालमें प्रायः सभी धार्मिक पुरुषोंके यहाँ एक 'चण्डी-मण्डप' नामसे अलग स्थान होता है, उसे 'देवी-गृह' या 'ठाकुर-दालान' भी कहते हैं। नवदुर्गाओंमें उक्त स्थानपर ही चण्डीपाठ और पूजा तथा उत्सव हुआ करते हैं। यह स्थान ऐसे ही शुभ कार्योंके लिये सुरक्षित होते हैं। योग्य और विद्वान् अतिथिके आनेपर इसी स्थानमें उनका आतिथ्यादि भी किया जाता है। अपनी शक्तिके अनुसार धनिकोंका चण्डी-मण्डप विस्तृत, सुन्दर और अधिक कीमती होता है। संजय महाशयका चण्डी-मण्डप खूब बड़ा था। निमाई पण्डितने उसी मण्डपमें अपनी

स्थापित की। इधर-उधरसे बहुत-से छात्र इनका नाम सुनकर पढ़ने आने लगे। पुत्रके साथ संजय भी निमाईसे विद्याध्ययन करने लगे। इनकी पढ़ानेकी शैली बड़ी ही सरल तथा चित्ताकर्षक थी, इसलिये थोड़े ही समयमें इनकी पाठशाला चल निकली और सैकड़ों छात्र इनके पास पढ़ने आने लगे। ये विद्यार्थियोंके साथ गुरु-शिष्यका व्यवहार न करके एक प्रेमी मित्रका-सा व्यवहार करते। उनसे खूब हँसी-दिल्लगी करते, घरका हाल-चाल पूछते और अपनी सब बातें बताते। इससे विद्यार्थी इनके ऊपर अत्यधिक अनुराग रखने लगे। बहुत-से विद्यार्थी तो इनसे अवस्थामें बहुत बड़े-बड़े थे। वे सब भी इनके पास अध्ययन करने आते और इनका हृदयसे बहुत अधिक आदर करते थे। इस प्रकार इनकी पाठशाला नवद्वीपमें एक प्रसिद्ध पाठशाला मानी जाने लगी। व्याकरण-शास्त्रमें गंगादासजीकी पाठशालाको छोड़कर निमाईकी पाठशाला सबसे श्रेष्ठ समझी जाती थी। निमाई विद्यार्थियोंके साथ परिश्रम भी खूब करते थे।

एक दिन निमाई पण्डित पाठशालासे पढ़ाकर अपने घर जा रहे थे। दैवात् गङ्गाजी जाते हुए रास्तेमें पं० बल्लभाचार्यजीकी तनया लक्ष्मीदेवीसे उनका साक्षात्कार हो गया। बल्लभाचार्य निमाईके सजातीय ब्राह्मण थे। इन्होंने लक्ष्मीदेवीको पहिले भी कई बार देखा था, किन्तु आजके दर्शनमें विशेषता थी। लक्ष्मीदेवीको देखते ही परम सदाचारी निमाईके 'भावस्थितानि जननान्तरसौहृदानि' इस न्यायके अनुसार पूर्वजन्मके संस्कार जाग्रत् हो उठे। स्वाभाविक सौहृद तो स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, इसमें चेष्टा करना या अनुराग करना तो कहा ही नहीं जा सकता। इन्होंने लक्ष्मीदेवीकी ओर देखा। लक्ष्मीदेवीने भी धीरेसे इनकी ओर देखा और इनके पादपद्मोंमें भक्तिसे मन-ही-मन प्रणाम करके वह गङ्गाकी ओर चली गयी। ये अपने घरकी ओर चले गये।

भावीकी भवितव्यता तो देखिये उसी दिन वनवारी घटक नामके जगन्नाथ मिश्रके स्नेही एक ब्राह्मण शचीदेवीके समीप आये और मातासे कहने लगे—'निमाई अब सयाना हो गया है, अब उसके विवाहका शीघ्र ही उद्योग करना चाहिये। यदि तुम्हें पसंद हो तो पं० वल्लभाचार्यकी एक कन्या है। तुम उसे चाहो तो देख सकती हो। लाखोंमें एक है, बड़ी ही सुशीला, सुन्दरी और बुद्धिमती लड़की है। निमाईके वह सर्वथा योग्य है। यदि तुम्हें यह सम्बन्ध मंजूर हो तो मैं पण्डितजीसे इस सम्बन्धमें कहूँ।'

माता स्वयं पुत्रके विवाहकी चिन्तामें थीं, किन्तु वे निमाईकी इच्छाके बिना कोई सम्बन्ध निश्चित करना नहीं चाहती थीं। घरमें कोई दूसरा आदमी सलाह करनेके लिये था नहीं, पुत्र समझदार और सयाना था, उसकी अनुमतिके बिना वे विवाहके सम्बन्धमें किसीको निश्चित वचन नहीं दे सकती थीं, अतः बातको टालते हुए माताने कहा—'इस पितृ-हीन बालकका विवाह ही क्या है, अभी तो वह पढ़ ही रहा है। कुछ करने लगेगा तो देखा जायगा।'

घटक महाशय शचीमाताका ऐसा उदासीन भाव देखकर समझ गये कि माताको यह सम्बन्ध मंजूर नहीं। कारण कि पं० वल्लभाचार्य बहुत ही गरीब थे। ब्राह्मणने समझा, माता अपने पण्डित पुत्रका निर्धनकी लड़कीके साथ विवाह करना नहीं चाहती है। यह समझकर वे लौट आये। दैवात् रास्तेमें उन्हें निमाई मिल गये। इन्हें देखते ही निमाई खिल उठे और हँसते हुए बोले—'कहिये, घटक महाशय! किधर-किधरसे आगमन हो रहा है।'

कुछ असन्तोषके भावसे घटकने उत्तर दिया—'तुम्हारी माताके पास पं० वल्लभाचार्यकी पुत्रीके साथ तुम्हारे विवाहकी बातचीत करने गया था,

सो उन्होंने मंजूर ही नहीं किया। कहो तुम्हारी क्या सलाह है ?'

निमाई यह सुनकर हँस पड़े। उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वे हँसते हुए घर चले गये। घर पहुँचकर इन्होंने कुछ मुस्कराते हुए कहा—'घटक उदास होकर जा रहे थे, वल्लभाचार्यजीका सम्बन्ध मंजूर क्यों नहीं किया ?'

माता समझ गयीं, कि निमाईको इस सम्बन्धमें कोई आपत्ति नहीं है, इसलिये उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन घटकको बुलाकर उन्होंने कहा—'आचार्य महाशय, कल आप जो बात कहते थे, वह मुझे स्वीकार है, आप पं० वल्लभाचार्यसे कहकर सब ठीक करा दीजिये। आप ही अब हमारे हितैषी हैं और घरमें दूसरा है ही कौन ? आपका ही लड़का है जैसे चाहें, कीजिये।'

बनवारी घटकको यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उसी समय वल्लभाचार्यके घर पहुँचे। आचार्यने इनका सत्कार किया और आनेका कारण जानना चाहा। इन्होंने सब वृत्तान्त बता दिया। इस संवादको सुनकर पं० वल्लभाचार्यको तथा उनके समस्त घरवालोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे घटकसे कहने लगे—'मेरा सौभाग्य है, कि शचीदेवीने इस सम्बन्धको स्वीकार कर लिया है। निमाई पण्डित-जैसे विद्वान्को अपना जामाता बनानेमें मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। लड़कीके पूर्वजन्मके शुभ संस्कारों-के उदय होनेपर ही ऐसा वर मिल सकता है, किन्तु आप मेरी परिस्थितिसे तो परिचित ही हैं। मेरे पास देने-लेनेके लिये कुछ नहीं है। केवल पाँच हरीतिकीके साथ कन्याको ही समर्पित कर सकूँगा। यदि यह बात उन्हें मंजूर हो तो आप जब भी कहें मैं विवाह करनेको तैयार हूँ।'

घटकने कहा—'आप इस बातकी कुछ चिन्ता न कीजिये। शचीदेवी-को रुपये-पैसेका लोभ नहीं है। वे तो सुशीला सुन्दरी लड़की ही चाहती

हैं, आप प्रसन्नताके साथ विवाहकी तैयारियाँ कीजिये !' यह कहकर घटक महाशय वल्लभाचार्यजीसे विदा होकर शचीदेवीके पास आये और सम्पूर्ण वृत्तान्त सुना दिया ! दोनों ओरसे विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं !

नियत तिथिके दिन अपने स्नेही बन्धु-बान्धव तथा विद्यार्थियोंके साथ बरात लेकर निमाई वल्लभाचार्यजीके घर गये ! आचार्यने सभीका यथोचित सम्मान किया ! गोधूलिकी शुभ लग्नमें निमाई पण्डितने लक्ष्मीदेवीका पाणिग्रहण किया ! लक्ष्मीदेवीने काँपते हुए हाथोंसे इनके चरणोंमें माला अर्पण की और भक्तिभावके साथ प्रणाम किया । इन्होंने उन्हें वामाङ्ग किया । हवन, प्रदक्षिणा, कन्यादान आदि सभी वैदिक कृत्य होनेपर विवाहका कार्य सकुशल समाप्त हुआ ।

दूसरे दिन आचार्यसे विदा होकर लक्ष्मीदेवीके साथ पालकीमें चढ़कर निमाई घर आये । माताने सती स्त्रियोंके साथ पुत्र और पुत्रवधूका स्वागत किया । ब्राह्मणोंको तथा अन्य आश्रित जनोंको यथायोग्य द्रव्य-दान किया गया । लक्ष्मीदेवीका रंग-रूप निमाईके अनुरूप ही था। इस जुगल जोड़ीको देखकर पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ परम प्रसन्न हुईं । कोई तो इन्हें रति-कामदेवकी उपमा देने लगी, कोई-कोई शची-पुरन्दर कहकर परिहास करने लगी, कोई-कोई गौर-लक्ष्मी कहकर निमाईकी ओर हँसने लगी । सुन्दरी पुत्रवधूके साथ पुत्रको देखकर माताको जो आनन्द प्राप्त हुआ उसका वर्णन करना इस लोहकी लेखनीके बाहरकी बात है ।

चञ्चल पण्डित

> सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यभूषितम्।
> कायः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम्॥*
>
> (सु० र० भां० १६३ । १९२)

मिश्रीको कहींसे भी खाओ उसका स्वाद मीठा ही होगा, घी-बूरेका लड्डू यदि टेढ़ा और इरछा-तिरछा भी बना हो तो भी उसके स्वादमें कोई कमी नहीं होती। इसी प्रकार प्रेम किसी भी प्रकार किया जाय, कहीं भी किया जाय, किसीके भी साथ किया जाय उसका परिणाम अनिर्वचनीय सुख ही होगा। हृदयमें दयाके भाव हों, अन्तःकरण शुद्ध हो, अपने स्वार्थकी मनमें वाञ्छा न हो, फिर चाहे दूसरोंके साथ कैसा भी बर्ताव करो, उन्हें चाहे गलेसे लगाकर आलिङ्गन करो या उनकी मधुर-मधुर भर्त्सना करो, दोनोंमें ही सुख है, दोनोंसे ही आनन्द प्राप्त होता है।

निमाई अब विद्यार्थी नहीं हैं। अब उनकी गणना प्रसिद्ध पण्डितोंमें होने लगी है। अब वे गृहस्थी भी बन गये हैं और अध्यापक भी। ऐसी दशामें अब उन्हें गम्भीरता धारण करनी चाहिये जिससे लोग उनकी इज्जत-प्रतिष्ठा करें। किन्तु निमाईने तो गम्भीरताका पाठ पढ़ा ही नहीं है। मानो वे संसारमें सबसे बड़ी समझी जानेवाली मान-प्रतिष्ठाकी कुछ परवा ही नहीं रखते। 'लोग हमारे इस व्यवहारसे क्या सोचेंगे' यह विचार उनके मनमें आता ही नहीं। 'लोगोंको जो सोचना हो सोचते रहें। दुनियाभरके विचारोंका हमने कोई ठेका थोड़े ही ले लिया है।

---

* जिसके हृदयमें प्राणीमात्रके प्रति दयाके भाव हैं, वाणी प्रिय और सत्यसे भूषित है और शरीर परोपकारके लिये समर्पित है फिर उसका कलि कर ही क्या सकता है ? उसके लिये सदा ही सत्ययुग है।

हमें तो जिसमें प्रसन्नता प्राप्त होगी, जिस कामसे हमारा अन्तःकरण सुखी और शान्त होगा हम तो उसे ही करेंगे। लोग बकते हैं तो बकते रहें। हम किसीका मुँह थोड़े ही सी सकते हैं।' बस, निमाई इन्हीं विचारोंमें मस्त रहते।

पाठशालामें विद्यार्थियोंको पढ़ा रहे हैं। पढ़ाते-पढ़ाते बीच-बीचमें ऐसी हँसीकी बात कह देते हैं कि सभी खिलखिलाकर हँस उठते हैं। किसी लड़केको पाठ याद नहीं होता तो उसे आँख निकालकर डाँटते नहीं। प्रेमके साथ कहते हैं, भाई! तोतेकी तरह धुन लगा जाया करो। जैसे 'अनद्यतने लुट्' इसे बार-बार कहो। इतना समझाकर आप स्वयं सिर हिला-हिलाकर 'अनद्यतने लुट्' 'अनद्यतने लुट्' इस सूत्रको बार-बार पढ़ते। लड़के हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। तब आप दूसरे विद्यार्थीको समझाने लगते। पाठ समाप्त हुआ और साथ ही विद्यार्थी और पण्डितका भाव भी समाप्त हो गया। अब सभी विद्यार्थियोंको साथी समझकर उन्हें लेकर गङ्गा-किनारे पहुँच गये। कभी किसीके साथ शास्त्रार्थ हो रहा है, कभी गङ्गाजीकी बालुकामें कबड्डी खेली जा रही है, कभी जल-विहारका ही आनन्द छिड़ा हुआ है। निमाई पण्डित स्वयं अपने हाथोंसे विद्यार्थियों-के ऊपर पानी उलीचते हैं, विद्यार्थी भी सब भूल-भालकर उनके ऊपर पानी उलीच रहे हैं। कभी-कभी दस-पाँच मिलकर एक साथ ही निमाईके ऊपर जल उलीचने लगते हैं, निमाई पण्डित जलसे घबड़ाकर जल्दीसे जलसे बाहर निकलकर भागते हैं, पैर फिसल जानेसे वे जलमें गिर पड़ते हैं, सभी ताली देकर हँसने लगते हैं। दर्शनार्थी दूरसे देखते हैं और खुश होते हैं। बहुत-से ईर्ष्यावश आवाजें कसने लगते हैं—'वाह रे पण्डित। पण्डितोंके नामको भी कलङ्कित करते हो। विद्यार्थियोंके साथ ऐसी खिलवाड़?' कोई कहता—'छोटी उम्रमें अध्यापक बन जानेका यही कुपरिणाम होता है।' किन्तु उनकी इन बातोंपर कौन ध्यान देता है,

निमाई अपने गेलमें मग्न हैं। कौन क्या बक रहा है, इनका उन्हें पता भी नहीं। कभी-कभी दूरसे ही पुचकारते हुए कह देते—'अच्छा, बेटा, भूकते रहो। कभी-न-कभी टुकड़ा मिल ही जायगा।'

स्नान करके रास्तेमें जा रहे हैं, किसीने किसीको किसीके ऊपर ढकेल दिया है, वह मोरीमें गिर पड़ा है, सभी ताली देकर हँस रहे हैं। किसी पण्डितको देखते ही बड़ी कठिन संस्कृत बोलने लगते हैं। एक साथ ही उससे दस-बीस प्रश्न कर डाले। बेचारा बगलमें आसन दबाये चुपचाप भीगी बिल्लीकी भाँति बिना कुछ कहे ही गङ्गाकी ओर चला जाता है, इनसे बातें करनेकी हिम्मत ही नहीं होती। बाजारमें भी चौकड़ी मारकर भागते हैं। कूद-कूदकर चलना तो इनका स्वभाव ही था। रास्ते भी बच्चोंकी तरह कुदककर चलते।

किसी वैष्णवको देखते ही उसे घेर लेते और उससे जोरसे प्रश्न करते 'किं तावत् वैष्णवत्वम्' 'वैष्णवता किसे कहते हैं!' कभी पूछते 'ऊर्ध्वपुण्ड्रेन किं स्यात्' 'ऊर्ध्वपुण्ड्र लगानेसे क्या होता है!' बेचारे वैष्णव हैरान हो जाते और इनसे जैसे-तैसे अपना पीछा छुड़ाकर भागते। वे कहते जाते—'घोर कलियुग आ गया। पण्डित भी वैष्णवोंकी निन्दा करने लगे।' कोई कहता—'अजी इस निमाईको पण्डित कहता ही कौन है, यह तो रसिकशिरोमणि है, उद्दण्डताकी सजीव मूर्ति है, इसका भी कोई धर्म-कर्म है!' कोई कहता—'इतना छिछोरपन ठीक नहीं।'

उन्हीं दिनों श्रीअद्वैताचार्यकी पाठशालामें चटगाँवनिवासी मुकुन्ददत्त नामक एक विद्यार्थी पढ़ता था। वह परम वैष्णव था। उसके चेहरेसे सौम्यता टपकती थी। उसका कण्ठ बड़ा ही मनोहर था। वह अद्वैताचार्यकी सभामें पदसंकीर्तन किया करता था, और अपने सुमधुर गानसे भक्तोंके चित्तको आनन्दित किया करता था। निमाई उससे मन-ही-मन

बहुत स्नेह करते थे, किन्तु ऊपरसे सदा उससे छेड़खानी ही करते रहते। जब भी वह मिल जाता, उसे पकड़कर न्यायकी फक्किका पूछने लगते। वह हाथ जोड़कर कहता—'बाबा! मुझे माफ करो, मैं तुम्हारा न्याय-फ्याय कुछ नहीं जानता। मैं तो वैष्णव-शास्त्रोंका अध्ययन करता हूँ।' तब आप उससे कहते—'अच्छा, वैष्णवकी ही परिभाषा करो। बताओ वैष्णवके क्या लक्षण हैं?'

मुकुन्द कहते—'भाई, हम हारे तुम जीते। कैसे पिण्ड भी छोड़ोगे? तुमसे मगजपच्ची कौन करे? तुमपर तो सदा शास्त्रार्थका ही भूत सवार रहता है। हमें इतना समय कहाँ है?' इस प्रकार कहकर वे जैसे-तैसे इनसे अपना पीछा छुड़ाकर भागते।

एक दिन ये गङ्गा-स्नान करके आ रहे थे, उधरसे मुकुन्ददत्त भी गङ्गा-स्नान करनेके निमित्त आ रहे थे, इन्हे दूरसे ही आता देख मुकुन्ददत्त जल्दीसे दूसरे रास्ते होकर गङ्गाकी ओर जाने लगे। निमाईने अपने विद्यार्थियोंसे कहा—'देखो, तुमने इस वैष्णव विद्यार्थीकी चालाकी? कैसा बचके भागा जा रहा है, मानो मैं उसे देख ही नहीं रहा हूँ।

एक विद्यार्थीने कहा—'किसी जरूरी कामसे उधर जा रहे होंगे।'

आप जोरसे कहने लगे—'जरूरी काम कुछ नहीं है। सोचते हैं वैष्णव होकर हम इन अवैष्णव लोगोंसे व्यर्थकी बातें क्यों करें। इसलिये एक तरफ होकर निकले जा रहे हैं।' फिर जोरोंसे मुकुन्ददत्तको सुनाते हुए बोले—'अच्छा बेटा, देखते हैं कितने दिन इस तरह हमसे दूर रहोगे। यों मत समझना कि हम ही वैष्णव हैं। एक दिन हम भी वैष्णव होंगे और ऐसे वैष्णव होंगे, कि तुम सदा पीछे-पीछे फिरते रहोगे।' इन बातोंको सुनते-सुनते मुकुन्द गङ्गाकी ओर चले गये और ये अपनी पाठशालामें लौट आये।

इनके पिता श्रीहट्टके निवासी थे। नवद्वीपमें बहुत-से श्रीहट्टके विद्यार्थी पढ़नेके लिये आया करते और बहुत-से श्रीहट्टवासी नवद्वीपमें

रहते ही थे। वे जहाँ भी श्रीहट्टके विद्यार्थीको देखते वहीं उसकी खिल्ली उड़ाते। श्रीहट्टकी बोलीकी नकल करते, उनके आचार-विचारकी आलोचना करते। लोग कहते—'तुम्हें शर्म नहीं आती, तुम भी तो श्रीहट्टके ही हो। जहाँके रहनेवाले हो वहींकी खिल्लियाँ उड़ाते हो।' ये कहते—'शर्म तो हमने उतारकर अपने घरकी खूँटीपर लटका दी है, तुम झूठ मानो तो हमारे घर जाकर देख आओ।' सभी सुनते और चुप हो जाते। कोई-कोई राजकर्मचारियोंतकसे इनकी उद्दण्डताकी शिकायत करते, किन्तु राजकर्मचारी इनके स्वभावसे परिचित थे, वे उन्हें देखकर जोरोंसे हँस पड़ते। कर्मचारी शिकायत करनेवालेको ही चार उल्टी-सीधी सुनाकर विदा करते। इस प्रकार इनकी चञ्चलता नगरभरमें विख्यात हो गयी।

उन दिनों नवद्वीपमें इने-गिने ही वैष्णव थे, उनकी संख्या उँगलियोंपर गिनी जा सकती थी। उन सबके आश्रयदाता थे अद्वैताचार्य। वैष्णवगण अपनी मनोव्यथा उन्हींसे जाकर कहते। वे वैष्णवोंको आश्वासन दिलाते, 'घबड़ाओ मत। अन्तर्यामी भगवान् हमारी दुर्दशाको भलीभाँति जानते हैं, वे प्रत्यक्ष रीतिसे हमारी दुर्गति देख रहे हैं। बहुत शीघ्र ही वे हमारा उद्धार करेंगे। एक दिन नवद्वीपमें भक्तिकी ऐसी बाढ़ आवेगी कि उसमें सभी नर-नारी सराबोर हो जायँगे। जितने दिनकी यह विपत्ति है उतने दिन धैर्यसे और काटो, अब शीघ्र ही नास्तिकवाद और हिंसावादका अन्त होनेवाला है।'

वैष्णव कहते—'निमाई पण्डित ऐसे विद्वान् वैष्णवोंकी हँसी उड़ाते हैं।'

अद्वैत कहते—'तुम अभी निमाईको जानते नहीं, वे हृदयसे वैष्णवोंके प्रति बड़ा स्नेह रखते हैं, वे जो भी कुछ कहते हैं ऊपरसे ही यों ही कह देते हैं। आगे चलकर तुम उन्हें यथार्थ रीतिसे समझ सकोगे।'

इस प्रकार वैष्णव तो आपसमें ऐसी बातें किया करते और निमाई अपनी लोकोत्तर मधुर-मधुर चञ्चलतासे नगरवासी तथा शचीदेवी और लक्ष्मीदेवीको आनन्दित और हर्षित किया करते।

नवद्वीपमें ईश्वरपुरी

येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥*

(श्रीमद्भा० १ । १९ । ३३)

बड़े-बड़े विद्वान् और धर्मकोविदोंने गृहस्थ-धर्मकी जो इतनी भारी प्रशंसा की है, उसका एक प्रधान कारण है अतिथि-सेवा । गृहस्थमें रहकर

---

* जिन (विरक्त महात्माओं) के भक्तिभावसे स्मरण कर लेनेमात्रहीसे गृहस्थियोंके गृह पवित्र हो जाते हैं, वे महात्मा यदि किसीके घरपर आ जायँ और उस बड़भागीको उनके दर्शन, पादस्पर्श, पादप्रक्षालन और आसन आदिद्वारा सेवा करनेका सुयोग प्राप्त हो जाय तो फिर उसके भाग्यका तो कहना ही क्या है ?

मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार अतिथि-सेवा भलीभाँति कर सकता है। भूखेको यथासामर्थ्य भोजन देना, प्यासेको जल पिलाना और निराश्रितको आश्रय प्रदान करके सुख पहुँचाना—इनसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म हो ही नहीं सकता। अहा! उस बड़भागी गृहस्थके घरकी कल्पना तो कीजिये। छोटा-सा लिपा-पुता स्वच्छ घर है, एक ओर तुलसीका बिरवा आँगनमें शोभा दे रहा है, दूसरी ओर हल्दी और कुंकुमसे पूजित सुन्दर-सी श्यामा गौ बँधी है। गृहिणी सुन्दर और हँसमुख है, छोटे-छोटे बच्चे आँगनमें खेल रहे हैं। गृहिणी मुखसे सुन्दर हरि-नामका उच्चारण करती हुई रसोई बना रही है, इतनेहीमें गृहपति आ गये। भोजन तैयार है, गृहपतिने गोग्रास निकाला, सभी सामग्रियोंमेंसे थोड़ा-थोड़ा लेकर अग्निमें आहुति दी और द्वारपर खड़े होकर किसी अतिथिकी खोज करने लगे। इतनेहीमें क्या देखते हैं, एक विरक्त महात्मा कौपीन लगाये भिक्षाके निमित्त ग्रामकी ओर आ रहे हैं। गृहस्थीने आगे बढ़कर महात्माके चरणोंमें अभिवादन किया और उनसे भिक्षा कर लेनेकी प्रार्थना की। सद्गृहस्थीकी प्रार्थना स्वीकार करके संत उसके घरमें जाते हैं। योग्य अतिथिको देखकर दम्पती हर्षसे उन्मत्त-से हो जाते हैं। अपने सगे जमाईकी तरह उसका स्वागत-सत्कार करते हैं। महात्माके चरणोंको धोकर उस जलका स्वयं पान करते हैं और अपने घरभरको पवित्र बनाते हैं। संतको बड़ी ही श्रद्धासे अपने घरमें जो भी कुछ रूखा-सूखा बना है, प्रेमसे खिलाते हैं। भोजन करके महात्मा चले जाते हैं और गृहस्थी अपने बाल-बच्चे और आश्रित जनोंके साथ उस शेष अन्नको पाता है। ऐसे गृहस्थधर्मसे बढ़कर दूसरा कौन-सा धर्म हो सकता है? ऐसा गृहस्थी स्वयं तो पावन बन ही जाता है किन्तु जो लोग अतिथि होकर ऐसे गृहस्थका आतिथ्य स्वीकार कर लेते हैं वे भी पवित्र हो जाते हैं। ऐसे अन्नके दाता, भोक्ता दोनों ही पुण्यके भागी होते हैं।

निमाई पण्डितको हम आदर्श सद्‌गृहस्थी कह सकते हैं । उनकी वृद्धा माता प्रेमकी मानो मूर्ति ही हैं, घरमें जो भी आता है उसको पुत्रकी भाँति प्यार करती हैं और उससे भोजनादिके लिये आग्रह करती हैं । लक्ष्मीदेवीका स्वभाव बड़ा ही कोमल है, वे दिनभर घरका काम करती हैं और तनिक भी दुखी नहीं होती । निमाई तो रसिकशिरोमणि हैं ही, वे दो-एकके साथ बिना भोजन करते ही नहीं, लक्ष्मीदेवी सबके लिये आलस्य-रहित होकर रन्धन करती हैं और अपने पतिके साथ उनके प्रेमियोंको भी उसी श्रद्धाके साथ भोजन कराती हैं । कभी-कभी घरमें दस-दस, पाँच-पाँच अतिथि आ जाते हैं । वृद्धा माताको उनके भोजनकी चिन्ता होती है, निमाई इधर-उधरसे क्षणभरमें सामान ले आते हैं और उसके द्वारा अतिथि-सेवा की जाती है । नगरमें कोई भी नया साधु-वैष्णव आवे यदि उसके साथ निमाईका साक्षात्कार हुआ, तो वे उसे भोजनके लिये जरूर निमन्त्रित करेंगे और अपने घर ले जाकर भिक्षा करावेंगे । ये सब कार्य ही तो उनकी महानताके द्योतक हैं ।

पाठक श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजीके नामसे तो परिचित ही होंगे और यह भी स्मरण होगा, कि उनके अन्तरङ्ग और सर्वप्रिय शिष्य श्रीईश्वरपुरीजी थे । भक्तशिरोमणि श्रीमाधवेन्द्रपुरी इस असार संसारको त्यागकर अपने नित्यधामको चले गये । अन्तिम समयमें उनके रुँधे हुए कण्ठसे यह श्लोक निकला था—

> अयि ! दीनदयार्द्रनाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे ।
> हृदयं त्वदलोककातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम् ॥

अर्थात् 'हे दीनोंपर दया करनेवाले मेरे नाथ ! हे मजेशनन्दन ! इन चिरकालकी पियासी आँखोंसे आपकी अमृतोपम मकरन्दमाधुरीका कब पान कर सकूँगा । हे नाथ ! यह हृदय तुम्हारे दर्शनके लिये कातर हुआ

चारों ओर बड़ी ही द्रुतगतिसे दौड़ रहा है। हे चञ्चल श्याम! मैं क्या करूँ!' यह कहते-कहते उन्होंने इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग कर दिया। अन्तिम समयमें वे अपना सम्पूर्ण प्रेम श्रीईश्वरपुरीको अर्पण कर गये। गुरुदेवसे अमूल्य प्रेमनिधि पाकर ईश्वरपुरी तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए गौड़देशकी ओर आये।

इनका जन्मस्थान इसी जिलेके कुमारहट्ट नामक ग्राममें था। ये जातिके कायस्थ थे, कोई-कोई इन्हें वैद्य भी बताते हैं, किन्तु वैष्णवोंकी जाति ही क्या? उनकी तो हरिजन ही जाति है, फिर संन्यास धारण करनेपर तो जाति रहती ही नहीं। ये सदा श्रीकृष्णप्रेममें उन्मत्त-से बने रहते थे। जिह्वासे सदा मधुर श्रीकृष्णनाम उच्चारण करते रहते और प्रेममें छके-से, उन्मत्त-से अलक्षितरूपसे देशमें भ्रमण करते हुए भाग्यवानोंको अपने शुभ दर्शनोंसे पावन बनाते फिरते थे, इसी प्रकार भ्रमण करते हुए ये नवद्वीपमें भी आये और अद्वैत आचार्यके घरके समीप आकर बैठ गये।

आचार्य देखते ही समझ गये, ये कोई परम भागवत वैष्णव हैं, उन्होंने इनका यथोचित सत्कार किया। परिचय प्राप्त होनेपर तो आचार्यके आनन्दका ठिकाना ही न रहा। उनके गुरुदेवके प्रधान और परम प्रिय शिष्य उनके गुरुतुल्य ही थे। आचार्यने इनकी गुरुवत् पूजा की और कुछ काल नवद्वीपमें ही रहनेका आग्रह किया। पुरी महाशयने आचार्यकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वहीं उनके पास रहकर श्रीकृष्णकथा और सत्संग करने लगे।

नवद्वीपमें रहते हुए महामहिम श्रीईश्वरपुरीने निमाई पण्डितका नाम तो सुना था, किन्तु साथ ही यह भी सुना था, कि वे बड़े भारी चञ्चल हैं, वैष्णवोंसे खूब तर्क-वितर्क करते हैं। इसलिये पुरी महाशयने उनसे भेंट नहीं की।

एक दिन अकस्मात् निमाईकी ईश्वरपुरीजीसे भेंट हो गयी। संन्यासी समझकर निमाई पण्डितने पुरी महाशयको प्रणाम किया। परिचय पाकर उन्हें परम प्रसन्नता हुई। पुरी महाशय तो उनके रूप-लावण्यको देखकर मन्त्रमुग्धकी भाँति एकटक दृष्टिसे उनकी ही ओर देखते रहे। उन्होंने सिरसे पैरतक निमाईको देखा, फिर देखा और फिर देखा। इस प्रकार बार-बार उनके अद्भुत रूप-लावण्य और तेजको देखते, किन्तु उनकी तृप्ति ही नहीं होती थी। वे सोचने लगे ये तो कोई योगभ्रष्ट महापुरुष-से जान पड़ते हैं, इनके चेहरेपर कितना तेज है, हृदयकी स्वच्छता, शुद्धता और प्राणीमात्रके प्रति ममता इनके चेहरेसे प्रस्फुटित हो रही है। ये साधारण पुरुष कभी हो ही नहीं सकते। जरूर कोई प्रच्छन्न वेशधारी महापुरुष हैं।

पुरीको एकटक अपनी ओर देखते देखकर हँसते हुए निमाई बोले—'पुरी महाशय! अब इस प्रकार कहाँतक देखियेगा। आज हमारे ही घर भिक्षा कीजियेगा, वहाँ दिनभर हमें देखते रहनेका सुअवसर प्राप्त होगा।'

यह सुनकर पुरी महाशय कुछ लज्जित से हुए और उन्होंने निमाईका निमन्त्रण बड़े प्रेमसे स्वीकार कर लिया। भोजन तैयार होनेके पूर्व निमाई अद्वैताचार्यके घरसे पुरीको लिवा गये। शचीमाताने स्वामीजीकी बहुत ही अधिक अभ्यर्चना की और उन्हें श्रद्धा-भक्तिके साथ भोजन कराया। भोजनके अनन्तर कुछ कालतक दोनों महापुरुषोंमें कुछ सत्संग होता रहा, फिर दोनों ही अद्वैताचार्यके आश्रममें आये।

अब तो निमाई पण्डित पुरी महाशयके समीप यदा-कदा आने लगे। उन दिनों पुरी महाशय 'श्रीकृष्णलीलामृत' नामक एक ग्रन्थकी रचना कर रहे थे। पुरीने पण्डित समझकर इनसे उस ग्रन्थके सुननेका आग्रह किया। गदाधर पण्डितके साथ सन्ध्या समय जाकर ये उस ग्रन्थको रोज सुनने लगे।

पुरी महाशयने कहा—'आप पण्डित हैं, इस ग्रन्थमें जहाँ भी कहीं अशुद्धि हो, शुद्धि मालूम पड़े, वहीं आप बता दीजियेगा।'

इन्होंने नम्रताके साथ उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण-कथामें भला क्या शुद्धि और क्या अशुद्धि। भक्त अपने भक्ति-भावके आवेशमें आकर जो भी कुछ लिखता है, वह परम शुद्ध ही होता है। जिस पदमें भगवत्-भक्ति है, जिस छन्दमें श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन है वह अशुद्ध होनेपर भी शुद्ध है और जो काव्य श्रीकृष्ण-कथासे रहित है वह चाहे कितना भी ऊँचा काव्य क्यों न हो, उसकी भाषा चाहे कितनी भी बढ़िया क्यों न हो, वह व्यर्थ ही है। भगवान् तो भावग्राही हैं, वे घट-घटकी बातें जानते हैं। बेचारी भाषा उनकी विरदावलीका बखान कर ही क्या सकती है, उनकी प्रसन्नतामें तो शुद्ध भावना ही मुख्य कारण है। यथा—

मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।
उभयोस्तु शुभं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः॥

अर्थात् मूर्ख कहता है 'विष्णाय नमः' (यथार्थमें 'विष्णु' शब्दका चतुर्थीमें 'विष्णवे' बनता है, मूर्ख 'रामाय' और 'गणेशाय'की तरह अनुमानसे विष्णाय लगाकर ही भगवान्‌को नमस्कार करते हैं) और विद्वान् कहते हैं 'विष्णवे नमः' परिणाममें इन दोनोंका फल समान ही है। क्योंकि भगवान् जनार्दन तो भावग्राही हैं। उनसे यह बात छिपी नहीं रहती कि विष्णाय कहनेसे भी उसका भाव मुझे नमस्कार करनेका ही था।'
निमाई पण्डितका ऐसा उत्तर सुनकर पुरी महाशय अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'यह उत्तर तो आपकी महत्ताका द्योतक है। इस कथनसे आपने श्रीकृष्ण-लीलाकी महिमाका ही वर्णन किया है। आप धुरन्धर वैयाकरण हैं, इसलिये पद-पदान्त और क्रियाकी शुद्धि-अशुद्धिपर आप ध्यान जरूर देते जायँ।' यह कहकर वे अपने ग्रन्थको

इन्हें सुनाने लगे। ये बड़े मनोयोगके साथ नित्यप्रति आकर उस ग्रन्थको सुनते और सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते।

एक दिन ग्रन्थ सुनते-सुनते एक धातुके सम्बन्धमें इन्होंने कहा—'यह धातु 'आत्मनेपदी' नहीं है 'परस्मैपदी' है।' पुरी उसे आत्मनेपदी ही समझे बैठे थे। इनकी बातसे उन्हें शङ्का हो गयी। इनके चले जानेके पश्चात् पुरी रातभर उस धातुके ही सम्बन्धमें सोचते रहे। दूसरे दिन जब ये फिर पुस्तक सुनने आये तो इनसे पुरीने कहा—'आप जिसे परस्मैपदी धातु बताते थे, वह तो आत्मनेपदी ही है।' यह कहकर उन्होंने उस धातु-को सिद्ध करके इन्हें बताया। सुनकर ये प्रसन्न हुए और कहने लगे—'आपहीका कथन ठीक है, मुझे भ्रम हो गया होगा।' इस प्रकार इन्होंने पुरीके समस्त ग्रन्थको श्रवण किया। उस ग्रन्थके श्रवण करनेसे इन्हें बहुत ही सुख प्राप्त हुआ। इनकी श्रीकृष्णभक्ति धीरे-धीरे प्रस्फुटित-सी होने लगी। ईश्वरपुरीके प्रति भी इनका आन्तरिक अनुराग उत्पन्न हो गया। कुछ कालके अनन्तर पुरी महाशय नवद्वीपसे गयाकी ओर चले गये और निमाई पूर्वकी भाँति अपनी पाठशालामें पढ़ाने लगे।

पुरी महाशयने कहा—'आप पण्डित हैं, इस ग्रन्थमें जहाँ भी कहीं अ
हो, त्रुटि मालूम पड़े, वहीं आप बता दीजियेगा।'

इन्होंने नम्रताके साथ उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण-कथामें भला क्या
और क्या अशुद्धि। भक्त अपने भक्ति-भावके आवेशमें आकर ज
कुछ लिखता है, वह परम शुद्ध ही होता है। जिस पदमें भगवत्-भ
जिस छन्दमें श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन है वह अशुद्ध होनेपर भी शुद्ध ह
जो काव्य श्रीकृष्ण-कथासे रहित है वह चाहे कितना भी ऊँचा का
न हो, उसकी भाषा चाहे कितनी भी बढ़िया क्यों न हो, वह व्यर्थ
भगवान् तो भावग्राही हैं, वे घट-घटकी बातें जानते हैं। बेचारे
उनकी विरदावलीका बखान कर ही क्या सकती है, उनकी प्रसन्न
शुद्ध भावना ही मुख्य कारण है। यथा—

मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।
उभयोस्तु शुभं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः॥

अर्थात् मूर्ख कहता है 'विष्णाय नमः' (यथार्थमें 'विष्णु
चतुर्थीमें 'विष्णवे' बनता है, मूर्ख 'रामाय' और 'गणेशाय'की तरह
विष्णाय लगाकर ही भगवान्को नमस्कार करते हैं) और वि
है 'विष्णवे नमः' परिणाममें इन दोनोंका फल समान ही
भगवान् जनार्दन तो भावग्राही हैं। उनसे यह बात छिपी न
विष्णाय कहनेमें भी उसका भाव मुझे नमस्कार करनेका
निमाई पण्डितका ऐसा उत्तर सुनकर पुरी महाशय अत्यन्त
उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'यह उत्तर तो
द्योतक है। इस कथनसे आपने श्रीकृष्ण-लीलाकी महिमाका
है। आप धुरन्धर वैयाकरण हैं, इसलिये पद-पदान्त और
अशुद्धिपर आप ध्यान जरूर देते जायँ।' यह कहकर

शक्ति ठीक है, उसे यथेष्ट भोज्य-पदार्थ नहीं मिलते। विद्वानोंके पास धनका अभाव है, जिनमें विद्या-बुद्धि नहीं उनके पास आवश्यकतासे अधिक अर्थ भरा पड़ा है। जहाँ धन है वहाँ सन्तान नहीं, जहाँ बहुत सन्तान हैं वहाँ भोजनके लाले पड़े हुए हैं। इसी बातसे तो खीजकर किसी कविने ब्रह्माजीको बुरा-भला कहा है। वे कहते हैं—

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥

कविकी दृष्टिमें ब्रह्माजीने सृष्टि रचनेमें बड़ी भारी भूल की है। देखिये सुवर्ण कितना सुन्दर है, उसमें यदि सुगन्ध होती तो फिर उसकी उत्तमताका कहना ही क्या था। ईखके डंडेमें जब इतनी मिठास है, तब यदि उसके ऊपर कहीं फल लगता तो वह कितना स्वादिष्ठ होता? ब्रह्माजी उसपर फल लगाना ही भूल गये। चन्दनकी लकड़ीमें जब इतनी सुगन्ध है, तो उसपर कहीं फूल लगता होता तो उसके बराबर उत्तम फूल संसारमें और कौन हो सकता? सो ब्रह्माजीको उसपर फूल लगानेका ध्यान ही न रहा। विद्वान् लोग बिना रुपये-पैसेके ही आकाश-पाताल एक कर देते हैं, यदि उनके पास कहीं धन होता तो इस सृष्टिकी सभी विषमताको दूर कर देते, सो उन्हें दरिद्री ही बना दिया, साथ ही उनकी आयु भी थोड़ी बनायी। इन सब बातोंको सोचकर कवि कहता है कि इसमें बेचारे ब्रह्माजीका कुछ दोष नहीं है, मालूम पड़ता है, सृष्टि करते समय ब्रह्माजीको कोई योग्य सलाह देनेवाला चतुर मन्त्री नहीं मिला। इसीलिये जल्दीमें ऐसी गड़बड़ी हो गयी।

मन्त्रीके अभावमें हुई हो अथवा उन्होंने जान-बूझकर की हो, यह गलती तो ब्रह्माजीसे जरूर ही हो गयी कि उन्होंने विद्वानोंको निर्धन ही बनाया। विद्वानोंको प्रायः धनके लिये सदा परमुखापेक्षी ही बनना पड़ता

पूर्व वङ्गालकी यात्रा

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥*

(सु० र० भां० ४० । ७)

विधिके विधानको कोई ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। जिसके पास प्रचुर परिमाणमें भोज्य-पदार्थ हैं, उसे पाचनशक्ति नहीं। जिसकी पाचन-

---

* विद्वान् और राजाकी कोई परस्परमें समता करे तो राजा विद्वान्‌की समताके योग्य कभी सिद्ध हो ही नहीं सकता। कारण कि राजाकी तो अपने ही देशमें मान-प्रतिष्ठा होती है, किन्तु विद्वान् जहाँ भी जाता है वहीं उसकी पूजा-प्रतिष्ठा होती है।

शक्ति ठीक है, उसे यथेष्ट भोज्य-पदार्थ नहीं मिलते। विद्वानोंके पास धनका अभाव है, जिनमें विद्या-बुद्धि नहीं उनके पास आवश्यकतासे अधिक अर्थ भरा पड़ा है। जहाँ धन है वहाँ सन्तान नहीं, जहाँ बहुत सन्तान हैं वहाँ भोजनके लाले पड़े हुए हैं। इसी बातसे तो खीजकर किसी कविने ब्रह्माजीको बुरा-भला कहा है। वे कहते हैं—

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥

कविकी दृष्टिमें ब्रह्माजीने सृष्टि रचनेमें बड़ी भारी भूल की है। देखिये सुवर्ण कितना सुन्दर है, उसमें यदि सुगन्ध होती तो फिर उसकी उत्तमताका कहना ही क्या था। ईखके डंडेमें जब इतनी मिठास है, तब यदि उसके ऊपर कहीं फल लगता तो वह कितना स्वादिष्ट होता ? ब्रह्माजी उसपर फल लगाना ही भूल गये। चन्दनकी लकड़ीमें जब इतनी सुगन्ध है, तो उसपर कहीं फूल लगता होता तो उसके बराबर उत्तम फूल संसारमें और कौन हो सकता ? सो ब्रह्माजीको उसपर फूल लगानेका ध्यान ही न रहा। विद्वान् लोग बिना रुपये-पैसेके ही आकाश-पाताल एक कर देते हैं, यदि उनके पास कहीं धन होता तो इस सृष्टिकी सभी विषमताको दूर कर देते, सो उन्हें दरिद्री ही बना दिया, साथ ही उनकी आयु भी थोड़ी बनायी। इन सब बातोंको सोचकर कवि कहता है कि इसमें बेचारे ब्रह्माजीका कुछ दोष नहीं है, मालूम पड़ता है, सृष्टि करते समय ब्रह्माजीको कोई योग्य सलाह देनेवाला चतुर मन्त्री नहीं मिला। इसीलिये जल्दीमें ऐसी गड़बड़ी हो गयी।

मन्त्रीके अभावमें हुई हो अथवा उन्होंने जान-बूझकर की हो, यह गलती तो ब्रह्माजीसे जरूर ही हो गयी कि उन्होंने विद्वानोंको निर्धन ही बनाया। विद्वानोंको प्रायः धनके लिये सदा परमुखापेक्षी ही बनना पड़ता

है। किसीने तो यहाँतक कह डाला है 'अनाश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः' अर्थात् पण्डित, स्त्री और बेल बिना आश्रयके भले ही नहीं मालूम पड़ते। बेचारे पण्डितोंको वनिता-लताके साथ समानता करके उनकी व्यथाको और भी बढ़ा दिया है।

जिस समयकी हम बातें कह रहे हैं, उस समय संस्कृत विद्याकी आजकी भाँति दुर्गति नहीं थी। भारतवर्षभरमें संस्कृत-विद्याका प्रचार था। बिना संस्कृत पढ़े कोई भी मनुष्य सभ्य कहला ही नहीं सकता था। बंगालमें ब्राह्मण ही संस्कृत-विद्याके पण्डित नहीं थे; किन्तु कायस्थ, वैद्य तथा अन्य जातिके कुलीन पुरुष भी संस्कृत-विद्याके पूर्ण ज्ञाता थे। उस समय पण्डितोंकी दो ही वृत्तियाँ थीं, या तो वे पठन-पाठन करके अपना निर्वाह करें या किसी राजसभाका आश्रय लें। पण्डित सदासे ही दरिद्र होते चले आये हैं, इसका कारण एक कविने बहुत ही सुन्दर सुझाया है। उसने एक इतिहास बताते हुए कहा है कि ब्रह्माजीके सुकृति (लक्ष्मी) और दुष्कृति (दरिद्रता) दो कन्याएँ थीं। सुकृति बड़ी थी, इसलिये विवाहके योग्य हो जानेपर ब्रह्माजीने उसे बिना ही सोचे-समझे मूर्खको दे डाला। मूर्खके यहाँ उसकी दुर्गति देखकर ब्रह्माजीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। तभीसे वे दूसरी पुत्री दुष्कृतिके लिये अच्छा-सा वर खोज रहे हैं, जिसे भी विद्वान्, कुलीन और सर्वगुणसम्पन्न देखते हैं उसे ही दरिद्रताको दे डालते हैं।

निमाई पण्डित विद्वान् थे, गुणवान् थे, रूपवान् और तेजवान् भी थे, भला ऐसे योग्य वरको ब्रह्माजी कैसे छोड़ सकते थे? उनके यहाँ भी दरिद्रताका साम्राज्य था, किन्तु वह निमाई पण्डितको तनिक व्यथा नहीं पहुँचा सकती। उनके सामने सदा हाथ बाँधे दूर ही खड़ी रहती थी। निमाई उसकी जरा भी परवा नहीं करते थे।

उन दिनों योग्य और नामी पण्डित देश-विदेशोंमें अपने योग्य छात्रोंके

गाय भ्रमण करते थे, सद्‌गृहस्थ उनकी धन, वस्त्र और खाद्य-पदार्थोंके द्वारा पूजा करते थे। आजकी भाँति पण्डितोंकी उपेक्षा कोई भी नहीं करता था। निमाईकी भी पूर्व बंगालमें भ्रमण करनेकी इच्छा हुई। उन्होंने अपनी माताकी अनुमतिसे अपने कुछ योग्य छात्रोंके साथ पूर्व बंगालकी यात्रा की। उस समय लक्ष्मीदेवीको अपने पितृगृहमें रख गये थे।

श्रीगङ्गाजीको पार करके निमाई पण्डित अपने शिष्योंके साथ पद्मा-नदीके तटपर राढ़-देशमें पहुँचे। बंगालमें भगवती भागीरथीकी दो धाराएँ हो जाती हैं। गङ्गाजीकी मूल शाखा पूर्वकी ओर जाकर जो बंगालके उपसागरमें मिली है, उसका नाम तो पद्मावती है। दूसरी जो नवद्वीप होकर गङ्गासागरमें जाकर समुद्रसे मिली है उसे भागीरथी गङ्गा कहते हैं। ब्रह्मपुत्र नदीके और दक्षिण-तटसे लेकर पद्मा नदीपर्यन्तके देशको राढ़-देश कहते हैं। पहले 'बंगाल' इसे ही कहते थे। उत्तर-तटको गौड़देश कहते थे और दक्षिण-तटको बंगाल या राढके नामसे पुकारते थे। आज जिसे पूर्व बंगाल कहते हैं, यथा—

रत्नाकरं समारभ्य ब्रह्मपुत्रान्तगं शिवे।
बङ्गदेशो मया प्रोक्तः सर्वसिद्धिप्रदर्शकः॥

गौड़-देशवालोंसे बंग-देशवालोंका आचार-विचार भी कुछ-कुछ भिन्न था और अब भी है। निमाई पण्डितने पद्माके किनारे-किनारे पूर्व बंगालके बहुत-से स्थानोंमे भ्रमण किया। जो भी लोग इनका आगमन सुनते वे ही यथाशक्ति भेंट लेकर इनके पास आते।

वहाँके विद्यार्थी कहते—'हम बहुत दिनोंसे आपकी प्रशंसा सुन रहे थे। आपकी लिखी हुई व्याकरणकी टिप्पणी बड़ी ही सुन्दर है। हमें अपने पाठमें उससे बहुत सहायता मिलती है।'

कोई कहते—'आपकी पद-धूलिसे यह देश पावन बन गया,

आपके प्रकाण्ड पाण्डित्यकी हम प्रशंसा ही मात्र सुनते थे । आपके गुणोंकी कौन प्रशंसा कर सकता है ?' इस प्रकार लोग भाँति-भाँतिसे इनकी प्रशंसा और पूजा करने लगे ।

इनके साथियोंको भय था कि पण्डितजी यहाँ भी नवद्वीपकी भाँति चञ्चलता करेंगे तो सब गुड़ गोबर हो जायगा, किन्तु ये स्वयं देश-कालको समझकर बर्ताव करनेवाले थे । कई मासतक ये पूर्व बंगालमें भ्रमण करते रहे, किन्तु वहाँ इन्होंने एक दिन भी चञ्चलता नहीं की । एक योग्य गम्भीर पण्डितकी भाँति ये सदा बने रहते थे । इनसे जो जिस विषयका प्रश्न पूछता उसे उसीके प्रश्नके अनुसार यथावत् उत्तर देते । यहाँ इन्होंने वैष्णवोंकी आलोचना नहीं की, किन्तु उलटा भगवद्भक्तिका सर्वत्र प्रचार किया । इन्होंने लोगोंके पूछनेपर भगवन्नामका माहात्म्य बताया, भक्तिकी श्रेष्ठता सिद्ध की और कलियुगमें भक्ति-मार्गको ही सर्वश्रेष्ठ, सुलभ और सर्वोपयोगी बताया । किन्तु ये बातें इन्होंने एक विद्वान् पण्डितकी ही हैसियतसे कही थीं, जैसे विद्वानोंसे जो भी प्रश्न करो उसीका शास्त्रानुसार उत्तर दे देंगे । भक्तिका असली स्रोत तो इनका अभी अव्यक्तरूपसे छिपा ही हुआ था । उसके प्रवाहित होनेमें अभी देरी थी । फिर भी इनके पाण्डित्यपूर्ण उत्तरोंसे राढ़-देश-वासी श्रद्धालु मनुष्योंको बहुत लाभ हुआ । वे भगवन्नाम और भक्तिके महत्त्वको समझ गये, उनके हृदयमें भक्तिका एक नया अंकुर उत्पन्न हो गया, जिसे पीछेसे गौराङ्गकी आज्ञानुसार नित्यानन्द प्रभुने प्रेमसे सींचकर पुष्पित, पल्लवित, फलान्वित बनाया । इस प्रकार ये शास्त्रीय उपदेश करते हुए राढ़-देशके मुख्य-मुख्य स्थानोंमें घूमने लगे । शामको अपने साथियोंको लेकर ये पद्मामें स्नान करते और घंटों एकान्तमें जलविहार करते रहते । लोग बड़े सत्कारसे इन्हें खाने-पीनेकी सामग्री देते । इनके साथी अपना भोजन स्वयं ही बनाते थे । इस प्रकार इनकी यात्राके दिन आनन्दसे कटने लगे ।

एक दिन महामहिम निमाई पण्डित एकान्त स्थानमें बैठे हुए थे। उसी समय एक तेजस्वी ब्राह्मण उनके समीप आया। ब्राह्मणके चेहरेसे उसकी नम्रता, शीलता, पवित्रता और प्रभु-प्राप्तिके लिये विकलता प्रकट हो रही थी। ब्राह्मण अपनी वाणीसे निरन्तर भगवान्‌के सुमधुर नामोंका उच्चारण कर रहा था। उसने आते ही इनके चरण पकड़ लिये और फूट-फूटकर रोने लगा। इन्होंने उस ब्राह्मणको उठाकर गलेसे लगाया और अपना कोमल कर उसके अङ्गपर फेरते हुए बोले—'आप यह क्या कर रहे हैं, आप तो हमारे पूज्य हैं, हम तो अभी बालक हैं। आप स्वयं हमारे पूजनीय हैं।'

ब्राह्मण इनके पैरोंको पकड़े हुए निरन्त रुदन कर रहा था, वह कुछ सुनता ही नहीं था, बस, हिचकियाँ भर-भरकर जोरोंसे रोता ही था।

प्रभुने आश्वासन देते हुए कहा—'बात तो बताओ, इस प्रकार रुदन क्यों कर रहे हो। तुमपर क्या विपत्ति है, मंगलमय भगवान् तुम्हारा सब भला ही करेंगे, मुझे अपने दुःखका कारण बताओ।'

प्रभुके इस प्रकार बहुत आश्वासन देनेपर ब्राह्मणने कहा—'प्रभो! मैं बड़ा ही अधम और साधनशून्य दीन-हीन ब्राह्मण-बन्धु हूँ। अभीतक इस संसारमें मनुष्यका साध्य क्या है, उसतक पहुँचनेका असली साधन कौन-सा है, इस बातको नहीं समझ सका हूँ। मैं सदा इसी चिन्तामें मग्न रहा करता था कि साध्य-साधनका निर्णय कैसे हो, भगवान्‌से नित्य प्रार्थना किया करता था कि—'भगवन्! मैं तुम्हारी स्तुति-प्रार्थना कुछ नहीं जानता। आपको कैसे पुकारा जाता है यह बात भी नहीं जानता। इस दीन-हीन कंगालको आप स्वयं ही किसी प्रकार साध्य-साधनका तत्त्व समझा दीजिये।'

अन्तर्यामी भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना सुन ली। कल रातमें मैं सो रहा

था। स्वप्नमें एक महापुरुषने आकर मुझसे कहा—'पूर्व बंगालमें जो आजकल निमाई पण्डित भ्रमण कर रहे हैं उन्हें तुम साधारण पण्डित ही न समझो, वे साक्षात् नारायणस्वरूप हैं, उन्हींके पास तुम चले जाओ, वे ही तुम्हारी शङ्काका समाधान करके तुम्हें साध्य-साधनका मर्म समझावेंगे।' बस, आँख खुलते ही मैं इधर चला आया हूँ। आज मेरा जीवन सफल हुआ, मैं श्रीचरणोंके दर्शन करके कृतकृत्य हो गया।

प्रभु तनिक मुस्कराये और फिर धीरे-धीरे तपन मिश्रसे कहने लगे—'महाभाग! आपके ऊपर श्रीकृष्ण भगवान्‌की बड़ी कृपा है। आपकी अन्तरात्मा अत्यन्त पवित्र है, इसीलिये आप सभीमें भगवद्भावना करते हैं। मनुष्य जैसी भावना किया करता है, वैसे ही रात्रिमें स्वप्न देखता है। आप इस बातको सत्य समझें और किसीके सामने प्रकाशित न करें।'

तपन मिश्रने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो! मुझे भुलाइये नहीं। अब तो मैं सर्वतोभावेन आपकी शरणमें आ गया हूँ। जैसे भी उचित समझें मुझे अपनाइये और मेरी शङ्काका समाधान कीजिये।'

प्रभुने हँसते हुए पूछा—'अच्छा, तुम क्या पूछना चाहते हो? तुम्हारी शङ्का क्या है?'

दीनभावसे तपन मिश्रने कहा—'प्रभो! इस कलिकालमें प्राचीन साधन जो शास्त्रोंमें सुने जाते हैं, उनका होना तो असम्भव है। समयानुसार कोई सरल, सुन्दर और सर्वश्रेष्ठ साधन बताइये और किसको साध्य मानकर उस साधनको करें।'

प्रभु थोड़ी देर चुप रहे, फिर बड़े ही प्रेमके साथ मिश्रसे बोले—'विप्रवर! प्रभु प्राप्ति ही मनुष्यका मुख्य साध्य है। उसकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक युगमें अलग-अलग साधन होते हैं। सत्ययुगमें ध्यान ही मुख्य

साधन समझा जाता था, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उस यज्ञपुरुष भगवान्‌की अर्चना की जाती थी, द्वापरमें पूजा-अर्चाके द्वारा प्रभु-प्रसन्नता समझी जाती थी, किन्तु इस कलियुगमें तो केवल केशव-कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया जाता है। जो फल अन्य युगोंमें उन-उन साधनोंसे होते थे वही फल कलियुगमें भगवन्नाम-स्मरणसे होता है। यथा—

> कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
> द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

बस, सब साधनोंको छोड़कर हरि-नामका ही आश्रय पकड़ना चाहिये। भगवान् व्यासदेव तीन बार प्रतिज्ञा करके कहते हैं—

> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् कलियुगमें केवल हरिका ही नाम सार है। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कलियुगमें हरिनामको छोड़कर दूसरी गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।

लोग हरिनामका माहात्म्य न समझकर ही संसारमें भाँति-भाँतिकी यातनाएँ सह रहे हैं। जो भगवन्नामकी महिमा समझ लेगा, फिर उसे भव-बाधाएँ व्यथा पहुँचा ही नहीं सकतीं। मैं तुम्हें सार-से-सार बात, गुह्य-से-गुह्य साधन बताये देता हूँ। इसे खूब यत्नपूर्वक स्मरण रखना और इसे ही अपने जीवनका मूलमन्त्र समझना—

> संसारसर्पदंष्टानामेकमेव सुभेषजम्।
> सर्वदा सर्वकालेषु सर्वत्र हरिचिन्तनम्॥

अर्थात् संसाररूपी सर्पके काटे हुए मनुष्यके लिये एक ही सर्वोत्तम

ओषधि है, वह यह कि हर समय, हर कालमें और हर स्थानमें निरन्तर हरिसरण ही करते रहना चाहिये। बस, मुख्य साधन यह है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

'ये सोलह नाम और बत्तीस अक्षरोंका मन्त्र ही मुख्य साधन है। साध्यके चक्करमें अभीसे मत पड़ो। इसका जप करते-करते साध्यका निर्णय स्वयं ही हो जायगा।'

प्रभुके मुखसे साधनका गुह्य रहस्य सुनकर मिश्रजीको बड़ा ही आनन्द हुआ। आनन्दके कारण उनकी आँखोंमेंसे अश्रुधारा बहने लगी। उन्होंने रोते-रोते प्रभुके चरण पकड़कर प्रार्थना की—'प्रभो! आपकी असीम अनुकम्पासे आज मेरे सभी संशयोंका मूलोच्छेदन हो गया। अब मुझे कोई भी शंका नहीं रही। अब मेरी यही अन्तिम प्रार्थना है कि मुझे श्रीचरणोंसे पृथक् न कीजिये। सदा चरणोंके ही समीप बना रहूँ, ऐसी आज्ञा प्रदान कीजिये।'

प्रभुने कहा—'अब काशी जाकर निवास कीजिये। कालान्तरमें हम भी काशीजी आवेंगे तभी आपसे भेंट होगी। आपको वहीं शिवपुरीमें जाकर रहना चाहिये।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके तपन मिश्र काशीजीको चले गये और इधर प्रभु अब घर लौटनेकी तैयारियाँ करने लगे।

पत्नी-वियोग और प्रत्यागमन

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः ।
पत्युर्गतिसमा नास्ति दैवतं वा यथा पतिः ॥*

(सु० र० भां० ३६६ । १४)

पत्नी गृहस्थाश्रममें एक सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रधान वस्तु है, गृहिणीके बिना गृहस्थ ही नहीं । पत्नी गृहस्थके कार्यमें मन्त्री है, सेवा करनेमें दासी

---

* स्त्रियोंका पति ही देवता है, पति ही बन्धु है और पति ही गति है । पतिके समान उनकी कोई दूसरी गति नहीं और पतिके समान उनका कोई दूसरा देवता नहीं ।

है, भोजन करानेमें माताके समान है, शयनमें रम्भाके समान सुखदात्री है, धर्मके कार्योंमें अर्धाङ्गिनी है, क्षमामें पृथ्वीके समान है अर्थात् गृहस्थकी योग्य गृहिणी ही सर्वस्व है। जिसके घरमें सुचतुर सुन्दरी और मृदुभाषिणी गृहिणी मौजूद है, उसके यहाँ सर्वस्व है, उसे किसी चीजकी कमी ही नहीं और जिसके गृहिणी ही नहीं, उसके है ही क्या ?

लोकप्रिय निमाई पण्डितकी पत्नी लक्ष्मीदेवी ऐसी ही सर्वगुणसम्पन्ना गृहिणी थीं। वे पतिको प्राणोंके समान प्यार करती थीं, सासकी तन-मनसे सदा सेवा करती रहती थीं और सदा मधुर और कोमल वाणीसे बोलती थीं। उनका नाम ही लक्ष्मीदेवी नहीं था, वस्तुतः उनमें लक्ष्मीदेवीके सभी गुण भी विद्यमान थे। वे मर्त्यलोकमें लक्ष्मीके ही समान थीं। ऐसी ही पत्नीको तो नीतिकारोंने लक्ष्मी बताया है—

> यस्य भार्या शुचिर्दक्षा भर्तारमनुगामिनी।
> नित्यं मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा॥

अर्थात् 'जिसकी भार्या पवित्रता रखनेवाली, गृहकार्योंमें दक्ष और अपने पतिके मनोनुकूल आचरण करनेवाली है, जो सदा ही मीठी वाणी बोलती है, असलमें तो वही लक्ष्मी है। लोग जो 'लक्ष्मी-लक्ष्मी' पुकारते हैं वह कोई और लक्ष्मी नहीं है।' निमाई पण्डितकी पत्नी लक्ष्मीदेवी सचमुचमें ही लक्ष्मी थीं।

पूर्व बंगालकी यात्राके समय माताके आग्रहसे निमाई लक्ष्मीदेवीको उनके पितृगृहमें कर गये थे। पतिके वियोगके समय पतिव्रता लक्ष्मीदेवीने बड़े ही प्रेमसे अपने स्वामीके चरण पकड़ लिये और वियोग-वेदनाका स्मरण करके वे फूट-फूटकर रोने लगीं। निमाईने उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—'इस प्रकार दुखी होनेकी कौन-सी बात है ? मैं बहुत ही शीघ्र लौटकर आ जाऊँगा, तबतक तुम यहीं रहो। मैं बहुत दिनके लिये थोड़े

ही जाता हूँ । वैसे ही दस-बीस दिन घूम-घामकर आ जाऊँगा ।' उन्हें क्या पता था, कि यह लक्ष्मीदेवीसे अन्तिम ही भेंट है, इसके बाद लक्ष्मीदेवीसे इस लोकमें फिर भेंट न हो सकेगी।

लक्ष्मीदेवीको भाँति-भाँतिसे आश्वासन देकर निमाई पण्डितने पूर्व बंगालकी यात्रा की। इधर लक्ष्मीदेवी पतिके वियोगमें खिन्नचित्तसे दिन गिनने लगीं, उन्हें पतिके बिना यह सम्पूर्ण संसार सूना-ही-सूना दृष्टिगोचर होता था। उन्हें संसारमें पतिके सिवा प्रसन्न करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं थी । प्रसन्नताकी मूल वस्तुके अभावमें उनकी प्रसन्नता एकदम जाती रही, वे सदा उदास ही बनी रहने लगीं। उदासीके कारण उन्हें अन्न-जल कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। उनकी अग्नि मन्द हो गयी, पाचनशक्ति नष्ट हो गयी और विरह-ज्वालाके तापसे सदा ज्वर-सा रहने लगा। पिताने चिकित्सकोंको दिखाया, किन्तु बेचारे संसारी वैद्य इस रोगका निदान कर ही क्या सकते हैं! वात, पित्त, कफके सिवा वे चौथी बात जानते ही नहीं हैं । यह इन तीनोंसे विलक्षण ही धातु-विकार व्याधि है, इस कारण वैद्योंके उपचारसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। धीरे-धीरे लक्ष्मीदेवीका शरीर अधिकाधिक क्षीण होने लगा। किसीको भी उनके जीवनकी आशा न रही। वे मानो अपने अत्यन्त क्षीण शरीरको अन्तिम बार पति-दर्शनोंकी लालसासे ही टिकाये हुए हैं, किन्तु उनकी यह अभिलाषा पूरी न हो सकी। निमाई पण्डितको पूर्व बंगालमें अनुमानसे अधिक दिन लग गये। अन्तमें बड़े कष्टके साथ वियोग-व्यथाको न सह सकनेके कारण अपने पतिदेवके चरण-चिह्नोंको हृदयमें धारण करके उन्होंने इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग कर दिया। वे इस मर्त्यलोककी भूमिको त्यागकर सतियोंके रहने योग्य अपने पुण्य-लोकमें पति-मिलनकी आकांक्षासे चली गयीं। घरवालोंने रोते-रोते उनके सभी संस्कार किये।

इधर निमाई पण्डितको पूर्व बंगालमें भ्रमण करते हुए कई मा बीत गये। अब इन्हें घरकी चिन्ता होने लगी। इन्हें भान होने लगा वि हमारे घरपर जरूर कुछ अनिष्ट हुआ है, हृदयके भाव तो असंख्यों कोसों परसे हृदयमें आ जाते हैं। लक्ष्मीदेवीकी अन्तिम वेदना इनके हृदयको पीड़ा पहुँचाने लगी। इन्हें अब कहीं आगे जाना अच्छा नहीं लगता था, इसलिये इन्होंने साथियोंको नवद्वीप लौट चलनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर सभी नवद्वीप लौट चलनेकी तैयारियाँ करने लगे। बहुत-से नवीन छात्र भी विद्योपार्जनके निमित्त इनके साथ हो लिये थे। उन सभीको साथ लेकर ये नवद्वीपकी ओर चल पड़े। इन्हें काफी धन तथा अन्य आवश्यकीय वस्तुएँ भेंट तथा उपहारमें प्राप्त हुई थीं। थोड़े दिनोंमें ये फिर नवद्वीपमें ही आ गये।

इनके आगमनका समाचार बिजलीकी तरह नगरमें फैल गया। इनके इष्ट, मित्र, स्नेही तथा पुराने छात्र दर्शनोंके लिये इनके घरपर आने लगे। ये सभीसे यथोचित प्रेमपूर्वक मिले। सभीने यात्राके कुशल-समाचार पूछे।

इन्होंने सबसे पहिले अपनी माताके चरणोंको स्पर्श किया। माताका चेहरा मुरझाया हुआ था, वे पुत्रवधूके वियोग और पुत्रकी चिन्ताके कारण अत्यन्त दुखी-सी मालूम पड़ती थीं। चिरकालके बिछुड़े हुए अपने प्रिय पुत्रको पाकर माताके सुखका वारापार न रहा। गौ जिस प्रकार बिछुड़े हुए बछड़ेको पाकर उसे प्रेमसे चाटने लगती है उसी प्रकार माता निमाईके युवा शरीरके ऊपर अपना शीतल और कोमल कर फिराने लगीं। उनकी आँखोंसे निरन्तर प्रेमाश्रु निकल रहे थे। निमाईने हँसते हुए पूछा—'अम्मा! सब कुशल तो है! मुझे अनुमान भी नहीं था, कि इतने दिन

लग जायँगे, तुम्हें पीछे कोई कष्ट तो नहीं हुआ ।' पुत्रके ऐसा पूछनेपर माता चुप ही रही ।

तब किसी दूसरी स्त्रीने धीरेसे लक्ष्मीदेवीके परलोक-गमनकी बात इनसे कह दी । सुनते ही इनके चेहरेपर दुःख, सन्ताप और वियोगके भाव प्रकट होने लगे । माता और भी जोरोंके साथ रुदन करने लगीं । निमाई-की भी आँखोंमें अश्रु आ गये । उन्हें पोंछते हुए धीरे-धीरे वे माताको समझाने लगे—'माँ, विधिके विधानको मेट ही कौन सकता है ? जो भाग्यमें बदा होगा, वह तो अवश्य ही होकर रहेगा । इतने ही दिनोंतक तुम्हारी पुत्र-वधूका तुमसे संयोग बदा था, इस बातको कौन जानता था ?'

माताने रोते-रोते कहा—'बेटा, अन्तिम समयमें भी वह तेरे आनेकी ही बात पूछती रही । ऐसी बहू अब मुझे नहीं मिलेगी, साक्षात् लक्ष्मी ही थी ।'

निमाई यह सुनकर चुप हो गये । माता फिर बड़े जोरोंसे रोने लगीं । इसपर प्रभुने कुछ जोर देकर कहा—'अम्मा ! अब चाहे तू कितनी भी रोती रह, तेरी पुत्र-वधू तो अब लौटकर आनेकी नहीं । वह लौटनेके लिये नहीं गयी है । अब तो धैर्य-धारणसे ही काम चलेगा ।'

पुत्रके ऐसे समझानेपर माताने धैर्य धारण करके अपने आँसू पोंछे और निमाईको स्नानादि करनेके लिये कहा । फिर स्वयं उन सबके लिये भोजन बनानेमें लग गयीं ।

भोजनसे निवृत्त होकर निमाई पण्डित अपने इष्ट-मित्रोंके साथ पूर्व बंगालकी यात्रा-सम्बन्धी बहुत-सी बातें करने लगे और फिर पूर्वकी भाँति पाठशालामें जाकर पढ़ाने लगे ।

नवद्वीपमें दिग्विजयी पण्डित

सभायां पण्डिताः केचित्केचित्पण्डितपण्डिताः ।
गृहेषु पण्डिताः केचित्केचिन्मूर्खेषु पण्डिताः ॥*

(कश्चित्कवेः)

भगवद्दत्त प्रतिभा भी एक अलौकिक वस्तु है। पता नहीं, किस मनुष्यमें कब और कैसी प्रतिभा प्रस्फुटित हो उठे! अच्छे गायकोंको

---

* बहुत-से तो सभामें ही पण्डित होते हैं, सभामें तो वे इधर-उधरकी बहुत-सी बातें कहकर लोगोंपर अपना पाण्डित्य प्रदर्शन कर देंगे; किन्तु एकान्तमें वे यथावत् किसी शास्त्रीय विषयपर विचार नहीं कर सकते। बहुत-से अपने पाण्डित्यको पण्डितोंके ही सामने प्रकट करनेमें समर्थ होते हैं। जो उनके विषयको समझनेमें असमर्थ होते हैं, उनके सामने वे अपना पाण्डित्य नहीं दिखा सकते। बहुत-से अपने घरकी स्त्रियोंके ही सामने अपना पाण्डित्य छाँटा करते हैं, बाहर उनसे बातें भी नहीं बनतीं और बहुत-से अपने पाण्डित्यका मूर्खोंपर ही रोब जमाया करते हैं। बुद्धिवैलक्षण्यसे पाण्डित्यके अनेक प्रकार हैं।

देखा है, वे पदको सुनते-सुनते ही कण्ठस्थ कर लेते हैं। सुयोग्य गायकोंको दूसरी बार पदको पढ़नेकी आवश्यकता नहीं होती, एक बारके सुननेपर ही उन्हें याद हो जाता है। किसीको जन्मसे ही ताल, स्वर और राग-रागिनियोंका ज्ञान होता है और वह अल्प वयमें अच्छे-अच्छे धुरन्धरोंको अपने गायनसे आश्चर्यान्वित बना देता है। कोई कवि होकर ही माताके गर्भसे उत्पन्न होते हैं, जहाँ वे बोलने लगे, कि उनकी वाणीसे कविता ही निकलने लगती है। कोई अनपढ़ होनेपर भी ऐसे सुन्दर वक्ता होते हैं कि अच्छे-अच्छे शास्त्री और महामहोपाध्याय उनके व्याख्यानको सुनकर चकित हो जाते हैं। यह सब भगवद्दत्त शक्तियाँ हैं, इन्हें कोई परिश्रम करके प्राप्त करना चाहे तो असम्भव है। ये सब प्रतिभाके चमत्कार हैं और यह प्रतिभा पुरुषके जन्मके साथ ही आती है, काल पाकर वह प्रस्फुटित होने लगती है।

बहुत-से विद्वानोंको देखा गया है, वे सभी शास्त्रोंके धुरन्धर विद्वान् हैं, किन्तु सभामें वे एक अक्षर भी नहीं बोल सकते। इसके विपरीत बहुत-से ऐसे भी होते हैं जिन्होंने शास्त्रीय विषय तो बहुत कम देखा है किन्तु वे इतने प्रत्युत्पन्नमति होते हैं, कि प्रश्न करते ही झट उसका उत्तर दे देते हैं। किसी भी विषयके प्रश्नपर उन्हें सोचना नहीं पड़ता, जो प्रश्न सुनते ही ऐसा युक्तियुक्त उत्तर देते हैं कि सभाके सभी सभासद् वाह-वाह करने लगते हैं, इसीका नाम सभा-पाण्डित्य है। पहिले जमानेमें पण्डितके माने ही वावदूक वक्ता या व्याख्यानपटु किये जाते थे। जिसकी वाणीमें आकर्षण नहीं, जिसे प्रश्नके सुननेपर सोचना पड़ता है, जो तत्क्षण बातका उत्तर नहीं दे सकता, जिसे सभामें बोलनेसे संकोच होता है, वह पण्डित ही नहीं। सभामें ऐसे पण्डितोंकी प्रशंसा नहीं होती। पाण्डित्यपनेकी कीर्तिके वे अधिकारी नहीं समझे जाते। वे तो पुस्तकीय जन्तु हैं जो पुस्तकें उलटते रहते हैं।

आजसे कई शताब्दी पूर्व इस देशमें संस्कृत-साहित्यका अच्छा प्रचार था। राजसभाओंमें बड़े-बड़े पण्डित रखे जाते थे, उन्हें समय-समयपर यथेष्ट धन पारितोषिकके रूपमें दिया जाता था। दूर-दूरसे विद्वान् सभाओंमें शास्त्रार्थ करने आते थे और राजसभाओंकी ओरसे उनका सम्मान किया जाता था। पण्डितोंका शास्त्रार्थ सुनना उन दिनों राजा या धनिकोंका एक आवश्यक मनोरञ्जन समझा जाता था। जो बोलने-चालनेमें अत्यन्त ही पटु होते थे, जिन्हे अपनी वक्तृत्व-शक्तिके साथ शास्त्रीय ज्ञानका भी पूर्ण अभिमान होता था, वे सम्पूर्ण देशमें दिग्विजयके निमित्त निकलते थे। प्रायः ऐसे पण्डितोंको किसी राजा या धनीका आश्रय होता था, उनके साथ बहुत-से और पण्डित, घोड़े, हाथी तथा और भी बहुत-से राजसी ठाट होते थे। वे विद्याके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध केन्द्र-स्थानोंमें जाते और वहाँ जाकर डंकेकी चोटके साथ मुनादी कराते कि 'जिसे अपने पाण्डित्यका अभिमान हो वह हमसे आकर शास्त्रार्थ करे। यदि वह हमें शास्त्रार्थमें परास्त कर देगा तो हम अपना सब धन छोड़कर लौट जायँगे और वे हमें परास्त न कर सके तो हम समझेंगे हमने यहाँके सभी विद्वानोंपर विजय प्राप्त कर ली। यदि किसीकी हमसे शास्त्रार्थ करनेकी हिम्मत न हो तो हमें इस नगरके सभी पण्डित मिलकर अपने हस्ताक्षरोंसहित विजय-पत्र लिख दें, हम शास्त्रार्थ किये बिना ही लौट जायँगे।' उनकी ऐसी मुनादीको सुनकर कहीं के विद्वान् तो मिलकर शास्त्रार्थ करते और कहींके विजय-पत्र भी लिख देते, कहीं-कहींके विद्वान् उपेक्षा करके चुप भी हो जाते। दिग्विजयी अपनी विजयका डंका पीटकर दूसरी जगह चले जाते। धनी-मानी सज्जन ऐसे लोगोंका खूब आदर करते थे और उन्हे यथेष्ट द्रव्य भी भेंटमें देते थे। इस प्रकार प्रायः सदा ही बड़े-बड़े शहरोंमें दिग्विजयी पण्डितोंकी धूम रहती। चैतन्यदेवके ही समयमें चार पाँच दिग्विजयी पण्डितोंका उल्लेख मिलता है। आजकल यह प्रथा बहुत कम

हो गयी है, किन्तु फिर भी दिग्विजयी आजकल भी दिग्विजय करते देखे गये हैं। हमने दो दिग्विजयी विद्वानोंके दर्शन किये हैं, उनमें यही विशेषता थी कि वे प्रत्येक प्रश्नका उसी समय उत्तर देते थे। एक दिग्विजयी आचार्यको तो काशीजीमें एक विद्यार्थीने परास्त किया था, वह विद्यार्थी हमारे साथ पाठ सुनता था; बस, उसमें यही विशेषता थी कि वह धाराप्रवाह संस्कृत बड़ी उत्तम बोलता था। दिग्विजयके लिये वाक्पटुताकी ही अत्यन्त आवश्यकता है। पाण्डित्यकी शोभा तब और अब भी वाक्पटुता ही समझी जाती है। ऐसे ही एक काश्मीरके केशव शास्त्री अन्य स्थानोंमें दिग्विजय करते हुए नवद्वीपमें भी विजय करनेके लिये आये।

उन दिनों नवद्वीप विद्याका और विशेषकर नव्य न्यायका प्रधान केन्द्र समझा जाता था। भारतवर्षमें उसकी सर्वत्र ख्याति थी। इसलिये नवद्वीपको विजय करनेपर सम्पूर्ण पूर्वदेश विजित समझा जाता था। उस समय भी नवद्वीपमें गङ्गादास वैयाकरण, वासुदेव सार्वभौम नैयायिक, महेश्वर विशारद, नीलाम्बर चक्रवर्ती, अद्वैताचार्य आदि धुरन्धर और नामी-नामी विद्वान् थे। नये पण्डितोंमें रघुनाथदास, भवानन्द, कमलाकान्त, मुरारी गुप्त, निमाई पण्डित आदिकी भी यथेष्ट ख्याति हो चुकी थी।

नगरमें चारों ओर दिग्विजयीकी ही चर्चा थी। दस-पाँच पण्डित और विद्यार्थी जहाँ भी मिल जाते, दिग्विजयीकी ही बात छिड़ जाती। कोई कहता—'नवद्वीपको विजय करके चला गया, तो नवद्वीपकी नाक कट जायगी।' कोई कहता—'अजी, न्याय वह क्या जाने, न्यायकी ऐसी कठिन पंक्तियाँ पूछेंगे कि उसके होश दंग हो जायँगे।' दूसरा कहता—'उसके सामने जायगा कौन? बड़े-बड़े पण्डित तो गद्दी छोड़कर सभाओंमें

जाना ही पसंद नहीं करते।' इस प्रकार जिसकी समझमें जो आता वह वैसी ही बात कहता।

प्रायः बड़े-बड़े विद्वान् सभाओंमें शास्त्रार्थ नहीं करते। कुछ तो पढ़ानेके सिवा शास्त्रार्थ करना जानते ही नहीं, कुछ विद्वान् होनेपर शास्त्रार्थ कर भी लेते हैं, किन्तु उनमें चालाकी, धूर्तता और बातको उड़ा देनेकी विद्या नहीं होती, इसलिये चारों ओर घूम-घूमकर दिग्विजय करनेवाले वावदूकोंसे वे घबड़ाते हैं। कुछ अपनी इज्जत-प्रतिष्ठाके डरसे शास्त्रार्थ नहीं करते कि यदि हार गये तो लोगोंमें बड़ी बदनामी होगी। इसलिये बड़े-बड़े गम्भीर विद्वान् ऐसे कामोंमे उदासीन ही रहते हैं।

विद्यार्थियोंने जाकर निमाई पण्डितसे भी यह बात कही—'काश्मीरसे एक दिग्विजयी पण्डित आये हैं। उनके साथ बहुत-से हाथी-घोड़े तथा विद्वान् पण्डित भी हैं। उनका कहना है, नदियाके विद्वान् या तो हमसे शास्त्रार्थ करें नहीं तो विजय-पत्र लिखकर दे दें। वैसे शास्त्रार्थ करनेके लिये तो बहुत-से पण्डित तैयार हैं, किन्तु सुनते हैं, उन्हे सरस्वती सिद्ध है। शास्त्रार्थके समय सरस्वती उनके कण्ठमें बैठकर शास्त्रार्थ करती है। इसीसे वे सम्पूर्ण भारतको विजय कर आये है। सरस्वतीके साथ भला कौन शास्त्रार्थ कर सकता है? इसलिये उन्हे बड़ा भारी अभिमान है। वे अभिमानमें बार-बार कहते है—'मुझे शास्त्रार्थमें पराजय करनेवाला तो पृथ्वीपर प्रकट ही नहीं हुआ है।' इसलिये नदियाके सभी पण्डित डर गये है।'

विद्यार्थियोंकी बातें सुनकर पण्डितप्रवर निमाईने कहा—'चाहे किसीका भी वरदान प्राप्त क्यों न हो, अभिमानीका अभिमान तो अवश्य ही चूर्ण होता है। भगवान्‌का नाम ही मदहारी है, वे अभिमानहीका तो आहार करते हैं। रावण, वेन, नरकासुर, भस्मासुर आदि सभीने घोर तप करके

ब्रह्माजी तथा शिवजीके बड़े-बड़े वर प्राप्त किये थे। दर्पहारी भगवान्‌ने उनके भी दर्पको चूर्ण कर दिया। अभिमान करनेसे बड़े-बड़े पतित हो जाते हैं, फिर यह दिग्विजयी तो चीज ही क्या है ?' इस प्रकार विद्यार्थियोंसे कहकर आप गङ्गा-किनारे चले गये और वहाँ जाकर नित्यकी भाँति जल-विहार और शास्त्रार्थ करने लगे। इन्होंने दिग्विजयीके सम्बन्धमें छात्रोंसे पता लगा लिया कि वह क्या-क्या करता है और एकान्तमें गङ्गाजीपर आता है या नहीं, यदि आता है तो किस घाटपर और किस समय ? पता चला कि अमुक घाटपर सन्ध्या-समय दिग्विजयी नित्य आकर बैठता है। निमाई उसी घाटपर अपने विद्यार्थियोंके साथ जाने लगे। और भी पाठशालाओंके विद्यार्थी कुतूहलवश वहीं आकर शास्त्रार्थ और वाद-विवाद करने लगे।

दिग्विजयीका पराभव

परैः प्रोक्ता गुणा यस्य निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ॥*

(सु० र० भां० ८७। १)

महामहिम निमाई पण्डित एकान्तमें दिग्विजयी पण्डितके साथ वार्तालाप करना चाहते थे, वे भरी सभामें उस मानी और वयोवृद्ध पण्डितकी हँसी करना ठीक नहीं समझते थे। प्रायः देखा गया है, भरी सभामें लोगोंके सामने अपने सम्मानकी रक्षाके निमित्त शास्त्रार्थ करनेवाले

---

* दूसरे लोग जिसकी प्रशंसा करें तो वह निर्गुण होनेपर भी गुणवान् हो जाता है और जो अपनी प्रशंसा अपने ही मुखसे करता है, फिर चाहे वह त्रिलोकेश इन्द्र ही क्यों न हो, उसे भी नीचा देखना पड़ता है।

झूठी बातपर भी अड़ जाते हैं और उसे येन केन प्रकारेण सत्य ही सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। सत्यको झूठ और झूठको सत्य करनेके कौशलका ही नाम तो आजकल असलमे शास्त्रार्थ करना है। निमाई उससे शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे, किन्तु उसे यह बताना चाहते थे, कि संसारमें परमात्माके अतिरिक्त अद्वितीय वस्तु कोई नहीं है। कोई कितना भी अभिमान क्यों न कर ले, संसारमें उससे बढ़कर कोई-न-कोई मिल ही जायगा। ब्रह्माजीकी बनायी हुई इस सृष्टिमें यही तो विचित्रता है, कहावत है—

'मल्लन कूँ मल्ल घनेरे, घर नाहिं तो बाहिर बहुतेरे'

अर्थात् 'बलवानोंको बहुत-से बलवान् मिल जाते हैं, उनके समीप उनके समान न भी हों, तो बाहर बहुत-से मिल जायँगे।' इसी बातको जतानेके निमित्त निमाई पण्डित एकान्तमें दिग्विजयीसे बातें करना चाहते थे।

सन्ध्याका समय है, कलकलनादिनी भगवती भागीरथी, अपनी द्रुत गतिसे सदाकी भाँति सागरकी ओर दौड़ी जा रही हैं, मानो उन्हें संसारी बातें सुननेका अवकाश ही नहीं, वे अपने काममें बिना किसीकी परवा किये हुए निरन्तर लगी हुई हैं। कलरव करते हुए भाँति-भाँतिके पक्षी आकाश-मार्गसे अपने-अपने कोटरोंकी ओर उड़े जा रहे हैं। भगवान् भुवन-भास्करके अस्ताचलमें प्रस्थान करनेके कारण विधवाकी भाँति सन्ध्या-देवी रुदन कर रही है। शोकके कारण उसका चेहरा लाल पड़ गया है, मानो उसे ही प्रसन्न करनेके निमित्त भगवान् निशानाथ अपनी सोलहों कलाओंके सहित गगनमें उदित होकर प्राणिमात्रको शीतलता प्रदान कर रहे हैं। पुण्यतोया जाह्नवीके वैडूर्यके समान स्वच्छ नील-जलमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब बड़ा ही भला मालूम होता है। प्रायः सभी पाठशालाओंके

बहुत-से मेधावी छात्र गङ्गाजीके जलके बिल्कुल समीप बैठकर शास्त्रचर्चा कर रहे हैं। एक दूसरेसे प्रश्न पूछता है, वह उसका उत्तर देता है, पूछनेवाला उसका फिरसे खण्डन करता है। उत्तर देनेवालेकी दस-पाँच विद्यार्थी मिलकर सहायता करते हैं, अब सहायता करनेवालोंसे शास्त्रार्थ छिड़ जाता है। इस प्रकार सब एक दूसरेको परास्त करनेकी जी-जानसे चेष्टा कर रहे हैं। शास्त्रार्थ करनेमें असमर्थ छात्र चुपचाप उनके समीप बैठकर शास्त्रार्थके श्रवणमात्रसे ही अपनेको आनन्दित कर रहे हैं। बहुत-से दर्शनार्थी चारों ओर घिरकर बैठ जाते हैं, कोई-कोई खड़े होकर भी विद्यार्थियोंके वाक्-युद्धका आनन्द देखने लगते हैं, तब दूसरे विद्यार्थी उन्हें इशारेसे बिठा देते हैं। इस प्रकार विद्यार्थियोंमें खूब ही शास्त्रालोचना हो रही है। इन सभी छात्रोंके बीच निमाई पण्डित मानो सिरमौर हैं। इस शास्त्रार्थकी जान वे ही हैं, वे स्वयं भी विद्यार्थियोंमें मिलकर शास्त्रार्थ करते हैं और दूसरोंको भी उत्साहित करते जाते हैं। दूसरे पण्डित एकान्तमें दूर खड़े होकर, कोई सन्ध्याका बहाना करके, कोई पाठके बहानेसे निमाईके मुखसे निसृत वाक्-सुधाका रसास्वादन कर रहे हैं। बहुत-से पण्डित यथार्थमें ही सन्ध्या करके मनोविनोदके निमित्त विद्यार्थियोंके समीप खड़े हो गये हैं, और एक दूसरेके विवादमें कभी-कभी किसीकी सहायता भी कर देते हैं। इसी बीच दिग्विजयी पण्डित भी अपने दो-चार अन्तरङ्ग पण्डितोंके साथ गङ्गाजीपर आये। दिग्विजयीका सुन्दर सुहावना गौर वर्ण था, शरीर सुगठित और स्थूल था, बड़ी-बड़ी सुन्दर भुजाएँ, उन्नत वक्षःस्थल और गोल चेहरेके ऊपर बड़ी-बड़ी आँखें बड़ी ही भली मालूम पड़ती थीं। उनके प्रशस्त सुन्दर ललाटपर रोलीकी एक चौड़ी-सी बिन्दी लगी हुई थी, सिरके बाल आधे पक गये थे, चेहरेसे रोब और विद्वत्ता प्रकट होती थी, शरीरमें अभिमानजन्य स्फूर्ति थी, केवल एक सफेद कुर्ता पहिने नंगे सिर आकर दिग्विजयीने गङ्गाजीको प्रणाम किया, आचमन करके वे थोड़ी देर बैठे

रहे। फिर वैसे ही मनोविनोदके निमित्त विद्यार्थियोंकी ओर चले गये। निमाईके समीपके विद्यार्थीने इशारेसे बताया, ये ही वे दिग्विजयी हैं। दिग्विजयीको देखकर निमाई पण्डितने उन्हें नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और बैठनेके लिये आग्रह किया। पहिले तो दिग्विजयीने बैठनेमें संकोच किया, जब सभीने आग्रह किया, तो वे बैठ गये। प्रायः मानियोंके समीप ही मान-प्रतिष्ठाकी परवा की जाती है, जो मान-अपमानसे परे हैं उनके समीप मानी-अमानी, मूर्ख-पण्डित सभी समानरूपसे जा-आ सकते हैं और उनकी सीधी-सादी बातोंमें वे मानापमानका ध्यान नहीं करते। इसीलिये तो लड़के, पागल तथा मूर्खोंके साथ सभी बेखटके चले जाते हैं, उनसे उन्हें उद्वेग नहीं होता। उद्वेगका कारण तो अन्तरात्मामें सम्मानकी इच्छा है। जिसके हृदयमें सम्मानकी लिप्सा है, वह माननीय लोगोंमें सम्मानके ही साथ जाना पसन्द करेगा, उसे इस बातका सदा भय बना रहता है, कि वहाँ मेरा अपमान न होने पावे। इसलिये उत्तम आसनका पहिलेसे ही प्रबन्ध करा लेगा, तब वहाँ जाना स्वीकार करेगा। विद्यार्थी तो मान-अपमानसे दूर ही रहते हैं, उन्हें मान-अपमानकी कुछ भी परवा नहीं रहती। चाहे विद्यार्थी सभी शास्त्रोंको पढ़ चुका हो, जबतक वह पाठशाला-में विद्यार्थी बना है, तबतक वह छोटे-से-छोटे विद्यार्थीसे भी समानताका ही बर्ताव करेगा। विद्यार्थी-विद्यार्थी सब एक-से। इसीलिये विद्यार्थियोंसे भी किसीको उद्वेग नहीं होता। इसी कारण विद्यार्थियोंके आग्रह करनेपर महामानी लोकविख्यात दिग्विजयी पण्डित भी विद्यार्थियोंके समीप ही बैठ गये। निमाई पण्डितने अपना वस्त्र उनके लिये बिछा दिया। दिग्विजयीके सुखपूर्वक बैठ जानेपर सभी विद्यार्थी चुप हो गये। सभीने शास्त्रार्थ बन्द कर दिया। हँसते हुए दिग्विजयी बोले—'भाई, तुमलोग चुप क्यों हो गये, कुछ शास्त्र-चर्चा होनी चाहिये। इतनेपर भी सब चुप ही रहे। सभी विद्यार्थी धीरे-धीरे निमाईके मुखकी ओर देखने लगे। कुछ प्रसङ्ग चलनेके

निमित्त दिग्विजयीने निमाई पण्डितसे पूछा—'तुम किस पाठशालामें पढ़ते हो ?' निमाई इस प्रश्नको सुनकर चुप हो गये, वे कुछ कहनेहीको थे कि उनके समीप बैठे हुए एक योग्य छात्रने कहा—'ये यहाँके विख्यात अध्यापक निमाई पण्डित हैं।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए दिग्विजयीने निःसंकोचभावसे उनकी पीठ-पर हाथ फेरते हुए कहा—'ओहो ! निमाई पण्डित आपका ही नाम है ? आपकी तो हमने बड़ी भारी प्रशंसा सुनी है। आप तो यहाँके वैयाकरणोंमें सिरमौर समझे जाते हैं। हाँ, आप ही कोई व्याकरणकी पंक्ति सुनाइये।'

हाथ जोड़े हुए नम्रतापूर्वक निमाई पण्डितने कहा—'यह तो आप-जैसे गुरुजनोंकी कृपा है, मैं तो किसी योग्य भी नहीं। भला, आपके सामने मैं सुना ही क्या सकता हूँ, मैं तो आपके शिष्योंके शिष्य होनेके योग्य भी नहीं! आपने संसारको अपनी विद्या-बुद्धिसे दिग्विजय किया है। आपके कवित्वकी बड़ी भारी प्रशंसा सुनी है। यह छात्र-मण्डली आपके कवित्वके श्रवण करनेके लिये बड़ी उत्सुक हो रही है। कृपा करके आप ही अपनी कोई कविता सुनानेकी कृपा कीजिये।

यह सुनकर दिग्विजयी पण्डित हँसने लगे। पासके दो-चार विद्यार्थियोंने कहा—'हाँ, महाराज! हमलोगोंकी इच्छाको जरूर पूर्ण कीजिये। हम सभी लोग बहुत उत्सुक हैं आपकी कविता सुननेके लिये।'

अबतक दिग्विजयीको नदियामें अपनी अलौकिक प्रतिभा और लोकोत्तर कवित्व-शक्तिके प्रकाशित करनेका सुअवसर प्राप्त ही नहीं हुआ था। उसे प्रकट करनेका सुअवसर समझकर उन्होंने कुछ गर्व मिली हुई प्रसन्नताके साथ कहा—'तुमलोग जो सुनना चाहते हो, वही सुनावें।'

इसपर निमाई पण्डितने धीरेसे कहा—'कुछ भगवती भागीरथीकी

महिमाका ही बखान कीजिये जिससे कर्ण भी पवित्र हों और काव्यामृतका भी रसास्वादन हो ।'

इतना सुनते ही दिग्विजयी धारा-प्रवाहसे गङ्गाजीके महत्त्वके श्लोक बोलने लगे । सभी श्लोक नवीन ही थे, वे तत्क्षण नवीन श्लोकोंकी रचना करते जाते और उन्हें, उसी समय बोलते जाते । उन्हें नवीन श्लोक बनानेमें न तो प्रयास करना पड़ता था, न एक श्लोकके बाद ठहरकर कुछ सोचना ही पड़ता था । जैसे किसीको असंख्य श्लोक कण्ठस्थ हों और वह जिस प्रकार जल्दी-जल्दी बोलता जाय, उसी प्रकार दिग्विजयी श्लोक बोल रहे थे ।

सभी विद्यार्थी विस्मितभावसे एकटक होकर दिग्विजयीकी ओर आश्चर्यभावसे देख रहे थे । सभीके चेहरोंसे महान् आश्चर्य—अद्भुत संभ्रम-सा प्रकट हो रहा था, उन्होंने इतनी विद्या-बुद्धिवाला पुरुष आजतक कभी देखा ही नहीं था । विद्यार्थियोंके भावोंको समझकर दिग्विजयी मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होते जाते थे और दूने उत्साहके साथ यमक और अनुप्रासयुक्त श्लोकोंको सुमधुर कण्ठसे बोलते जाते थे । एक घड़ी भी नहीं हुई कि वे सौसे अधिक श्लोक बोलकर चुप हो गये । घाटपर सन्नाटा छा गया । गङ्गाजीका कलरव बंद हो गया, मानो इतनी उतावली गङ्गा-माता भी दिग्विजयीके लोकोत्तर काव्य-रससे प्रवाहित होकर उसे अपने प्रवाहमें मिलानेके लिये कुछ कालके लिये ठहर गयी हो । उस नीरवताको भंग करते हुए मधुर और गम्भीर स्वरमें निमाई पण्डित बोले—'महाराज ! हम सब लोग आज आपकी अमृतमयी वाणी सुनकर कृतार्थ हुए । हमने ऐसा अपूर्व काव्य कभी नहीं सुना था, न आप-जैसे लोकोत्तर कविके ही कभी दर्शन किये थे । आपके काव्यको आप ही समझ भी सकते हैं । दूसरेकी क्या सामर्थ्य है, जो ऐसे सुललित काव्यको यथावत् समझ ले ।

इसलिये इनमेंसे किसी एक श्लोककी व्याख्या और गुण-दोष हम और सुनना चाहते हैं।

कुछ गर्वके साथ हँसते हुए दिग्विजयीने कहा—केशवकी कमनीय कवितामें दोष तो दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकते। हाँ, व्याख्या कहो तो कर दूँ। बताओ किस श्लोककी व्याख्या चाहते हो, यह बात दिग्विजयीने निमाई पण्डितको युक्तिसे चुप करनेके ही लिये कह दी थी। वे समझते थे मेरे सभी श्लोक नवीन हैं, मैं जल्दी-जल्दीमें उन्हें बोलता गया हूँ, ये उनमेंसे किसीको बता ही न सकेंगे इसलिये यह बात यहीं समाप्त हो जायगी। किन्तु निमाई भी कोई साधारण पण्डित नहीं थे। दिग्विजयी यदि भगवतीके वरसे कविवर हैं, तो ये भी श्रुतिधर हैं। झटसे आपने अपने कोमल कण्ठसे यह श्लोक पढ़ा—

> महत्त्वं गङ्गायाः सततमिदमाभाति नितरां
> यदेषा श्रीविष्णोश्चरणकमलोत्पत्तिसुभगा।
> द्वितीयश्रीलक्ष्मीरिव सुरनरैरर्च्यचरणा
> भवानीभर्तुर्या शिरसि विभवत्यद्भुतगुणा॥*
>
> (केशवकाश्मीरी पण्डितस्य)

इस श्लोकको बोलकर आपने कहा—'इसकी व्याख्या और गुण-दोष कहिये।'

निमाईके मुखसे अपने श्लोकको यथावत् सुनकर दिग्विजयीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, उनका मुख फीका पड़ गया। सभी एकटक

---

* इस श्लोकका भाव यह है, कि इस गङ्गा देवीका महत्त्व सर्वदा देदीप्यमान है, इसी कारण यह बड़ी ही सौभाग्यशालिनी हैं। इनकी उत्पत्ति श्रीविष्णु भगवान्‌के चरणकमलसे हुई है। इनके चरणोंकी द्वितीय लक्ष्मीकी भाँति सुरनरगण सदा पूजा-अर्चा करते रहते हैं। ये अद्भुत गुणवाली देवी, भवानीके स्वामी श्रीमहादेवजीके सिरपरसे प्रवाहित हुई हैं।

होकर निमाईकी ओर देखने लगे, मानो दिग्विजयीकी श्री, प्रतिभा, कान्ति और प्रभा निमाईके पास आ गयी हो । कुछ बनावटी उपेक्षा-सी करते हुए कहा–'आप बड़े चतुर हैं, मैं इतनी जल्दी-जल्दी श्लोक बोलता था, उनके बीचमेंसे आपने श्लोकको कण्ठस्थ भी कर लिया ।'

निमाईने धीरेसे नम्रतापूर्वक कहा—'सब आपकी कृपा है, कृपया इस श्लोककी व्याख्या और गुण-दोष सुनाइये ।'

दिग्विजयीने कहा–'यह अलङ्कारका विषय है, तुम वैयाकरण हो, इसे क्या समझोगे ?'

इन्होंने नम्रताके साथ कहा—'महाराज ! हमने अलङ्कार-शास्त्रका यथावत् अध्ययन नहीं किया है, तो उसे सुना तो अवश्य है, कुछ तो समझेंगे ही । फिर यहाँ अलङ्कार-शास्त्रके ज्ञाता बहुत-से छात्र तथा पण्डित भी बैठे हुए हैं, उन्हें ही आनन्द आवेगा ।'

अब दिग्विजयी अधिक टालमटोल न कर सके, वे अनिच्छापूर्वक बेमनसे श्लोककी व्याख्या करने लगे । व्याख्याके अनन्तर उपमालङ्कार और अनुप्रासादि गुण बताकर दिग्विजयी चुप हो गये । तब निमाई पण्डितने बड़ी नम्रताके साथ कहा—'आज्ञा हो और आप अनुचित न समझें तो मैं भी इस श्लोकके गुण-दोष बता दूँ ?

मानो क्रुद्ध सर्पपर किसीने पाद-प्रहार कर दिया हो, संसारविजयी सरस्वतीके वरप्राप्त दिग्विजयी पण्डितके श्लोकमें यह युवक अध्यापक दोष निकालनेका साहस करता है, उन्होंने भीतरके दोषसे बनावटी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'अच्छा बताओ, श्लोकमें क्या गुण-दोष हैं ?'

निमाई पण्डित अब श्लोककी व्याख्या करने लगे । उन्होंने कहा—'श्लोक बड़ा ही सुन्दर है, वैसे लगानेसे तो सैकड़ों गुण-दोष निकल सकते हैं, किन्तु मुख्यरूपसे इसमें पाँच गुण हैं और पाँच दोष हैं ।'

दिग्विजयीने हँसलाकर सिर हिलाते हुए कहा—'बताओ न कौन-कौन-से दोष हैं!'

निमाईने उसी सरलताके साथ कहा—पहिले श्लोकके गुण ही सुनिये।

(१) पहिला गुण तो इसमें 'शब्दालङ्कार' है। श्लोकके पहिले चरणमें पाँच 'तकारों' की पंक्ति बड़ी ही सुन्दरताके साथ ग्रथित की गयी है। तृतीय चरणमें पाँच 'रकार' और चतुर्थ चरणमें चार 'भकार' बड़े ही भले मालूम पड़ते हैं। इन शब्दोंके कारण श्लोकमें शब्दालङ्कार-गुण आ गया है।

(२) दूसरा गुण है 'पुनरुक्तिवदाभास'। पुनरुक्तिवदाभास उस गुणको कहते हैं जो सुननेमें तो पुनरुक्ति प्रतीत हो, किन्तु पुनरुक्ति न होकर दोनों पदोंके दो भिन्न-भिन्न अर्थ हों। जैसे श्लोकमें 'श्री-लक्ष्मी-इव' यह पद आया है। सुननेमें तो श्री और लक्ष्मी दोनों समान अर्थवाचक ही प्रतीत होते हैं किन्तु यहाँ श्री और लक्ष्मीका अलग-अलग अर्थ न करके 'श्रीसे युक्त लक्ष्मी' ऐसा अर्थ करनेसे सुन्दर अर्थ भी हो जाता है और साथ ही 'पुनरुक्तिवदाभास' गुण भी प्रकट होता है।

(३) तीसरा गुण है 'अर्थालङ्कार'। अर्थालङ्कार उसे कहते हैं, जिसमें अर्थके सहित उपमाका प्रकाश किया हो। जैसे श्लोकमें 'लक्ष्मीः इव' अर्थात् लक्ष्मीकी तरह कहकर गङ्गाजीको लक्ष्मीकी उपमा दी गयी है। इस कारण बड़ा ही मनोहर 'अर्थालङ्कार' है।

(४) चौथा एक और भी 'अर्थालङ्कार' गुण है, उसका नाम है 'विरोधाभासार्थालङ्कार'। विरोधाभासरूपी अर्थालङ्कार उसे कहते हैं कि उपमा-उपमेय एक-दूसरेसे बिलकुल विभिन्न गुणवाले हों, जैसे—

अम्बुजमम्बुनि जातं क्वचिदपि न जातमम्बुजादम्बु।
मुरभिदि तद्विपरीतं पादाम्भोजान्महानदी जाता॥

अर्थात् जलसे तो कमलोंकी उत्पत्ति होती हुई देखी गयी है, किन्तु कमलसे जल कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु भगवान्की लीला विचित्र ही है, उनके पाद-पद्मोंसे जगत्पावनी महानदी उत्पन्न हुई है। यहाँ कमलसे जलकी उत्पत्तिका विरोध है, किन्तु भगवान् तो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' सभी प्रकारसे समर्थ हैं, इसलिये आपके श्लोकमें 'विष्णोश्चरणकमलोत्पत्तिसुभगा' इस पदसे विष्णु भगवान्के चरण-कमलोंसे उत्पत्ति बतानेसे 'विरोधाभासरूपी अर्थालङ्कार' आ गया है।

(५) पाँचवाँ एक और भी 'अनुमान' अलङ्कार है। श्लोकमें साध्य वस्तु गङ्गाजीका महत्त्व वर्णन करना है। विष्णुपादोत्पत्ति उसका साधन बताकर बड़ा चमत्कारपूर्ण अनुमानालङ्कार सिद्ध हो जाता है। अर्थात् 'विष्णुपादोत्पत्ति-वाक्य ही अनुमानालङ्कार है।'

इस प्रकार पाँच गुणोंको बताकर निमाई पण्डित चुप हो गये। सभी अनिमेषभावसे टकटकी लगाये निमाई पण्डितकी ही ओर देख रहे थे, उन्होंने ये सब बातें बड़ी सरलता और निर्भीकताके साथ कही थीं, दिग्विजयीका कलेजा भीतर-ही-भीतर खिंच-सा रहा था, वे उदासीनभावसे गङ्गाजीकी सीढ़ीके घाटकी ओर देख रहे थे, मानो वे कह रहे हैं, यह पत्थर यहाँसे हट जाय तो मैं इसमें समा जाऊँ। निमाई पण्डितके गुण बतानेपर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई। जैसे किसी शास्त्री पण्डितसे कह दें आप थोड़ा-सा व्याकरण भी जानते हैं, जैसे उसे इस वाक्यमें कोई विशेष प्रसन्नता न होकर और दुःख ही होगा, उसी प्रकार अपने काव्यको सर्वगुणसम्पन्न समझनेवाले दिग्विजयीको इन पाँच गुणोंके श्रवणसे प्रसन्नताकी जगह दुःख ही हुआ। उन्होंने कुछ चिढ़कर कहा—'अच्छा, ये तो गुण हो गये, अब तुम बता सकते हो तो इसमेंके दोषोंको भी बताओ।'

यह सुनकर उसी गम्भीर वाणीसे निमाई पण्डित कहने लगे—

'गुणोंकी भाँति दोष भी इसमें अनेकों निकाले जा सकते हैं, किन्तु पाँच मोटे-मोटे दोष तो प्रत्यक्ष ही हैं। श्लोकमें दो स्थानोंपर तो 'अविमृष्ट-विधेयांश' दो दोष है, तीसरा 'विरुद्धमति' दोष है, चौथा 'भग्नक्रम' और पाँचवाँ 'पुनरुक्ति' दोष भी है। इस प्रकार ये पाँच दोष मुख्य हैं, अब इनकी व्याख्या सुनिये।

(१) 'अविमृष्ट-विधेयांश' दोष उसे कहते हैं जिसमें 'अनुवाद' अर्थात् परिज्ञात विषय आगे न लिखा जाय। ऐसा करनेसे अर्थमें दोष आ जाता है। आपके श्लोकका मूल विधेय है 'गङ्गाजीका महत्त्व' और 'इदम्' शब्द अनुवाद है। आपने 'अनुवाद' को पहिले न कहकर सबसे पहिले 'महत्त्वं गङ्गायाः' जो 'विधेय' है उसे ही आगे कह दिया, इससे 'अविमृष्ट-विधेयांश' दोष आ गया।

(२) दूसरा 'अविमृष्ट-विधेयांश' दोष 'द्वितीयश्रीलक्ष्मी' इस पदमें है। यहाँपर 'द्वितीयत्व' ही 'विधेय' है, द्वितीय-शब्द ही समासमें पड़ गया। समासमें पड़ जानेसे वह मुख्य न रहकर गौण पड़ गया। इससे शब्दार्थ-क्षय हो गया अर्थात् लक्ष्मीकी समता प्रकाश करना ही अर्थका मुख्य तात्पर्य था, सो द्वितीय शब्दके समासमें पड़ जानेसे अर्थ ही नाश हो गया।

(३) तीसरा श्लोकमें 'विरुद्धमति' दोष है। विरुद्धमति दोष उसे कहते हैं, कि कहना तो किसीके लिये चाहते हैं और अर्थ करनेपर किसी दूसरेपर घटता है। आपके श्लोकमें 'भवानीभर्तुः' पद आया है, आपका अभिप्राय शङ्करजीसे है, किन्तु अर्थ लगानेपर महादेवजीका न लगकर किसी दूसरेका ही भास होता है। 'भवानीभर्ता' के शब्दार्थ हुए (भवस्य पत्नी भवानी भवान्या भर्ता=भवानीभर्ता) अर्थात् शिवजीकी पत्नीका पति।

दिग्विजयीका पराभव

इससे पार्वतीजीके किसी दूसरे पतिका अनुमान किया जा सकता है। जैसे 'ब्राह्मणपत्नीके स्वामीको दान दो' इस वाक्यके सुनते ही दूसरे पतिका बोध होता है। काव्यमें इसे 'विरुद्धमति' दोष कहते हैं, यह बड़ा दोष समझा जाता है।

(४) चौथा 'पुनरुक्ति' दोष है। पुनरुक्ति दोष उसे कहते हैं, एक बातको बार-बार कहना—या क्रियाके समाप्त होनेपर फिरसे उसी बातको दुहराना। आपके श्लोकमें 'विभवति' क्रिया देकर विषयको समाप्त कर दिया है, फिर भी क्रियाके अन्तमें 'अद्भुतगुणा' विशेषण देकर 'पुनरुक्तिदोष' कर दिया गया है।

(५) पाँचवाँ 'भग्नक्रम' दोष है। भग्नक्रम दोष उसे कहते हैं कि दो या तीन पदोंमें तो कोई क्रम जारी रहे और एक पदमें वह क्रम भग्न हो जाय। आपके श्लोकके प्रथम चरणमें पाँच 'तकार' तीसरेमें पाँच 'रकार' और चतुर्थ चरणमें चार भकारोंका अनुप्रास है किन्तु दूसरा चरण अनुप्रासोंसे रहित ही है। इससे श्लोकमें 'भग्नक्रम' दोष आ गया।

महामहिम निमाई पण्डित बृहस्पतिके समान निर्भीक होकर धाराप्रवाह गतिसे बोलते जाते थे, सभी दर्शकोंके चेहरेसे प्रसन्नताकी किरणें निकल रही थीं। दिग्विजयी लज्जाके कारण सिर नीचा किये हुए चुपचाप बैठे थे। निमाई पण्डितका एक-एक शब्द उनके हृदयमें शूलकी भाँति चुभता था, उससे वे मन-ही-मन व्यथित होते जाते थे, किन्तु बाहरसे ऐसी चेष्टा करते थे, जिससे भीतरकी व्यथा प्रकट न हो सके, किन्तु चेहरा तो अन्तःकरणका दर्पण है, उसपर तो अन्तःकरणके भावोंका प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। निमाई पण्डितके चुप हो जानेपर भी दिग्विजयी नीचा सिर किये

हुए चुपचाप ही बैठे रहे, उन्होंने अपने मुखसे एक भी शब्द इनके प्रतिवादमें नहीं कहा। यह देखकर विद्यार्थी ताली पीटकर हँसने लगे। गुणग्राही निमाई पण्डितने डॉटकर उन्हें ऐसा करनेसे निषेध किया। दिग्विजयीको लज्जित और खिन्न देखकर आप नम्रताके साथ कहने लगे—'हमने बाल-चापल्यके कारण ये बातें कह दी हैं। आप इनको कुछ बुरा न मानें। हम तो आपके शिष्य तथा पुत्रके समान हैं। अब बहुत रात्रि व्यतीत हो गयी है, आपको भी नित्यकर्मके लिये देर हो रही होगी। हमे भी अपने-अपने घर जाना है। अब आप पधारें। कल फिर दर्शन होंगे। आपके काव्यको सुनकर हम सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। रही गुण-दोषकी बात, सो सृष्टिकी कोई भी वस्तु दोषसे खाली नहीं है। गुण-दोषोंके सम्मिश्रणसे ही तो इस सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। कालिदास, भवभूति, जयदेव आदि महाकवियोंके काव्योंमें भी बहुत-से दोष देखे जाते हैं। यह तो कुछ बात नहीं है, दोष ही न हों, तो फिर गुणोंके महत्त्वको कौन समझे? अच्छा तो आज्ञा दीजिये' यह कहकर सबसे पहिले निमाई पण्डित ही उठ बैठे। इनके उठते ही सभी छात्र भी एक साथ ही उठ खड़े हुए। सर्वस्व गँवाये हुए व्यापारीकी भाँति निराशाके भावसे दिग्विजयी भी उठ खड़े हुए और धीरे-धीरे उदास-मनसे अपने डेरेकी ओर चले गये। इधर निमाई पण्डित नित्यकी भाँति हँसते-खेलते और चौकड़ी लगाते शिष्योंके साथ अपने स्थानको चले गये।

दिग्विजयीका वैराग्य

> भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
> मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
> शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
> सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥*
>
> (भर्तृहरि वै० श० ३५)

जिसकी जिह्वाने मिश्रीका रसास्वादन नहीं किया है, वही लौटा अथवा सीरामें सुखका अनुभव करेगा । जिस स्थानमें गुड़से चीनी या शक्कर बनायी जाती है, उसके बाहर एक बड़ा-सा कुण्ड होता है, उसमे गुड़का सम्पूर्ण काला-काला मैल छन-छनकर आता है। दूकानदार उस मैलको कारखानेमेंसे सस्ते दामोंमें खरीद लाते हैं और उसे तंबाकूमें कूटकर बेचते हैं । दूकानदार सीरेको काठके बड़े-बड़े पीपोंमें भरकर और गाड़ीमें लादकर ले जाते हैं। काठके पीपेमें छोटे-छोटे छिद्र हो जाते हैं, उनमेंसे सीरा रास्तेमें टपकता जाता है, हमने अपनी आँखोंसे देखा है, कि

---

* भोगमें रोगका भय है, कुल बढ़नेसे उसके च्युत होनेका भय है, अधिक धन होनेमे उससे राजभय है, मौन होनेमें दीनताका भय है, बलमें शत्रुका भय है, रूपमें वृद्धावस्थाका भय है, शास्त्राभ्यासमें वादविवादमें हार जानेका भय है, गुणोंमें दुष्टोंका भय है, शरीरमे उसके नष्ट हो जानेका भय है, संसारके यावत् पदार्थ सभी भयसे भरे पड़े हैं। बस, एक वैराग्य ही भयसे रहित है। वैराग्यमें किसीका भी भय नहीं।

गाँवके ग्वारिया उन बूँदोंको उँगलियोंसे उठाकर चाटते हैं और मिठासकी खुशीके कारण नाचने लगते हैं; जहाँ कहीं बड़ी-बड़ी दस-पाँच बूँदें मिल जाती हैं, वहाँ वे प्रसन्नताके कारण उछलने लगते हैं और खुशीमें अपनेको परम सुखी समझने लगते हैं। यदि उन्हें कहीं मिश्री खानेके लिये मिल जाय, तो फिर वे उस बदबूदार सीरेकी ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे, क्योंकि असली मिठास तो मिश्रीमें ही है। सीरेमें तो उसका मैल है। मिठासके संसर्गके कारण ही मैलमें भी मिठास-सा प्रतीत होता है। अज्ञानी बालक उसे ही मिठास समझकर खुशीसे कूदने लगते हैं।

इसी प्रकार असली आनन्द तो वैराग्यमें ही है, विषयोंमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वह तो वैराग्यका मैलमात्र ही है, जिसने वैराग्यका रसास्वादन कर लिया, वह इन क्षणभंगुर अनित्य संसारी विषयोंमें क्यों राग करेगा ? वैराग्यका पिता पश्चात्ताप है, पश्चात्तापके बिना वैराग्य हो ही नहीं सकता। जब किसी महात्माके संसर्गसे हृदयमें अपने पुराने कृत्योंपर पश्चात्ताप होगा तभी वैराग्यकी उत्पत्ति होगी। वैराग्यका पुत्र त्याग है, त्याग वैराग्यसे ही उत्पन्न होता है, बिना वैराग्यके त्याग ठहर ही नहीं सकता। त्यागके सुख नामका पुत्र है और शान्ति नामकी एक पुत्री। 'त्यागान्नास्ति परं सुखम्' त्यागसे बढ़कर परम सुख कोई है ही नहीं। त्यागके बिना सुख हो ही नहीं सकता। भगवान् भी कहते हैं—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' त्यागके अनन्तर ही शान्तिकी उत्पत्ति होती है। अतः इस पूरे परिवारके आदिपुरुष या पूर्वज जनक पश्चात्ताप ही हैं। पश्चात्तापके बिना इस परिवारकी वंशवृद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये तो सत्संगकी इतनी महिमा वर्णन की गयी है। महापुरुषोंके संसर्गमें जानेसे कुछ तो अपने व्यर्थके कर्मोंपर पश्चात्ताप होगा ही, इसीलिये भगवती श्रुति बार-बार कहती है 'कृतं स्मर' 'कृतं स्मर' किये हुएका स्मरण करो। असली पश्चात्ताप तो सर्वस्वके नष्ट हो जानेपर या अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तुके न प्राप्त होनेपर ही

होता है। जिन्हें परम सुखकी इच्छा है और संसारी पदार्थोंमें उसका अभाव पाते हैं, वे संसारी सुखोंमें लात मारकर असली सुखकी खोजमें पहाड़ोंकी कन्दराओंमें तथा एकान्त स्थानोंमें रहकर उसकी खोज करने लगते हैं उन्हींको विरागी कहते हैं।

दिग्विजयी पण्डित केशव काश्मीरीकी हार्दिक इच्छा थी कि मैं संसारमें सर्वोत्तम ख्याति लाभ करूँ, भारतवर्षमें मैं ही सर्वश्रेष्ठ कवि और पण्डित समझा जाऊँ। इसीके लिये उन्होंने देश-विदेशोंमें घूमकर इतनी इज्जत-प्रतिष्ठा और धूम-धामकी सामग्री एकत्रित की थी, आज एक छोटी उम्रके युवक अध्यापकने उनकी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा धूलमें मिला दी। उनकी इतनी ऊँची आशापर एकदम पानी फिर गया। उनकी इतनी ज़बरदस्त ख्याति अग्निमें जलकर खाक हो गयी, इससे उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। गङ्गाजीसे लौटकर वे चुपचाप आकर पलँगपर पड़ रहे। साथियोंने भोजनके लिये बहुत आग्रह किया किन्तु तबीअत खराब होनेका बहाना बताकर उन्होंने उन लोगोंसे अपना पीछा छुड़ाया। वे बार-बार सोचते थे—'आज मुझे हो क्या गया? बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् मेरे सामने बोल नहीं सकते थे, अच्छे-अच्छे शास्त्री और आचार्य मेरे प्रश्नोंका उत्तर देना तो अलग रहा, यथावत् प्रश्नको समझ भी नहीं सकते थे, पर आज गङ्गा-किनारे उस युवक अध्यापकके सामने मेरी एक भी न चली। मेरी बुद्धिपर पत्थर पड़ गये, उसकी एक बातका भी मुझसे उत्तर देते नहीं बना। मेरी समझमें नहीं आता यह बात क्या है?' उन्हें बार-बार सरस्वतीदेवीके ऊपर क्रोध आने लगा। वे सोचने लगे—'मैंने कितने परिश्रमसे सरस्वती-मन्त्रका जाप किया था, सरस्वतीने भी प्रत्यक्ष प्रकट होकर मुझे वरदान दिया था, कि मैं शास्त्रार्थमें सदा तुम्हारी जिह्वापर निवास किया करूँगी, आज उसने अपना वचन झूठा कैसे कर दिया, आज वह मेरी जिह्वापरसे कहाँ चली गयी?'

इसी उधेड़-बुनमें वे उसी देवीके मन्त्रका जप करने लगे और जप करते करते ही सो गये।

स्वप्नमें मानो सरस्वतीदेवी उनके समीप आयी हैं और कह रही हैं—'सदा एक-सी दशा किसीकी नहीं रही है। जो सदा सबको विजय ही करता रहा है, उसे एक दिन पराजित भी होना पड़ेगा। तुम्हारा यह पराभव तुम्हारे कल्याणके ही निमित्त हुआ है। इसे तुम्हें इस दिग्विजयका और मेरे दर्शनोंका फल ही समझना चाहिये। यदि आज तुम्हारी पराजय न होती तो तुम्हारा अभिमान और भी अधिक बढ़ता। अभिमान ही नाशका मुख्य हेतु है। तुम निमाई पण्डितको साधारण पण्डित ही न समझो। वे साक्षात् नारायणस्वरूप हैं, वे नररूपधारी श्रीहरि ही हैं, उन्हींकी शरणमें जाओ, तभी तुम्हारा कल्याण होगा और तुम इस मोहरूपी अज्ञानसे मुक्त हो सकोगे।' इतनेमें ही दिग्विजयीकी आँखें खुल गयीं। देखते क्या हैं भगवान् भुवनभास्कर प्राचीदिशिमें उदित होकर अपनी जगन्मोहिनी हँसीके द्वारा सम्पूर्ण संसारको आलोक प्रदान कर रहे हैं। पण्डित केशव काश्मीरीको प्रतीत हुआ मानो मरीचिमाली भगवान् मेरे पराभवके ही ऊपर हँस रहे हैं। वे जल्दीसे कुर्ता पहिनकर नंगे सिर और नंगे पैरों अकेले ही निमाईके घरकी ओर चले। रास्तेमें जो भी इन्हें इस वेशमें जाते देखता, वही आश्चर्य करने लगता। राजा-महाराजाओंकी भाँति जो हाथीपर सवार होकर निकलते थे, जिनके हाथीके आगे-आगे चोबदार नगाड़े बजा-बजाकर आवाज देते जाते थे, वे ही दिग्विजयी पण्डित आज नंगे पैरों साधारण आदमियोंकी भाँति नगरकी ओर कहाँ जा रहे हैं? इस प्रकार सभी उन्हें कुतूहलकी दृष्टिसे देखने लगे। कोई-कोई तो उनके पीछे भी हो लिये। नगरमें जाकर उन्होंने बच्चोंसे निमाई पण्डितके घरका पता पूछा। झुंड-के-झुंड लड़के उनके

साथ हो लिये और उन्होंने निमाई पण्डितका घर बता दिया।

उस समय गौर गङ्गा-स्नान करके तुलसीमें जल दे रहे थे। सहसा दिग्विजयी पण्डितको सादे वेशमें अकेले ही अपने घरकी ओर आते देख उन्होंने दौड़कर उनका स्वागत किया। दिग्विजयी आते ही प्रभुके चरणोंमें गिर गये। प्रभुने जल्दीसे उन्हें उठाकर छातीसे लगाते हुए कहा—'हैं हैं, महाराज! यह आप कर क्या रहे हैं! मैं तो आपके पुत्रके समान हूँ। आप जगत्-पूज्य हैं, आप ऐसा करके मुझपर पाप क्यों चढ़ा रहे हैं? आप मुझे आशीर्वाद दीजिये, आप ही मेरे पूजनीय और परम माननीय हैं।'

गद्गद-कण्ठसे दिग्विजयीने कहा—'प्रभो! मान-प्रतिष्ठाकी भयंकर अग्निमें दग्ध हुए इस पापीको और अधिक सन्ताप न पहुँचाइये। इस प्रतिष्ठारूपी सूकरी-विष्ठाको खाते-खाते पतित हुए इस नारकीयको और अधिक पतित न बनाइये। अब मेरा उद्धार कीजिये।'

प्रभु उनका हाथ पकड़कर भीतर ले गये और बड़े सत्कारसे उन्हें बिठाकर कहने लगे—'आपने यह क्या किया, पैदल ही यहाँतक कष्ट किया, मुझे आज्ञा भेज देते, तो मैं स्वयं ही आपके डेरेपर उपस्थित होता। मालूम होता है आप मुझे सम्मान प्रदान करने और मेरी टूटी-फूटी कुटिया-को पवित्र करनेके ही निमित्त यहाँ पधारे हैं। इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। आज यह घर पवित्र हुआ। मेरी विद्या सफल हुई जो आप-ऐसे महापुरुषोंके चरण यहाँ पधारे।'

दिग्विजयी पण्डित नीचे सिर किये चुपचाप प्रभुकी बातें सुन रहे थे। वे कुछ भी नहीं बोलते थे। इसलिये प्रभुने धीरे-धीरे फिर कहना प्रारम्भ किया—'कल मुझे पीछेसे बड़ी लज्जा आयी। मैंने व्यर्थमें ही कुछ कहकर आपके सामने धृष्टता की। आप कुछ और न समझें। आपने सुना ही होगा, मेरा स्वभाव बड़ा ही चञ्चल है। जब मैं कुछ कहने लगता हूँ, तो आगे-पीछेकी सब बातें भूल जाता हूँ। बस, फिर बकने ही लगता हूँ!

छोटे-बड़ेका ध्यान ही नहीं रहता। इसी कारण कल कुछ अनुचित बातें मेरे मुखसे निकल गयी हों तो उनके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।'

दिग्विजयीने अधीर होकर कहा—'प्रभो! अब मुझे अधिक वञ्चित न कीजिये। मुझे सरस्वतीदेवीने रात्रिमें सब बातें बता दी हैं, अब मेरे उद्धारका उपाय बताइये!'

प्रभुने कहा—आप कैसी बातें कह रहे हैं? आप शास्त्रोंके मर्मको भलीभाँति जानते हैं, फिर भी मुझे सम्मान देनेकी दृष्टिसे आप पूछते ही हैं, तो मैं निवेदन करता हूँ। असलमें मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य तो उसीको समझना चाहिये जिसके द्वारा प्रभुके पादपद्मोंमें प्रगाढ़ प्रीति उत्पन्न हो। यह जो आप हाथी-घोड़ोंको साथ लिये घूम रहे हैं, यह भी ठीक ही है, किन्तु इनसे संसारी भोगोंकी ही प्राप्ति हो सकती है। भगवत्-प्राप्तिमें ये बातें कारण नहीं बन सकतीं। आप तो सब जानते ही हैं—

> वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
> विदुषामिह वैदुष्यं भुक्तये न तु मुक्तये॥
>
> (श्रीशंकराचार्य)

अर्थात् सुन्दर सुललित सौष्ठवयुक्त धाराप्रवाह वाणी और बढ़िया व्याख्यान देनेकी युक्ति ये सब मनुष्यको संसारी भोगोंकी ही प्राप्ति करा सकती हैं। इनके द्वारा मुक्ति अर्थात् प्रभुके पाद-पद्मोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

संसारी प्रतिष्ठाका महत्त्व ही क्या है? जो चीज आज है और कल नहीं है, उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। महाराज भर्तृहरिने इस बातको भलीभाँति समझा था। वे स्वयं राजा थे, सब प्रकारके मान-सम्मान और संसारी भोग-पदार्थ उन्हें प्राप्त थे। उनकी राजसभामें बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् दूर-दूरसे नित्यप्रति आया ही करते थे। इसलिये उन्हें इन

सब बातोंका खूब अनुभव था, वे सब जानते थे, कि इतने भारी-भारी विद्वान् इज्जत-प्रतिष्ठा और अनित्य तथा दुःखका मुख्य हेतु बतानेवाले धनके लिये किस प्रकार कुत्तेकी तरह पूँछ हिलाते रहते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे उन्हें परम वैराग्य हुआ। और उन्होंने अपने परम अनुभवकी बात इस एक ही श्लोकमें बता दी है—

> किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
> स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
> मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
> स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥
>
> (श्रीभर्तृहरि वै० श० ८१)

इन श्रुति, स्मृति, पुराण और बड़े विस्तारके साथ शास्त्रोंके ही पठन-पाठनमें जिन्दगीको लगामे रहनेसे क्या होता है। बस, इनसे स्वर्गरूपी ग्राममें एक कुटी बनाकर भोगोंको भोगनेका ही अवसर मिल जाता है। इस कर्मकाण्डके क्रिया-कलापोंमें काल्यापन करनेसे क्या लाभ! जो इस दुःखरचनासे युक्त संसार-बन्धनको विध्वंस करनेमें प्रलयाग्निके समान तेजोमय हैं ऐसे प्रभुके पाद-पद्मोंको नैरन्तर्य भावसे सेवन करते रहनेके अतिरिक्त ये सभी कार्य वैश्योंके-से व्यापार हैं। एक चीजको देकर उसके बदलेमें दूसरी चीज लेना है। असली वस्तु तो प्रभुकी प्राप्ति ही है। उसीके लिये उद्योग करना चाहिये।

दिग्विजयीने कहा—'अब आप हमें हमारा कर्तव्य बता दीजिये। ऐसी हालतमें हमें क्या करना चाहिये। अब इस वणिक्-व्यापारसे तो एकदम घृणा हो गयी है।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—आप शास्त्रज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं। शास्त्रमें सभी विषय भरे पड़े हैं, आपसे कोई विषय छिपा थोड़े ही है, किन्तु हाँ, इसे मैं आपका परम सौभाग्य ही समझता हूँ, कि इतनी बड़ी भारी प्रतिष्ठासे आपको एकदम वैराग्य हो गया है, लोग पुत्रैषणा और वित्तैषणाको तो छोड़ भी सकते हैं, किन्तु लोकैषणा इतनी प्रबल होती है कि बड़े-बड़े महापुरुष भी इसे छोड़नेमें पूर्ण रीतिसे समर्थ नहीं होते। श्रीहरिभगवान्‌की आपके ऊपर यह परम असीम कृपा ही समझनी चाहिये कि आपको इसकी ओरसे भी वैराग्य हो गया। मैं तो परमसुखस्वरूप प्रभुकी प्राप्तिमें इसे ही मुख्य समझता हूँ। मैंने तो इस श्लोकको ही कर्तव्यताका मूलमन्त्र समझ रखा है—

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य ४। ८०)

धर्मका आचरण करो और विषयवासनारूपी जो लोकधर्म हैं उन्हें छोड़ दो। सत्पुरुषोंका निरन्तर संग करो और हृदयसे भोगोंकी इच्छाको निकालकर बाहर फेंक दो। दूसरोंके गुण-दोषोंका चिन्तन करना एकदम त्याग कर दो। श्रीहरिकी सेवा-कथारूपी जो रसायन है उसका निरन्तर पान करते रहो। बस, इसीको मैंने तो मनुष्यमात्रका कर्तव्य समझा है। इसके अतिरिक्त आपने जो समझा हो, उसे कृपा करके मुझे बताइये।

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यका यह श्लोक केशव पण्डितने अनेक बार

पढ़ा होगा, और उसका प्रयोग भी हजारों बार अपने व्याख्यानोंमें किया होगा, किन्तु वे इसका असली अर्थ तो आज ही समझे। उनके कानोंमें यह पद—

> अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा
> सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥

—बार-बार गूँजने लगा।

प्रभुकी आज्ञा लेकर और उनके उपदेशको ग्रहण करके दिग्विजयी पण्डित अपने डेरेपर आये। उनके पास जितने हाथी, घोड़े तथा अन्य साज-बाजके सामान थे, वे सभी उन्होंने उसी समय लोगोंको बाँट दिये और अपने सभी साथियोंको विदा करके वे भगवत्-चिन्तनके निमित्त कहीं चले गये। इनका फिर पीछे किसीको पता नहीं चला।

दिग्विजयीके पराभवसे सभी लोग निमाई पण्डितकी बड़ी प्रशंसा करने लगे और सभी पण्डितोंने मिलकर उन्हें 'वादिसिंह' की उपाधि प्रदान करना चाहा। इस प्रकार निमाई पण्डितकी ख्याति और भी अधिक फैल गयी और उनकी पाठशालामें अब पहिलेसे बहुत अधिक छात्र पढ़नेके लिये आने लगे।

सर्वप्रिय निमाई

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥*

(गीता १२ । १५)

न तो बाह्य सौन्दर्य ही सौन्दर्य है और न बाह्य पवित्रता ही असली पवित्रता है। जिसका हृदय शुद्ध है, उसमें तनिक भी विकार नहीं है तो वह बदसूरत होनेपर भी सुन्दर प्रतीत होता है, लोग उसके आन्तरिक सौन्दर्यके कारण उसपर मुग्ध हो जाते हैं और उसके इशारेपर नाचने लगते हैं। भीतरकी पवित्रता ही चेहरेपर झलकने लगती है। उस पवित्रतामें मोहकता है, इसीसे लोग उनके वशमें हो जाते हैं। यदि हृदय भी स्वच्छ शीशेकी भाँति निर्मल हो और देहकी कान्ति भी कमनीय और मनोहर हो तब तो उस देवतुल्य मनुष्यकी मोहकताका कहना ही क्या है।

---

* जिसे देखकर लोगोंके मनमें किसी प्रकारका भय या डर नहीं होता और जो दूसरोंसे भी किसी प्रकारकी शङ्का नहीं करता, उनके सामने निर्भीकताके साथ बर्ताव करता है। जिसके लिये प्रसन्नता और अप्रसन्नता दोनों ही समान हैं, वह संसारी मनुष्य कभी हो ही नहीं सकता। वह तो भगवान्‌का अत्यन्त ही प्रिय नित्य शुद्ध मुक्तस्वरूप है।

फिर तो मानेमें सुगन्ध ही है । ऐसा कौन सहृदय पुरुष होगा, जो ऐसे पुरुषके गुणोंका प्रशंसक नहीं बन जाता । यदि ऐसा पुरुष प्रसन्न-चित्त और चुलबुले स्वभावका भी हो, तब तो सभी लोग उससे आत्मीयकी भाँति स्नेह करने लगते हैं और उससे किसी भी मनुष्यको संकोच अथवा उद्वेग नहीं होता । बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक उससे खिलवाड़ करने लगते हैं।

निमाई पण्डितमें उपर्युक्त सभी गुन विद्यमान थे । उनका हृदय अत्यन्त ही कोमल और बड़ा ही विशाल था, उसमें मनुष्यमात्रके ही लिये नहीं प्राणीमात्रके प्रति प्रेम और ममताके भाव भरे हुए थे, उनका शरीर सुगठित, सुन्दर और शोभायुक्त था । ये इतने अधिक सुन्दर थे, कि मनुष्य उनके सौन्दर्यको ही देखकर मोहित हो जाते थे । चेहरेपर कभी सिकुड़न ही नहीं पड़ती थी । हर समय हँसते ही रहते और साथियोंको भी अपनी विनोदपूर्ण बातोंसे सदा हँसाते रहते थे । स्वभावमें इतना चुलबुलापन था, कि छोटे-छोटे बच्चोंके स्वभावको भी मात कर देते थे । इन्हीं सब कारणोंसे नगरके सभी लोग इनसे आन्तरिक स्नेह रखते थे, जो भी इन्हें देख लेता वही प्रसन्नतासे खिल उठता । सभी जानते थे, निमाई अब बालक नहीं हैं, वे नवद्वीपके एक नामी पण्डित हैं, इन्होंने शास्त्रार्थमें दिग्विजयी पण्डितको परास्त किया है, ये अपनी लोकोत्तर प्रतिभाके कारण बङ्गालके कोने-कोनेमें प्रसिद्ध हो गये हैं । सैकड़ों छात्र इनके पास विद्याध्ययन करने आते हैं, फिर भी वे इन्हें अपना एक साथी तथा प्रेमी ही समझते थे । उन लोगोंको यह खयाल कभी नहीं होता था, कि ये बड़े आदमी हैं, इनके साथ सम्मान और शिष्टाचारका व्यवहार करना चाहिये । वे यदि शिष्टाचार या सम्मान करना भी चाहें तो निमाई पण्डित उन्हें ऐसा करनेका अवकाश ही कब देनेवाले थे । ये उन सबसे बिना बात ही छेड़खानी करते । बड़े-बड़े लोगोंसे परिहास करनेमें नहीं चूकते थे । इनके सभी कार्य विचित्र होते और उनसे सभीको प्रसन्नता होती ।

ये नवद्वीपके प्रत्येक मुहल्लेमें घूमते। कभी इस मुहल्लेसे उस मुहल्लेमें जा रहे हैं, और उस मुहल्लेसे इसमें। रास्तेमें जो भी मिल जाता है उसीसे कुछ-न-कुछ छेड़खानी करते हैं। बड़े लोग कहते हैं—'पण्डित! अब थोड़ी गम्भीरता भी सीखनी चाहिये, हर समय लड़कपन ठीक नहीं होता। अब तुम एक गण्यमान्य पण्डित हो गये हो।'

ये झूठा आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए कहते 'हाँ, सचमुच अब हमारी गणना पण्डितोंमें होने लगी है, हमें तो पता भी नहीं। यदि ऐसी बात है तो हम कहीं जाकर किसीसे गम्भीरता जरूर सीखेंगे।' कहनेवाले बेचारे अपना-सा मुँह लेकर चले जाते। ये विद्यार्थियोंके साथ हँसते-खेलते फिर उसी भाँति चले जाते।

इनका नगर-भ्रमण बड़ा ही मनोहर होता। देखनेवाले इन्हें एकटक देखते-के-देखते ही रह जाते। तपाये हुए सुवर्णके समान सुन्दर शरीर था, उसपर एक हल्की-सी बनियायिन रहती। चौड़ी काली किनारीकी नीचेतक लटकती हुई सफेद धोतीके ऊपर एक हल्के-से पीले रंगकी चादर ओढ़े रहते। मुखमें पानकी बीरी है, बाँये हाथमें पुस्तक है, दाहिनेमें एक हल्की-सी छड़ी है। साथमें दस-पाँच विद्यार्थी हैं, उनसे बातें करते हुए चले जा रहे हैं, बीच-बीचमें कभी इधर-उधर भी देखते जाते हैं। किसी कपड़ेवाले-की दूकानको देखकर उसपर जा बैठते हैं। कपड़ेवाला पूछता है—'कहिये महाराज! क्या चाहिये।' आप हँसते हुए कहते हैं—'जो यजमानकी इच्छा, जो दे दोगे वही ले लेंगे।' दूकानदार हँसी समझता और चुप हो जाता। कोई-कोई दूकानदार जबरदस्ती इनके सिर कपड़ा मँढ़ देता। आप उससे कहते—'लेनेको तो हम लिये जाते हैं, किन्तु पासमें पैसा नहीं है। उधार किसीसे न कभी चीज ली है न लेते हैं। दामोंकी आशा न रखना।' दूकानदार हाथ जोड़कर श्रद्धाके साथ कहते—'हमारा अहोभाग्य

आप पहिनेंगे, तो हमारा यह व्यवसाय भी सफल हो जायगा। यह कपड़ा और लेते जाइये। इसके किसी गरीब छात्रके वस्त्र बनवा दीजियेगा।' ये प्रसन्नतापूर्वक उन वस्त्रोंको ले आते। कोई-कोई दूकानदार इनसे कटाक्ष भी करता—'पैसा पास नहीं है, कपड़े खरीदने चले हैं।' आप हँसते हुए कहते—'पैसा ही पास होता तो फिर तुम्हारी ही दूकान कपड़ा खरीदनेको रही थी ! फिर तो जी चाहता वहींसे खरीद लाते।'

कभी किसी गरीब वस्त्र बनानेवालेके यहाँ जाते। उसका थान देखते, उससे दाम पूछते और कहते 'दाम तो हमारे पास है नहीं, बोलो, वैसे ही दोगे'—वह श्रद्धाके साथ कहता, 'हाँ, ले जाइये महाराज ! आपका ही तो है।' ये हँसते हुए चले आते।

इनके नाना नीलाम्बर चक्रवर्तीके पास बहुत-से अहीरोंके घर थे। वे दूध बेचनेका व्यवसाय करते। आप उनके घरोंमें चले जाते और जिस अहीरको भी पाते उसीसे कहते—'मामा ! आज दूध नहीं पिलाओगे क्या ?' वे इन्हें बड़े सत्कारसे अपने घरोंको ले जाते। सभी मिलकर विद्यार्थियोंके सहित इनका खूब सत्कार करते। कोई ताज़ा दूध पिलाता। कोई दही लाकर इनके सामने रख देता और थोड़ा खा लेनेका आग्रह करता। ये निस्संकोच भावसे खाने लगते। किसी स्त्रीको देखकर कहते 'मामी ! तेरा दही तो खट्टा है, थोड़ी चीनी डाल देती तो स्वाद बन जाता।' यह सुनकर कोई चीनी लेने दौड़ती। चीनी घरमें न होती तो गुड़ ही ले आती। ये हँसते-हँसते गुड़के साथ दही पीने लगते। विद्यार्थियोंको भी दूध-दही पिलाते और फिर हँसते-हँसते पाठशालाकी ओर चले आते।

विशेषकर ये सीधे-सादे वैष्णवोंको और सरल स्वभाववाले दूकानदारों-को खूब छेड़ते। दूकानदारोंको भी इनके साथ छेड़खानी करनेमें आनन्द आता। एक पानवालेसे इनका सदा झगड़ा ही बना रहता। ये उससे

मुफ्त ही पान माँगा करते और वह मुफ्त देनेसे इनकार किया करता। तब ये अपने हाथसे ही उठा लेते। पानवाला हँस पड़ता, ये तबतक पानको चट कर जाते। पानवालेको ऐसा करनेमें नित्य नया ही आनन्द प्रतीत होता था, अतः यह झगड़ा प्रायः रोज ही हुआ करता। कभी तो दिनमें दो-दो, तीन-तीन बार हो जाता। पानवाला बड़ा ही सरल और कोमल प्रकृतिका पुरुष था। वह इन्हें पुत्रकी तरह मन-ही-मन चाहता था।

वहाँ श्रीधर नामके एक भक्त दूकानदार थे। वे अत्यन्त ही गरीब थे, किन्तु थे परम वैष्णव। उनके पास रहनेवाले उनके कारण बहुत ही परेशान रहते। वे रातभर खूब जोरोंके साथ भगवन्नामका कीर्तन करते रहते। पड़ोसियोंकी रातमें जब भी आँखें खुलतीं तभी इन्हें भगवन्नामका कीर्तन करते ही पाते। कोई कहता—'भाई, इस बूढ़ेके कारण तो हम बड़े परेशान हैं, रातभर चिल्लाता रहता है, सोने ही नहीं देता?' कोई कहता—'भगवान् जाने इसे नींद क्यों नहीं आती। दिनभर तो दूकानदारी करता है और रातभर चिल्लाता रहता है, यह सोता किस समय है?'

कोई-कोई इनके पास आकर कहते—'बाबा! भगवान् बहिरा थोड़े ही है, जरा धीरे-धीरे भजन किया करो।'

ये कहते—'बेटा! धीरे-धीरे कैसे करूँ, तुम सब लोग तो दिन-रात काममें ही जुटे रहते हो, कभी भगवान्का घड़ीभरको भी नाम नहीं लेते। इसलिये जिह्वासे नहीं ले सकते तो कानसे तो सुनोगे ही, इसीलिये मैं जोर-जोरसे भगवन्नामका उच्चारण करता हूँ जिससे तुम सबोंके कानोंमें भगवन्नाम पड़ जाय।'

इस प्रकार ये किसीकी भी बात नहीं सुनते और हमेशा भगवान्के मधुर नामोंका उच्चारण करते रहते। ये केलेके पत्ते और केलेके भीतरके कोमल-कोमल कोपलोंको बेचा करते। बंगालमें कोमल कोपलोंका साग

चनाया जाता है। निमाई इनसे रोज ही आकर छेड़खानी किया करते।

इनके खोलको उठा लेते और कहते—'पैसेके कितने खोल दोगे?' वे कहते—'चार देंगे।' तब आप कहते—'अजी, आठ दो। सब जगह आठ-आठ तो बिक ही रहे हैं।' श्रीधर कहते—'पण्डित! यह रोज-रोजकी छेड़खानी अच्छी नहीं होती। जहाँ आठ बिक रहे हों, वहींसे जाकर ले आओ। हमने तो चार ही बेचे हैं, चार ही देंगे। तुम्हारी राजी पड़े ले जाओ, न राजी हो मत ले जाओ, झगड़ा करनेसे क्या फायदा?'

आप कहते—'हमें तो तुम्हारे ही खोल बहुत प्रिय लगते हैं, तुम्हींसे लेंगे और आठ ही लेंगे।'

श्रीधर कहते—'देखो, तुम अब सयाने हुए। ये बातें अच्छी नहीं होतीं। तुम्हें आठ दे देंगे तो फिर सभी आठ ही माँगेंगे। यदि ऐसी ही बात है, तो हम तुम्हें बिना ही मूल्य खोल दिया करेंगे।'

निमाई हँसते हुए कहते—'वाह! फिर कहना ही क्या है?' 'नेकी और पूछ-पूछकर' 'मीठा और भर कठौता' बस, यही तो हमें चाहिये।' फिर कहते—'हमारी पूजा नहीं करते, माला हमें भी दिया करो।'

श्रीधर कहते—'माला तो मैं देवताके ही लिये लाता हूँ, गङ्गाजीके लिये पुष्प लाता हूँ, तुम्हें पुष्प-माला कैसे दूँ?'

आप कहते—'सबसे बड़े देवता तो हमी हैं, हमसे बढ़कर देवता और कौन हो सकता है? गङ्गाजी तो हमारे चरणोंका धोवन हैं।'

यह सुनकर श्रीधर कानोंपर हाथ रख लेते और दाँतोंसे जीभ काटते हुए कहते—'हाय पण्डित! पढ़े-लिखे होकर ऐसी बातें कहते हो! ऐसी बातके कहनेसे पाप होता है। तुम ब्राह्मणके कुमार होकर ऐसी पापकी बातें अपने मुँहसे निकालते हो!'

कालान्तरमें यही श्रीधर महाप्रभु गौराङ्गके अनन्य भक्त हुए और इन्होंने अन्तमें उन्हें ईश्वर करके माना और अपने इन वाक्योंके लिये बहुत ही पश्चात्ताप प्रकट किया। प्रभु इनसे अत्यन्त ही स्नेह रखते थे। गौर-भक्तोंमें श्रीधरका खोल बहुत ही प्रसिद्ध था। गौरको श्रीधरके खोलके बिना सभी व्यञ्जन रुचिकर ही नहीं होते थे।

एक दिन ये घरकी ओर जा रहे थे, रास्तेमें पण्डित श्रीवासजी मिले। श्रीवास पण्डित अद्वैताचार्यके साथी और स्नेही थे। पण्डित जगन्नाथ मिश्रके ये अभिन्न मित्र थे, इनकी पत्नी मालतीदेवी और ये निमाईको सगे पुत्रकी भाँति प्यार करते थे। ये भी इन दोनोंमें माता-पिताके समान श्रद्धा रखते थे। श्रीवास पण्डितको देखकर इन्होंने उन्हें प्रणाम किया। पण्डितजीने इन्हें आशीर्वाद दिया और बड़े ही प्रेमके साथ बोले—'निमाई! देखो, अब तुम बालक नहीं हो, यह बाल-चापल्य तुम्हें शोभा नहीं देता। इस तरहसे उच्छृङ्खलताका जीवन बिताना ठीक नहीं। कुछ भक्तिभाव भी सीखना चाहिये। तुम्हारे पिता तो परम वैष्णव थे।'

इन्होंने सरलतासे कहा—'अभी थोड़े दिन और इसी तरह मौज कर लेने दो, फिर इकट्ठे ही वैष्णव बनेंगे और ऐसे वैष्णव बनेंगे, कि वैष्णवोंकी तो बात ही क्या है, साक्षात् विष्णु भी हमारे पास आया करेंगे।'

इनकी बात सुनकर उन्होंने कहा—'आगे और कब होंगे? अभीसे कुछ भक्तिभाव करना चाहिये। किसी देवी-देवतामें श्रद्धा रखते हो?'

इन्होंने कहा—'किस देवतामें श्रद्धा रखें, आप ही कृपा करके बताइये?'

श्रीवास पण्डितने कहा—'जिसमें तुम्हारी श्रद्धा हो। देवपूजा करनी चाहिये और भगवन्नामका यथाशक्ति जप करना चाहिये।

निमाई जानते थे, कि वैष्णव 'सोऽहम्' और अहं 'ब्रह्मास्मि' इन वाक्योंसे चिढ़ते हैं। इसलिये श्रीवास पण्डितको चिढ़ानेके लिये कहने लगे—

'सोऽहम्' 'अहं ब्रह्मास्मि' हमारी तो इन्हीं महावाक्योंपर श्रद्धा है। जब हम ही ब्रह्म हैं तब पूजा किसकी करें और जप किसके नामका करें, आप ही बताइये !

यह सुनकर श्रीवास पण्डितने कानोंपर हाथ रख लिया और बोले—'वैष्णवके पुत्रको ऐसी बात मुखसे नहीं कहनी चाहिये। तुम तो लड़कपन किया करते हो।

इतना सुनकर ये यह कहते हुए घरकी ओर चले गये कि 'अच्छा, किसी दिन देख लेना, हम कैसे वैष्णव बनते हैं, तब तुम हमारे पीछे-ही-पीछे लगे डोलोगे।'

इन्होंने ये बातें हँसीमें कही थीं, किन्तु श्रीवास पण्डितको इन बातोंसे कुछ आशा-सी हुई। वे सोचने लगे—'यदि निमाई-जैसे पण्डित, मेधावी और सर्वप्रिय पुरुष वैष्णव बन जायँ तो वैष्णवधर्मका देशभरमें झंडा फहराने लगे। अनाथ वैष्णव भक्त सनाथ हो जायँ।' वे यही सोचते-विचारते गङ्गाजीकी ओर चले गये। कालान्तरमें श्रीवास पण्डितके विचार सत्य ही हो गये। वैष्णव-धर्मकी विजय-दुन्दुभिसे सम्पूर्ण देश गूँजने लग गया और भक्ति-भागीरथीकी एक ऐसी भारी बाढ़ आयी जिसके कारण सभी विषमता दूर होकर चारों ओर समताका साम्राज्य स्थापित हो गया।

श्रीविष्णुप्रिया-परिणय

रूपसम्पन्नमप्रागल्भ्यं प्रेमप्रायं प्रियंवदम्।
कुलीनमनुकूलं च कलत्रं कुत्र लभ्यते ॥*
(सु० र० भां० ३३६। ५)

बहूके बिना घर सूना-ही-सूना लगता है, इसका अनुभव वही माता कर सकती है, जिसके घरमें एक ही पुत्र हो और उसकी सर्वगुणसम्पन्ना

---

* रूप और सद्गुणोंसे सम्पन्न, सभ्या अथवा सद्व्यवहारमें सुचतुर, अत्यन्त प्रेमयुक्त, सुन्दर वचन बोलनेवाली, अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई तथा पतिके मनोऽनुकूल आचरण करनेवाली पत्नी बड़े भाग्यसे ही मिलती है।

पुत्र-वधू परलोकगामिनी हो चुकी हो, उसे चारों ओरसे अपना ही घर उजड़ा हुआ-सा दिखायी पड़ता है, घरकी लिपी-पुती स्वच्छ दीवालें उसे काटनेको दौड़ती हैं। एकलौते पुत्रको देखते ही माताकी छाती फटने लगती है और जब-जब पुत्रको स्वयं अपने हाथोंसे कुछ काम करते देखती है, तभी तब अश्रुओंसे अपनी छातीको भिगोती है। पुत्र-वधूसे रहित युवक पुत्रको देखकर माताको महान् कष्ट होता है। शचीमाताकी भी ऐसी ही दशा थी, जबसे लक्ष्मीदेवी परलोकगामिनी हुई हैं, तभीसे माताका चित्त उदास रहता है। वे निमाईको देखते ही रोने लगती हैं। निमाई मन-ही-मन सब समझते हैं, किन्तु कुछ कहते नहीं हैं, चुप ही रहते हैं, कहें भी तो क्या कहें ?

माताको सदा यही चिन्ता रहती है, कि निमाईके योग्य कोई सुन्दरी और गुणवती कुलीन कन्या मिल जाय तो मैं जल्दी-से-जल्दी उसका दूसरा विवाह करके अपने घरको पहिलेकी भाँति हरा-भरा, आनन्द-उल्लासयुक्त देख सकूँ। वे गङ्गा-किनारे जब-जब जातीं तभी-तब वहाँ स्नान करनेके निमित्त आयी हुई अपनी सजातीय सयानी कन्याओंके ऊपर एक हलकी-सी दृष्टि डालतीं और फिर निगाह नीची कर लेतीं। इस प्रकार वे रोज ही अपनी नवीन पुत्र-वधूकी उन कन्याओंमें खोज किया करतीं।

उन्हीं कन्याओंके बीचमें वे एक परम सुन्दरी और सुशीला कन्याको भी देखतीं। वह कन्या प्रायः शचीदेवीको रोज ही मिलती। सुबह, शाम, दोपहरको जब भी शचीमाता स्नानके निमित्त आतीं तभी उस कन्याको घाटपर देखतीं, कभी तो वह स्नान करती होती, कभी देव-पूजन और कभी-कभी स्नान करके घरको जाती हुई शचीदेवीको मिलती। वह कन्या शचीमाताको जब भी देखती तभी वह बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम करती। शचीदेवी भी प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद देतीं—"भगवान्‌की कृपासे

मेरी बेटीको योग्य पति प्राप्त हो ।' कन्या इस आशीर्वादको सुनती और लज्जितभावसे नीची निगाह करके चली जाती ।

एक दिन शचीमाताने उस कन्याको बुलाकर पूछा—'बेटी ! तेरा क्या नाम है ?'

लजाते हुए नीचेकी ओर दृष्टि करते हुए धीरेसे कन्याने कहा—'विष्णुप्रिया ।'

माताने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'अहा, 'विष्णुप्रिया' कैसा सुन्दर नाम है ! जैसा सुन्दर शील-स्वभाव है उसीके अनुरूप सुन्दर नाम भी है ।' फिर पूछा—'बेटी ! तेरे पिताका क्या नाम है ?'

विष्णुप्रिया यह सुनकर चुपचाप ही खड़ी रहीं । उन्होंने इस प्रश्नका कुछ भी उत्तर नहीं दिया । तब शचीमाताने पुचकारते हुए कहा—'बता दे बेटी ! बतानेमें क्या हर्ज है, क्या नाम है तेरे पिताका ?'

लजाते हुए और शरीरको कुछ टेढ़ा करते हुए धीरेसे विष्णुप्रियाने कहा—'राजपण्डित !'

माताने जल्दीसे कहा—'पं० सनातन मिश्रकी लड़की है तू ? तब बताती क्यों नहीं है ? राजपण्डितकी पुत्री भी राजपुत्री होती है, तभी नहीं बताती थी, क्यों यही बात है न ?'

विष्णुप्रिया लजाती हुई चुपचाप खड़ी रही । माताने उससे और भी दो-चार बातें पूछकर उसे विदा किया । विष्णुप्रियाका शील स्वभाव और सौन्दर्य शचीमाताकी दृष्टिमें गड़-सा गया था । वे बार-बार यही सोचने लगीं—'क्या ही अच्छा हो यदि यह लड़की मेरी पुत्र-वधू बन जाय ?' वे रोज घाटपर विष्णुप्रियाको देखतीं और उससे दो-चार बातें जरूर करतीं । विष्णुप्रियाका अद्भुत रूप-लावण्य, उनकी अत्यन्त कोमल

प्रकृति, प्रशंसनीय शील-स्वभाव और अनुपम विष्णुभक्तिकी वे मन-ही-मन बार-बार सराहना करतीं। इसलिये वे उनके प्रति अधिकाधिक प्रेम प्रदर्शित करने लगीं। विष्णुप्रियाके मनमें भी इनके प्रति भक्ति बढ़ने लगी।

शचीमाता बार-बार सोचतीं—'क्या हर्ज है, एक बार सनातन मिश्रसे पुछवाऊँ तो सही, बहुत करेंगे वे अस्वीकार ही कर देंगे।' फिर सोचतीं—'वे राजपण्डित हैं, धनाढ्य हैं, सब जगह उनकी भारी प्रतिष्ठा है, वे एक विधवाके पुत्रके साथ अपनी पुत्रीका सम्बन्ध क्यों करने लगे?' यही सोचकर कुछ डर-सी जातीं और उनका साहस नहीं होता।

एक दिन उन्होंने साहस करके काशीनाथ मिश्र नामके घटकको बुलाया और उनसे बोलीं—'मिश्रजी! तुमने सनातन मिश्रकी लड़की देखी है?'

घटकने कहा—'लड़की मैंने देखी है, बड़ी ही सुन्दर, सुशील तथा गुणवती है। निमाईके वह सर्वथा योग्य है। मैं समझता हूँ तुम उस लड़कीको अपनी पुत्र-वधू बनाकर जरूर प्रसन्न होगी।'

माताने कहा—'यह तो तुम ठीक कहते हो, किन्तु वे धनाढ्य हैं, राजपण्डित हैं। बहुत सम्भव है वे इस सम्बन्धको न स्वीकार करें। हमारी तो तुम दशा देखते ही हो, वैसे लड़कीको अन्न-वस्त्रका तो घाटा न होगा।'

घटकने जोर देकर कहा—'माताजी! तुम कैसी बात करती हो! भला, निमाई-जैसे योग्य प्रतिष्ठित पण्डितको जमाई बनानेमें कौन अपना सौभाग्य न समझेगा! मैं समझता हूँ, वे इसे सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। मैं आज ही उनके यहाँ जाऊँगा और शामको ही तुम्हें उत्तर दे जाऊँगा।' यह कहकर काशीनाथ मिश्र माताको प्रणाम करके चले गये।

सनातन मिश्रके घरमें जब स्त्रियोंने यह बात सुनी तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। कोई कहने लगी—'लड़कीका भाग्य खुल गया।' कोई-कोई विष्णुप्रियाके ही सामने कहने लगी—'इतने दिनका इसका गङ्गा-स्नान और विष्णु-पूजा आज सफल हुई, साक्षात् विष्णुके ही समान इसे वर मिल गया।' ये सब बातें सुनकर विष्णुप्रिया लजाती हुई उठकर दूसरी ओर चली गयीं। स्त्रियाँ और भी भाँति-भाँतिकी बातें करने लगीं।

राजपण्डित सनातन मिश्रकी स्वीकृति लेकर घटक महाशय सीधे शचीमाताके समीप पहुँचे और उन्हें यह शुभ संवाद सुना दिया। सुनकर शचीमाताको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसी समय विवाहकी तिथि आदि भी निश्चय करा दी।

सनातन मिश्रके यहाँ तिथि आदिकी सभी बातें पक्की करके काशीनाथ घटक आ ही रहे थे, कि रास्तेमें अकस्मात् उनकी निमाई पण्डितसे भेंट हो गयी। निमाईने उन्हें आलिङ्गन करते हुए कहा—'किधरसे आ रहे हैं? आप तो सदा घटाया ही करते हैं। कहिये किसे घटाकर आये हैं?'

हँसते हुए घटकने कहा—'घटाकर तो नहीं आये हैं बढ़ानेकी ही फिक्र है, तुम्हें एकसे दो करना चाहते हैं। बताओ, क्या सलाह है?'

कुछ आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए निमाई पण्डितने कहा—'मैं आपकी बातका मतलब नहीं समझा। कैसा बढ़ाना, स्पष्ट बताइये?'

जरा आवाजको बढ़ाते हुए जोर देकर घटकने कहा—'राजपण्डित सनातन मिश्रकी पुत्रीके साथ तुम्हारे परिणयकी बातें पक्की करके आ रहा हूँ। बताओ तुम्हें मंजूर है न?'

इधर पण्डित सनातन मिश्र भी बहुत दिनोंसे चाह रहे थे, कि विष्णुप्रियाका सम्बन्ध निमाई पण्डितके साथ हो जाता तो बहुत अच्छा होता। किन्तु वे भी मनमें कुछ संकोच करते थे कि निमाई आजकल नामी पण्डित समझे जाते हैं। इस बीस बरसकी ही अल्प वयसमें उन्होंने इतनी भारी ख्याति प्राप्त कर ली है, बहुत सम्भव है वे इस सम्बन्धको स्वीकार न करें। यदि हमारी प्रार्थनापर भी उन्होंने इस सम्बन्धको स्वीकार न किया तो इसमें हमारा बहुत अपमान होगा। प्रायः धनी लोग अपने मानका बहुत ध्यान रखते हैं, इसी भयसे उन्होंने इच्छा रहनेपर भी आजतक यह बात किसीपर प्रकट नहीं की थी।

सनातन मिश्रके हृदयमें इसी प्रकारके विचार उठ ही रहे थे कि उसी बीच काशीनाथ घटक उनके समीप आ पहुँचे। घटकको देखकर उन्होंने इनका सम्मान किया, बैठनेको आसन दिया और आनेका कारण जानना चाहा। काशीनाथ घटकने आदिसे अन्ततक सब बातें कहकर अन्तमें कहा—'शचीमाताने मुझे बुलाकर स्वयं कहा है। इस बातको मैं अपनी ओरसे कहता हूँ कि आपको अपनी पुत्रीके लिये इससे अच्छा वर दूसरी जगह कठिनतासे मिलेगा।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए सनातन मिश्रने कहा—'निमाई पण्डित कोई अप्रसिद्ध मनुष्य तो हैं ही नहीं। देशभरमें उनका यशोगान हो रहा है। उन्हें जामाता बनानेमें मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। मेरी भी चिरकालसे यही इच्छा थी, किन्तु इसी संकोचसे आजतक किसीपर प्रकट नहीं की कि वे सम्भव है स्वीकार न करें।'

घटकने कहा—'इस बातकी आप तनिक भी चिन्ता न करें, शचीदेवी जो कह देंगी वही होगा, निमाई उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकते।'

सनातन मिश्रके घरमें जब स्त्रियोंने यह बात सुनी तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। कोई कहने लगी—'लड़कीका भाग्य खुल गया।' कोई-कोई विष्णुप्रियाके ही सामने कहने लगी—'इतने दिनका इसका गङ्गा-स्नान और विष्णु-पूजा आज सफल हुई, साक्षात् विष्णुके ही समान इसे वर मिल गया।' ये सब बातें सुनकर विष्णुप्रिया लजाती हुई उठकर दूसरी ओर चली गयीं। स्त्रियाँ और भी भाँति-भाँतिकी बातें करने लगीं।

राजपण्डित सनातन मिश्रकी स्वीकृति लेकर घटक महाशय सीधे शचीमाताके समीप पहुँचे और उन्हें यह शुभ संवाद सुना दिया। सुनकर शचीमाताको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसी समय विवाहकी तिथि आदि भी निश्चय करा दी।

सनातन मिश्रके यहाँ तिथि आदिकी सभी बातें पक्की करके काशीनाथ घटक आ ही रहे थे, कि रास्तेमें अकस्मात् उनकी निमाई पण्डितसे भेंट हो गयी। निमाईने उन्हें आलिङ्गन करते हुए कहा—'किधरसे आ रहे हैं? आप तो सदा घटाया ही करते हैं। कहिये किसे घटाकर आये हैं?'

हँसते हुए घटकने कहा—'घटाकर तो नहीं आये हैं बढ़ानेकी ही फिक्र है, तुम्हें एकसे दो करना चाहते हैं। बताओ, क्या सलाह है?'

कुछ आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए निमाई पण्डितने कहा—'मैं आपकी बातका मतलब नहीं समझा। कैसा बढ़ाना, स्पष्ट बताइये?'

जरा आवाजको बढ़ाते हुए जोर देकर घटकने कहा—'राजपण्डित सनातन मिश्रकी पुत्रीके साथ तुम्हारे परिणयकी बातें पक्की करके आ रहा हूँ। बताओ तुम्हें मंजूर है न?'

यह जोरसे हँसते हुए इन्होंने कहा—'हहाहा ! हमारा विवाह ? और राजपण्डितकी पुत्रीके साथ ! हमें तो कुछ भी पता नहीं।' यह कहते-कहते ये हँसते हुए घर चले गये।

घटकको इनकी सूखी हँसीमें कुछ सन्देह हुआ। सनातन मिश्रके यहाँ भी खबर पहुँच गयी। सुनते ही घरभरमें सुसी छा गयी। सनातन मिश्रने कहा—'जिस बातकी शंका थी, वही हुई। मैं पहिले ही जानता था, निमाई स्वतन्त्र प्रकृतिके पुरुष हैं, वे भला, इस प्रकार सम्बन्धको कब मंजूर करनेवाले थे! हुआ तो कुछ भी नहीं, उलटी मेरी सब लोगोंमें हँसी हुई। सबको पता चल गया है कि लड़कीका विवाह निमाई पण्डितके साथ होगा। यदि न हो सका तो मेरे लिये बड़ी लज्जाकी बात है।' यह सोचकर उन्होंने उसी समय काशीनाथ घटकको बुलाया और अपनी चिन्ताका कारण बताकर शीघ्र ही शचीमातासे इसके सम्बन्धमें निश्चित उत्तर ले आनेकी प्रार्थना की।

घटक महाशय उसी समय शचीमाताके समीप गये और राजपण्डितकी चिन्ताका सभी वृत्तान्त कह सुनाया। सब कुछ सुनकर शचीमाताने कहा—'निमाई मेरी बातको कभी टालता नहीं है, इसीलिये मैंने उससे इस सम्बन्धमें कुछ भी पूछ-ताँछ नहीं की। आज वह पाठशालासे आवेगा तो मैं उससे पूछ लूँगी। मेरा ऐसा विश्वास है, वह मेरी बातको टाल नहीं सकता। कल मैं तुम्हें इसका ठीक-ठीक उत्तर दूँगी।' माताका ऐसा उत्तर सुनकर घटक अपने घरको चले गये।

इधर जब शामको पाठशालासे पढ़ाकर निमाई घर आये तब माताने इधर-उधरकी दो-चार बातें करके बड़े प्रेमसे कहा—'निमाई बेटा ! मैं एक बात पूछना चाहती हूँ। क्या सनातन मिश्रवाला सम्बन्ध तुझे मंजूर नहीं है ? लड़की तो बड़ी सुशील और चतुर है। मैं उसे रोज गङ्गाजीपर देखती हूँ।'

कुछ लजाते हुए निमाईने कहा—'मैं क्या जानूँ, जो तुम्हें अच्छा लगे वह करो ।' माताको यह उत्तर सुनकर सन्तोष हुआ । इन्होंने अपनी माताके सन्तोषार्थ स्वयं एक मनुष्यके द्वारा सनातनके यहाँ विवाहकी तैयारी करनेकी खबर भेज दी । इस खबरके पाते ही सनातन मिश्रके घरमें फिरसे दुगुना आनन्द छा गया और वे धूम-धामके साथ पुत्रीके विवाहकी तैयारियाँ करने लगे ।

इधर निमाई पण्डितके पास इतना द्रव्य नहीं था, कि वे राजपण्डितकी पुत्रीके साथ खूब समारोहके साथ विवाह कर सकें । इसके लिये वे कुछ चिन्तित-से हुए । धीरे-धीरे इस बातकी खबर इनके सभी विद्यार्थी तथा स्नेहियोंको लग गयी । विद्यार्थी बड़े प्रसन्न हुए और आ-आकर कहने लगे—'गुरुजी ! ज्योंनारकी मिठाइयाँ तो खूब खानेको मिलेंगी । सनातन तो राजपण्डित ठहरे । खूब जी खोलकर विवाह करेंगे । बढ़िया-बढ़िया मिठाइयाँ बनावेंगे । खूब आनन्द रहेगा ।' ये सबकी बातें सुनकर हँस देते ।

उस समय नवद्वीपमें बुद्धिमन्त खाँ ही सबसे बड़े जमींदार थे । वे उस समयके एक प्रकारसे नवद्वीपके राजा ही समझे जाते । निमाई पण्डितसे वे बहुत स्नेह करते थे । इनके विवाहकी बात सुनकर वे इनके पास पाठशालामें आये । जिनके चण्डी-मण्डपमें ये पढ़ाते थे, वे मुकुन्द संजय भी वहीं बैठे थे । उन्होंने इनका आगत-स्वागत किया । बुद्धिमन्त खाँने कहा—'पण्डितजी ! सुना है आप दूसरा विवाह कर रहे हैं ? यह बात कहाँतक सच है ? सुना है अबके राजपण्डितकी पुत्री पसंद की है ?'

कुछ लजाते हुए इन्होंने कहा—'आप जो भी सुनेंगे सब सत्य ही होगा । भला, आपके सामने झूठ बात कहनेकी किसकी हिम्मत हो सकती है ?'

इस उत्तरसे प्रसन्न होकर बुद्धिमन्त खाँने कहा—'तब तो खूब मिठाई खानेको मिलेगी। हाँ, एक प्रार्थना मेरी है, इस विवाहका सम्पूर्ण खर्च मेरे जिम्मे रहा।'

बीचमें ही मुकुन्द संजय बोल उठे—'वाह साहब! सब आपका ही रहा, हम वैसे ही रहे। कुछ हमें भी तो अवसर दीजिये। अकेले-ही-अकेले आनन्द उठा लेना ठीक नहीं।'

हँसते हुए बुद्धिमन्त खाँने जवाब दिया—'आप भी अपनी इच्छा पूर्ण कर लें। कुछ भिखमंगे ब्राह्मणका विवाह थोड़े ही है। राजपण्डितकी पुत्रीके साथ शादी है। राजकुमारकी ही भाँति खूब ठाट-बाटसे विवाह करेंगे। आप जितना भी चाहें खर्च कर लें।' इस प्रकार विवाहके सम्पूर्ण खर्चेका भार तो इन दोनों धनिकोंने अपने ऊपर ले लिया। अब निमाई इस बातसे तो निश्चिन्त हो गये, फिर भी उन्हें बहुत-सा काम स्वयं ही करना था। उसके लिये वे विद्यार्थियोंकी सहायतासे स्वयं ही सब काम करने लगे।

सभी बड़े-बड़े पण्डितोंको निमन्त्रित किया गया। विद्वन्मण्डलीमेंसे ऐसा एक भी पण्डित नहीं बचने पाया जिसके पास निमन्त्रण न पहुँचा हो। इधर पूर्वोक्त दोनों धनाढ्योंने विवाहके लिये गाने-नाचनेका, आतिशबाजी-फुलवारीका, अच्छे-अच्छे बाजोंका तथा और भी सजावटके बहुत-से सामानोंका भलीभाँति प्रबन्ध किया। नियत तिथिके दिन अपने स्नेही बहुत-से पण्डित, विद्यार्थियों तथा अन्य गण्य-मान्य सज्जनोंके साथ बरात सजाकर निमाई पण्डित विवाहके लिये चले। वे आगे-आगे पालकीमें जा रहे थे। दोनों ओर चमर ढुर रहे थे। सबसे आगे भाँति-भाँतिके बाजे बज रहे थे। इस प्रकार खूब समारोहके साथ वे सनातन मिश्रके द्वारपर जा पहुँचे। मिश्रजीने सब लोगोंका यथोचित खूब सम्मान किया। सभीके ठहरने, खाने-पीने और

मनोरञ्जनका उन्होंने बहुत ही उत्तम प्रबन्ध कर रखा था। उनके स्वागत-सत्कारसे सभी लोग अत्यन्त ही प्रसन्न हुए।

गोधूलिके शुभ लग्नमें निमाई पण्डितने विष्णुप्रियाका पाणिग्रहण किया। ब्राह्मणोंने स्वस्त्ययन पढ़ा, वेदज्ञोंने हवन कराया। इस प्रकार विवाहके सभी लौकिक तथा वैदिक कृत्य बड़ी ही उत्तमताके साथ समाप्त हुए। विष्णुप्रियाने पतिदेवके चरणोंमें आत्मसमर्पण किया और निमाईने उन्हें वामाङ्ग करके स्वीकार किया। सनातन मिश्रने बहुत-सा धन तथा बहुमूल्य वस्त्राभूषण निमाईके लिये भेंटमें दिये। इन सब कार्योंके हो जाने-पर विवाहके सब कार्य समाप्त किये गये।

दूसरे दिन सनातन मिश्रने सभी विद्वान् पण्डितोंकी सभा की। उनकी योग्यतानुसार यथोचित पूजा की और द्रव्यादि देकर खूब सत्कार किया। तीसरे दिन विष्णुप्रियाके साथ दोला (पालकी) में चढ़कर निमाई अपने घर आये। चिरकालसे जिसे अपनी पुत्र-वधू बनानेके लिये माता उत्सुक थी, आज उसे ही पुत्रके साथ अपने घरमें आयी देखकर माताकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वह उस युगल जोड़ीको देखकर मन-ही-मन अत्यन्त ही प्रसन्न हो रही थी।

घरमें घुसते समय चौखटमें उँगली पिच जानेके कारण विष्णुप्रियाके कुछ खून निकल आया था। इसे अपशकुन समझकर उनका चित्त पहले तो कुछ दुखी हुआ था, किन्तु थोड़े दिनोंमें वे इस बातको भूल गयी थीं। जब निमाई संन्यास लेकर चले गये, तब उन्हें यह घटना याद आयी थी और वह उसे स्मरण करके दुखी हुई थीं।

इस प्रकार विष्णुप्रियाको पाकर निमाई अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और विष्णुप्रिया भी अपने सर्वगुणसम्पन्न पतिको पाकर परम आह्लादित हुईं।

प्रकृति-परिवर्तन

परोपदेशकुशला दृश्यन्ते बहवो जनाः।
स्वभावमतिवर्तन्तः सहस्रेष्वपि दुर्लभाः ॥*

(सु० र० भां० ७७ । ४

बाल्यावस्थाका स्वभाव आगे चलकर धीरे-धीरे बदल जाता है, किन्तु युवावस्थामें जो स्वभाव बन जाता है, उसका परिवर्तित होना अत्यन्त ही कठिन है। अवस्था ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों स्वभावमें भी प्रौढ़ता होने लगती है और फिर जिस मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है वही उसका आगेके लिये स्वाभाविक गुण बन जाता है। बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि बहुत-से लोगोंका जीवन एकदम पलट जाता है, वे क्षणभरमें ही कुछ-से-कुछ बन जाते हैं। आज जो महाविषयी-सा प्रतीत होता है, वही कल परम वैष्णवोंके-से आचरण करने लगता है। जिसे हम कल्तक आवारा-गावारा कहकर पुकारते थे, थोड़े दिनोंमें सहस्रों नर-नारी सिद्ध महात्मा मानकर उसीकी पूजा-अर्चा करते हुए देखे गये हैं, किन्तु ऐसा परिवर्तन

---

* दूसरोंको बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे उत्तम-से-उत्तम उपदेश करनेवाले तो तसे सुचतुर पण्डित मिल जायँगे, किन्तु जो एकदम अपने स्वभावको ही पलट ऐसे पुरुष हजारोंमें भी दुर्लभ हैं। कहीं करोड़ोंमें कोई ऐसे पुरुष निकलते हैं।

सभी पुरुषोंके जीवनमें नहीं होता। ऐसे तो कोई विरले ही भाग्यशाली महापुरुष होते हैं।

प्रायः देखा गया है, कि मनुष्य जब प्राकृतिक विचारोंसे ऊँचे उठने लगता है, तब हृदयके परिवर्तनके साथ उसके शरीरमें भी परिवर्तन हो जाता है। शरीरके सभी अवयव स्वभावके ही अनुसार बने हैं, मनुष्य जैसे-जैसे प्राकृतिक विचारोंको छोड़ने लगता है वैसे-वैसे उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी बदलते जाते हैं। साधारण लोग उस परिवर्तनको रोग समझने लगते हैं। जो एकदम प्रकृतिसे ऊँचा उठ गया है, फिर उसका पाञ्चभौतिक शरीर अधिक काल स्थिर नहीं रह सकता। क्योंकि शरीरके स्थायित्वके लिये रजोगुणजन्य प्राकृतिक अहंभावकी कुछ-न-कुछ आवश्यकता पड़ती ही है। तभी तो परम भावुक ज्ञानी और प्रेमी अल्पावस्थामें ही इस शरीरको त्याग जाते हैं। श्रीशंकराचार्य, चैतन्यदेव, ज्ञानेश्वर, रामतीर्थ, जगद्बन्धु ये सभी परम भावुक भगवत्-भक्त प्रकृतिसे अत्यन्त ऊँचे उठ जानेके ही कारण इस शरीरको अधिक दिन नहीं टिका सके। कोई-कोई महापुरुष अपने सत्सङ्कल्पका कुछ अंश देकर लोक-कल्याणकी दृष्टिसे उस अवस्थामें पहुँचने-पर भी कुछ कालके लिये इस शरीरको टिकाये रहते हैं, फिर भी उनमें भावुकताकी अपेक्षा ज्ञानांशकी कुछ अधिकता होती है, तभी वे ऐसा कर सकते हैं। भावुकताकी चरम सीमापर पहुँचनेपर तो संकल्प करनेका होश ही नहीं होता।

जब हृदयमें सहसा प्रबल भावुकताका उदय होता है, तो निर्बल शरीर उसका सहन नहीं कर सकता। किसी-किसीका शरीर तो उसी वेगमें शान्त हो जाता है, बहुत-से उसे सहन तो कर लेते हैं, किन्तु पागल हो जाते हैं, कुछ कर-धर नहीं सकते। जिनसे भगवान्‌को कुछ काम कराना होता है, वे उस वेगको पूर्णरीतिसे सहन करनेमें समर्थ होते हैं किन्तु शरीर-

पर उसका कुछ-न-कुछ असर पड़ना तो स्वाभाविक ही है, इसलिये उनके शरीरमें या तो वायुरोग हो जाता है या अतिसार। बहुधा इन दो भयंकर रोगोंके द्वारा ही उस भावका शमन हो सकता है। संसारी लोगोंको ये रोग प्रायः चालीस-पचास वर्षकी अवस्थाके बाद हुआ करते हैं, किन्तु जिन लोगोंके शरीरमें प्रबल भावुकताके उदय होनेके उद्वेगमें ये रोग होते हैं, उनके लिये कोई नियम नहीं, कभी हो जाय। असलमें उनके ये रोग साधारण लोगोंके रोगकी भाँति यथार्थ रोग नहीं होते, किन्तु वे रोग-से ही प्रतीत होते हैं और भावोंके शमन होनेपर आप ही शान्त हो जाते हैं। परमहंस रामकृष्णदेवको युवावस्थामें ही यह उद्वेग उत्पन्न हुआ। किसी-ने उसे वायुरोग, किसीने मस्तिष्करोग और किसीने वीर्योन्मादरोग बताया। उनके परम भक्त मथुरा बाबू तो चिकित्सकोंके कहनेसे उन्हें वेश्याओंतकके यहाँ ले गये, किन्तु उन्हें उन्माद या वायुरोग हो तब तो। वहाँ भी वे छोटे बालककी भाँति क्रीड़ा करते रहे। सालों वे अतिसारके भयंकर रोगसे पीड़ित बने रहे। उनके इस भावको एक ब्राह्मणीने ही समझा। पीछेसे उनके बहुत-से भक्त भी समझ गये। चिकित्सक इन्हें अन्ततक वायुरोग बताते रहे और बोलनेसे मना करते रहे, किन्तु इन्होंने शरीरको टिका ही इसलिये रखा था, चिकित्सकोंके मना करनेपर भी धाराप्रवाह बोलते रहे, अन्तमें गलेमें फोड़ा-सा हुआ और उसीकी भयंकर वेदनामें महीनों बिताकर वे इस नश्वर शरीरको त्याग गये। गलेके फोड़ेको चिकित्सक लोग अधिक बोलनेका विकार बताते, उसके कारण इतनी पीड़ा होती कि तोलेभर दूध पीनेमें भी उन्हें महाकष्ट होता था, किन्तु इस अवस्थामें भी वे भक्तोंको उपदेश तो निरन्तर करते ही रहे। चिकित्सकोंके बार-बार जोर देकर मना करनेपर वे कह देते—'अब इस शरीरका बनेगा ही क्या? इससे जिसका जितना भी उपकार हो सके उतना ही उत्तम है।' क्योंकि वे शरीरके प्राकृतिक स्वभावसे एकदम ऊँचे उठ गये थे।

अब निमाई पण्डितके भी प्रकृति-परिवर्तनका समय आया। निमाई परम भावुक थे, यदि सचमुच उनके हृदयमें एक साथ ही प्रबल भावुकताकी भारी बाढ़ आती, तो चाहे इनका शरीर कितना भी बलवान् क्यों नहीं था, वह उसका सहन कभी नहीं कर सकता। इसलिये इनकी भावुकताका उत्तरोत्तर विकास हुआ और अन्तमें तो वे शरीरको एकदम भूलकर समुद्रमें ही कूद पड़े। इनके जीवनमें प्रेमके जैसे उत्तरोत्तर अद्वितीय भाव प्रकट हुए हैं, वैसे भाव संसारका इतिहास खोजनेपर भी किसी प्रकटरूपसे उत्पन्न हुए महापुरुषके जीवनमे शायद ही मिलें! किसीके जीवनमें क्या, बहुतोंके जीवनमें ये भाव प्रकट हुए होंगे, किन्तु वे संसारकी दृष्टिसे दूर जाकर प्रकट हुए होंगे, संसारी लोगोंको उन भावोंका पता नहीं। चैतन्यके जीवनके भाव तो भक्तोंने प्रत्यक्ष देखे और उनके समकालीन लेखकोंने यथासाध्य उनका वर्णन करनेकी चेष्टा भी की है, किन्तु वे भाव तो अवर्णनीय हैं। संसारी भाषा इन अलौकिक भावोंका वर्णन कर ही कैसे सकती है?

सहसा एक दिन निमाई पण्डित रास्ता चलते-चलते पुस्तक फेंककर अपने घरकी ओर भाग पड़े। रास्तेके सभी लोग डर गये। इनकी सूरत विचित्र ही बन गयी थी। घर पहुँचकर इन्होंने घरके सभी बर्तनोंको आँगनमें निकाल-निकालकर फोड़ना प्रारम्भ कर दिया। माता अवाक् होकर इनकी ओर देखने लगीं। उनकी हिम्मत न हुई कि निमाईको ऐसा करनेसे रोकें। ये अपनी धुनमें मस्त थे। किसी भी चीजकी परवा नहीं करते। जो भी चीज मिल जाती उसे ही नष्ट करते। पानीको उलीचते, अन्नको फेंकते और वस्त्रोंको बीचसे फाड़ देते थे। माता बाहर जाकर आस-पासके लोगोंको बुला लायी। लोगोंने इन्हें इस कामसे हटानेकी चेष्टा की, किन्तु जो भी इनकी ओर जाता, उसे ही ये मारनेके लिये दौड़ते। इसलिये किसीकी हिम्मत ही नहीं पड़ती थी। जैसे-तैसे लोगोंने इन्हें हटाकर

शय्यापर सुलाया। चारों ओरसे विद्यार्थी तथा इनके स्नेही इनकी शय्याको घेरकर बैठ गये। अब ये निरन्तर पागलोंकी भाँति बकने लगे। लोगोंसे कहते—'हम साक्षात् विष्णु हैं, हमारी पूजा करो। संसारमें हम ही एकमात्र वन्दनीय तथा पूजनीय हैं। तुमलोग निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तन किया करो। संसारमें श्रीकृष्णका ही नाम सार है और सभी वस्तुएँ असार हैं। इस प्रकार ये न जाने क्या-क्या कहते रहे।

लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भाँति-भाँतिके अनुमान लगाते। कोई कहता—'भूतव्याधि है।' कोई कहता—'किसी डाकिनी-शाकिनीका प्रकोप है।' कोई-कोई उपेक्षाकी दृष्टिसे कहता— 'अजी, बहुत बकवादका यही तो फल होता है, दिनभर शास्त्रार्थ करके विद्यार्थियोंके साथ मगजपच्ची करके तथा लोगोंको छेड़कर बका ही तो करते थे। इन्हें कभी किसीने चुपचाप तो देखा ही नहीं था। उसीका यह फल है, पागलपन है। मस्तिष्कका विकार है। गर्मी बढ़ गयी है और कुछ नहीं है।'

चिकित्सकोंने वायुरोग स्थिर किया। समाचार पाकर बुद्धिमन्त खाँ और मुकुन्द संजय ये सभी धनी-मानी सज्जन वैद्योंको साथ लेकर निमाईके घर दौड़े आये। सभी घबड़ा गये। ये लोग बड़े-बड़े धनिक थे। नाना प्रकारकी मूल्यवान् ओषधियाँ इनके यहाँ रहती थीं। वैद्योंकी सम्मतिसे विष्णुतैल, नारायणतैल आदि सुगन्धित और मूल्यवान् तैल इनके सिरमे मले जाने लगे। इनके सिरको तैलमें डुबाया गया, और भी भाँति-भाँतिके उपचार किये जाने लगे। इस प्रकार कई दिनोंमें धीरे-धीरे ये स्वस्थ हुए। यह देखकर इनके प्रेमियोंको परम प्रसन्नता हुई। धीरे-धीरे ये फिर पूर्वकी भाँति अपनी पाठशालामें जाकर अध्यापनका कार्य करने लगे।

अब इनके स्वभावमे बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। अब ये पहिलेकी

भाँति लोगोंसे छेड़खानी नहीं करते थे। इनमे बहुत कुछ गम्भीरता आ गयी। वैष्णवोंकी हँसी, करना इन्होंने एकदम छोड़ दिया। इन्हें स्वस्थ देखकर लोग कहते—'भगवान्की बड़ी कृपा हुई आप स्वस्थ हो गये। यह शरीर नश्वर और क्षणभङ्गुर है, अब कुछ कृष्णकीर्तन भी करना चाहिये। आयुको इसी तरह बिता देना ठीक नहीं।' ये हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम करते और उनकी बातको स्वीकार करते। लोगोंको—विशेषकर वैष्णवोंको इनके इस स्वभाव-परिवर्तनसे परम प्रसन्नता हुई।

अब ये नियमितरूपसे भगवान्की पूजा और तुलसीपूजन आदि कार्योंको करने लगे। सन्ध्या-पूजा करके ये पढ़ानेके लिये जाते और सभी विद्यार्थियोंके सदाचारके ऊपर अत्यधिक ध्यान रखते। जिस विद्यार्थीके मस्तकपर तिलक नहीं देखते उसे ही बुलाकर कहते—'आज तिलक क्यों नहीं धारण किया है? फिर सबको सुनाकर कहते—'जिसके मस्तकपर तिलक नहीं, समझ लो आज वह बिना ही सन्ध्या-वन्दन किये चला आया है।' इस प्रकार जिसे भी तिलकहीन देखते उसे ही कहते—'पहिले घर जाकर सन्ध्या-वन्दन करके तिलक धारण कर आओ, तब आकर पाठ पढ़ना।' फिर आप समझाने लगते—'देखो भाई! सन्ध्या ही तो द्विजातियोंका सर्वस्व है। जो ब्राह्मण सन्ध्या-वन्दनतक नहीं करता उसे ब्राह्मण कह ही कौन सकता है! फिर वह पारमार्थिक उन्नति तो बहुत दूर रही, इहलौकिक उन्नति भी नहीं कर सकता। कहा भी है—

> विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं च सन्ध्या
> वेदाः शाखाः धर्मकर्मादि पत्रम्।
> तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं
> छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्॥

ब्राह्मणरूपी वृक्षकी सन्ध्या ही जड़ है। वेद ही उस वृक्षकी बड़ी-बड़ी चार शाखाएँ हैं और धर्म-कर्मादि ही उस वृक्षके सुन्दर-सुन्दर

पत्ते हैं इसलिये खूब सावधानीके साथ जल आदि देकर जड़की ही सेवा करनी चाहिये, क्योंकि जड़के नष्ट हो जानेपर न तो शाखा ही रह सकती है और न पत्ते ही।' आप कहते—'जो साठ घड़ीके दिन-रात्रिमेंसे दो घड़ी सन्ध्याके लिये नहीं निकाल सकता वह आगे उन्नति ही क्या कर सकता है ?' इनके इस कथनका विद्यार्थियोंके ऊपर बड़ा ही प्रभाव पड़ता और वे सभी यथासमय उठकर स्नानादिसे निवृत्त होकर सन्ध्या-वन्दनादि करके तब पाठ पढ़ने आते। इन सभी बातोंसे विद्यार्थी इनके ऊपर बड़ा ही अनुराग रखने लगे और ये भी उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्यार करने लगे।

ये भाव इनके हृदयमें भक्ति-भागीरथीके स्रोत उमड़नेके पूर्वके सूत्रपातमात्र ही हैं। निमाईके हृदयमें भक्तिके स्रोतका उदय तो श्रीगयाधाममें श्रीविष्णु भगवान्‌के पादपद्मोंके दर्शनसे ही होगा। वहींसे भक्ति-भागीरथीका प्रवाह नवद्वीप आदि पुण्यस्थानोंमें होकर अपनी द्रुतगतिसे समस्त प्राणियोंको पावन करता हुआ श्रीनीलाचलके महासागरमें एकरूप हो जायगा। यह बात नहीं कि नीलाचलमें जाकर प्रेमपयोधिमें मिलनेपर उस त्रितापहारी प्रेमपीयूषपूर्ण पावन प्रवाहकी परिसमाप्ति हो जायगी, किन्तु वह प्रवाह भगवती भागीरथीकी भाँति अखण्डरूपसे इस धराधामपर सदा प्रवाहित ही होता रहेगा, जिसमें अवगाहन करके प्रेमी भक्त सदा सुखशान्ति प्राप्त करते रहेंगे। इन सभी बातोंका वर्णन पाठकोंको अगले प्रकरणोंमें प्राप्त होगा।

भक्ति-स्रोत उमड़नेसे पहिले

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥*
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ९)

भक्ति तथा मुक्तिका प्रधान और मुख्य कारण कर्म ही है । निष्काम और सकाम-भेदसे कर्म दो प्रकारका है । सकाम कर्म भुक्तिप्रद है । उससे

---

* वर्णाश्रमविहित कर्मोंको तबतक करते ही रहना चाहिये जबतक उनके प्रति पूर्णरूपसे वैराग्य न हो जाय अथवा भगवान्‌की कथाके श्रवणमें जबतक पूर्णरूपसे दृढ़ भक्ति न हो जाय । तात्पर्य यह कि, वर्णाश्रममें विहित कर्मोंके करनेके दो ही हेतु हैं या तो उनके द्वारा वैराग्य उत्पन्न होकर ज्ञान हो और ज्ञानके द्वारा मुक्ति अथवा भगवान्‌के कथाकीर्तनमें दृढ़ श्रद्धाद्वारा रति हो जाय और रतिसे भक्तिकी प्राप्ति हो ।

भूः भुवः और स्वः इन तीन ही लोकोंके भोग प्राप्त हो सकते हैं और निष्काम कर्मोंके द्वारा आत्मशुद्धि होकर साधक भक्ति तथा मुक्तिका अधिकारी बनता है।

जो हृदय-प्रधान साधक हैं उन्हें निष्काम कर्मोंके करते रहनेसे साधु-महात्माओंमें प्रीति उत्पन्न होती है। महात्माओंके अधिक संसर्गमें रहनेसे उन्हें भगवत्-कथाओंमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। भगवत्-कथाओंमें श्रद्धा होनेसे भगवद्गुणोंमें रति हो जाती है। भगवद्गुणोंमें रति होनेके बाद भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति ही अन्तिम साध्य वस्तु है, उसे ही पराकाष्ठा या परा गति कहते हैं।

जो मस्तिष्क-प्रधान साधक होते हैं, उन्हें निष्काम कर्मोंके द्वारा आत्मशुद्धि होकर भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, फिर संसारी विषयोंसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे उन्हें ज्ञानकी इच्छा उत्पन्न होती है और ज्ञानके द्वारा वे मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। मुक्ति ही प्राणीमात्रका चरम लक्ष्य है। यही जीवोंकी एकमात्र साध्य वस्तु है। इसीलिये मुक्ति तथा भक्तिका प्रधान हेतु वर्णाश्रमविहित कर्म ही है। जबतक भगवत्-कथाओंमें पूर्णरूपसे श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय, बिना भगवत्-कथा श्रवण किये चैन ही न पड़े अथवा जबतक संसारी विषयोंसे पूर्णरीत्या वैराग्य न हो जाय, चित्त सर्वदा इन संसारी भोगोंसे हटकर एकान्तवासके लिये लालायित न बना रहे तबतक सभी प्रकारके मनुष्योंको अपने-अपने अधिकारानुसार कर्तव्य-कर्मोंको करते ही रहना चाहिये। जो श्रद्धा तथा वैराग्यके पूर्व ही अज्ञानके वशीभूत होकर कर्मोंका त्याग कर देते हैं, वे नारकीय जीव हैं, वे स्वयं कर्मत्यागरूपी पापके द्वारा अपने लिये नरकके मार्गको परिष्कृत करते हैं। ऐसे पुरुष न तो भक्त बन सकते हैं और न ज्ञानी, वे इस संसार-चक्रमें ही पड़े घूमते रहते हैं।

कुछ ऐसे भी नित्यभक्त वा जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, जिन्हें फिरसे कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं होती, वे पहिलेसे ही मुक्त अथवा भक्त होते हैं। शुक-सनकादि जन्मसे ही मुक्त थे। नारदादि पहिलेसे ही भक्त होकर उत्पन्न हुए, इनके लिये किसी प्रकारके विशेष कर्मोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं हुई। इनमें आरम्भसे ही वैराग्य तथा भक्ति विद्यमान थी। इसीलिये शुक-सनकादि आरम्भसे ही ज्ञानी बनकर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते रहे और नारदादि सदा हरि-गुण-गान करते हुए सभी लोकोंको पावन बनाते फिरे। अतएव इनके लिये आरम्भसे ही कोई कर्तव्य-कर्म नहीं था।

अब प्रश्न यह है, कि भक्ति तथा मुक्तिमें कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? इनका उत्तर यही दिया जा सकता है कि या तो इनमेंसे कोई भी श्रेष्ठ नहीं या दोनों ही श्रेष्ठ हैं। ये दोनों ही स्थिति सनातन हैं, सदासे प्राणियोंकी ये ही दो परम स्थिति सुनी गयी हैं। वेद-शास्त्रोंमें ज्ञानी-महर्षियोंने इन्हीं दो स्थितियोंका वर्णन किया है। 'तस्य तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नः' जिसके जो अनुकूल पड़े उसके लिये वही सर्वोत्तम है। हृदय और मस्तिष्ककी ये दो ही शक्तियाँ हैं। जिसमें जिसकी प्रधानता होगी, उसको वही मार्ग रुचिकर होगा। दूसरेसे उसे कोई प्रयोजन नहीं। वह तो अपने ही मार्गको सर्वस्व समझेगा।

अब यह प्रश्न उठता है, कि बहुधा भक्तोंको यह कहते सुना गया है कि 'हम तो मुक्तिको अत्यन्त तुच्छ समझते हैं, भक्तिके बिना मुक्तिको हम तो ठुकरा देते हैं।' इसके विपरीत ज्ञान-मार्गके साधकोंके द्वारा यह सुना गया है कि 'मुक्ति ही मनुष्यका चरम लक्ष्य है, भक्ति उसका साधन भले ही हो, किन्तु साध्य वस्तु तो मुक्ति ही है। मुक्तिके बिना परम शान्ति नहीं।' इनमेंसे किसकी बात मानें? दो बातें तो

ठीक हो नहीं सकतीं। फिर वे दो ऐसी बातें जो परस्परमें एक दूसरेके विरुद्ध हों।

यदि ध्यानपूर्वक इन दोनों बातोंपर विचार किया जाय तो इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं मालूम पड़ता। लोकमें भी देखा जाता है, कि जिस मनुष्यको जो वस्तु अत्यन्त प्रिय होती है, वह कहता है 'मैं तो इससे बढ़कर त्रिलोकीमें कोई वस्तु नहीं समझता।' उसके कथनका अभिप्राय इतना ही है, कि मुझे तो यही वस्तु अत्यन्त प्रिय है, मेरे लिये तो इससे बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। 'नहीं' कहनेसे उसका अभिप्राय अन्य वस्तुओंके 'अभाव' से न होकर 'प्रिय' से है। अर्थात् मुझे इसके सिवा दूसरी वस्तु प्रिय नहीं है। उसका कथन एक प्रकारसे ठीक भी है, जबतक उसकी उस वस्तुके प्रति अनन्यता न हो जायगी तबतक उसमें प्रीति कही ही नहीं जा सकती। इसी प्रकार भक्तिका मार्ग जिन्होंने ग्रहण किया है, उनकेलिये ज्ञानके द्वारा मुक्ति प्राप्त करना कोई वस्तु ही नहीं है और जिन्होंने ज्ञानके मार्गसे जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया है, उनके लिये किसी भी प्रकारके नाम-रूपका चिन्तन करना महान् विघ्न है। ये हम साधारण लोगोंके समझनेके लिये साधारण-सी दलीलें हैं। वास्तवमें तो भक्ति तथा मुक्ति दो वस्तु हैं ही नहीं। एक ही वस्तुको दो नामोंसे पुकारते हैं, अपनी भावनाके ही अनुसार एक प्रिय वस्तुको दो रूपोंमें देखते हैं। साध्य तो एक ही है उसे चाहे भक्ति कह लो या मुक्ति। और उसका साधन भी एक ही है अनासक्तभावसे भगवत्-सेवा या कर्तव्य समझकर निष्काम कर्म। हाँ, करनेकी प्रक्रियाएँ पृथक्-पृथक् अवश्य हैं, जिनका रुचि-वैचित्र्यके कारण अधिकारी-भेदसे पृथक्-पृथक् होना आवश्यक ही है। एकमें त्याग ही प्रधान है, घरको त्यागो, संगको त्यागो, आसक्तिको त्यागो, नाम-रूपको त्यागो, फिर अपने आपको भी त्याग दो। दूसरेमें प्रेमकी प्रधानता है, अच्छे पुरुषोंसे प्रेम करो, भगवद्भक्तोंसे प्रेम करो, भगवद्-

चरित्रोंसे प्रेम करो, प्रेमसे प्रेम करो। फिर आकर प्रेममें समा जाओ। ये मुक्ति-भक्ति दो मार्ग हैं।

महाप्रभु चैतन्यदेवका जीवन तो भक्तिमार्गका एक प्रधान स्तम्भ है। उनके जीवनमें शुद्ध भक्तिका परम पवित्र स्वरूप है, उसमें पक्षपातका लेश नहीं, दूसरे मार्गके प्रति विद्वेष नहीं। किसी भी कर्मकी उपेक्षा नहीं। संकुचित भावोंकी गन्ध नहीं। यहाँ तो शुद्ध प्रेम है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ना चाहो त्यों-ही-त्यों अधिकाधिक प्रेम करो, यही शिक्षा उसमें ओत-प्रोतरूपसे भरी पड़ी है। उनका नाम लेकर आज जो बातें कही जाती हैं, वे चैतन्यदेवकी कभी हो ही नहीं सकतीं। इसका साक्षी उनका प्रेममय जीवन ही है। ये साम्प्रदायिक विचार तो पीछेके संकुचित बुद्धिवाले लोगोंके मस्तिष्कसे निकले हैं। अपनी चीजका नाम कोई जो चाहे रख ले। कोई रोकनेवाला थोड़े ही है। चैतन्यका जीवन तो परम प्रेममय, सभीको आश्रय देनेवाला परम महान् है, उसमें भला साम्प्रदायिक संकुचित भावों-का क्या काम ? इनके हृदयमें प्राणीमात्रके भावोंका आदर था।

निमाई पण्डितका अब दूसरा विवाह हो गया है। विष्णुप्रिया उनके सब प्रकारसे अनुकूल आचरण करती हैं। उनका स्वभाव हँसमुख है, वे सुशीला हैं, गृहकार्योंमें चतुर हैं और अत्यन्त ही पतिपरायणा हैं, वे अपने पतिको ही सर्वस्व समझती हैं। यह सब होते हुए भी निमाईका चित्त अब उदास ही रहता है। पता नहीं क्यों ? अब उनकी वह चपलता न जाने कहाँ चली गयी ? घंटों एकान्तमें न जाने क्या सोचा करते हैं ? अब उन्हें संसारी बातोंसे अनुराग नहीं है। अब उनका हृदय किसी विशेष वस्तुके लिये छटपटाता-सा दिखायी पड़ता है। अब वे अपनेमें किसी एक विशेष अभावका-सा अनुभव करने लगे हैं। इस बातसे उनके सभी स्नेही चिन्तित रहते हैं।

जब हृदयमें किसी प्रबल भावका आगमन होनेको होता है, तो उसके पूर्व हृदय एक प्रकारके अभावका अनुभव करने लगता है। जी चाहता है, कहीं चलकर अपनी प्रिय वस्तुको ले आवें। ऐसी ही दशामें लोग तीर्थोंमें जाते हैं। तीर्थोंमें अच्छे-अच्छे धार्मिक लोगोंके सत्संगका सुयोग प्राप्त होता है, विरक्त साधु-महात्माओंके दर्शन होते हैं। उनके सत्संग तथा सदुपदेशसे हृदयमें एक प्रकारकी शान्ति होती है। इसलिये निमाईकी भी इच्छा तीर्थ-भ्रमण करनेकी हुई।

बंगालमें सकामकर्मोंकी प्रधानता है, वहाँके बहुत ही कम मनुष्य निष्कामकर्मका महत्त्व जानते हैं। अधिकांश लोग किसी-न-किसी कामनासे ही सम्पूर्ण धार्मिक कार्योंको करते हैं। सकाम कर्मोंमें पितृश्राद्धको बहुत महत्त्व दिया गया है। स्मृतियोंमें तो पितृकर्मोंको देवकर्मोंसे भी अधिक महत्ता दी गयी है। गृहस्थियोंके लिये पितृकर्म ही मुख्य बताये गये हैं। पितृकर्मोंमें गयाधाममें जाकर पितरोंके श्राद्ध करनेका बहुत भारी माहात्म्य वर्णन किया गया है, इसलिये प्रतिवर्ष बंगालसे लाखों मनुष्य गयाजीमें पितृश्राद्ध करने आते हैं। दूसरे प्रान्तोंसे भी बहुत बड़ी संख्यामें यात्री गयाजी पितृश्राद्ध करने आते हैं, किन्तु बंगालमें इसका प्रचार अन्य प्रान्तों-की अपेक्षा विशेष है। अबकी बार अन्य लोगोंके साथ निमाई पण्डितने भी गयामें जाकर अपने पिताका श्राद्ध कर आनेका विचार किया। किन्तु इनके विचारमें अन्य लोगोंकी भाँति सकाम भावना नहीं थी, ये तो अपने अभावको दूर करने और धार्मिक लोगोंके भावोंका आदर करनेके निमित्त ही गयाजी जाना चाहते थे।

श्रीगयाधामकी यात्रा

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥*

(गीता ३ । २१)

आश्विन शुक्ला दशमीका दिवस है । आजके ही दिन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने लङ्कापर विजय प्राप्त करनेके लिये चढ़ाई की थी । घर-घर आनन्द मनाया जा रहा है । आजके ही दिन वर्षाकालकी परिसमाप्ति समझी जाती है । व्यापारी आजके ही दिन वाणिज्यके निमित्त विदेशोंकी यात्रा करते हैं । नृपतिगण आजके ही दिन दूसरे देशोंको दिग्विजय करनेके निमित्त अपनी-अपनी सेनाओंको सजाकर राज्य-सीमासे बाहर होते हैं । चार महीने एक ही स्थानपर रहनेवाले परिव्राजक आजके ही दिन फिरसे भ्रमण करना आरम्भ कर देते हैं । तीर्थयात्रा करनेवाले भी आजके ही दिन यात्राके लिये प्रस्थान करते हैं । अबके नवद्वीपसे भी बहुत-से यात्री गया-धामकी यात्रा करने जा रहे थे । गौराङ्गके मौसा पं० चन्द्रशेखर भी गया-को जाना चाहते थे, उन्होंने अपनी इच्छा निमाईको जतायी । सुनते ही इन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की । माताकी आज्ञा लेकर इन्होंने भी अपने कुछ स्नेही तथा छात्रोंके साथ गयाजीकी यात्राका निश्चय किया । सब सामान जुटाकर अन्य लोगोंको साथ लेकर ये गयाधामके लिये चल पड़े ।

इस प्रकार ये अपने सभी साथियोंके साथ आनन्द मनाते और प्रेममें

---

* श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्य साधारण लोग उसी भाँति उसका अनुकरण करते हैं, जिस बातको वे प्रमाण मानते हैं उसे ही दूसरे लोग भी प्रामाणिक समझते हैं ।

ब्राह्मण नहीं हैं केवल ब्रह्मबन्धु हैं (अर्थात् केवल नाममात्रके ही ब्राह्मण हैं, बस, जिन्होंने ब्राह्मण-वंशमें जन्म ही भर ग्रहण किया है) उनका तो इतना सत्कार नहीं करना चाहिये । वे तो केवल काष्ठकी हस्तीके समान नाममात्रके ही ब्राह्मण हैं, जैसे काष्ठके हाथीसे हाथीपनेका कोई भी काम नहीं चलनेका, उसी प्रकार जो अपने धर्म-कर्मसे हीन है, जिसने विद्या प्राप्त नहीं की, उस नाममात्रके ब्राह्मणका हम आदर क्यों करें ?'

निमाई पण्डितने थोड़ी देर सोचनेके अनन्तर कहा—'तुम्हारा कथन एक प्रकारसे ठीक ही है, जो अपने धर्म-कर्मसे रहित है, वह तो दूध न देनेवाली वन्ध्या गौके समान है, उससे संसारी स्वार्थ कोई सध नहीं सकता । फिर भी जो सभी कार्मोंको सकाम भावसे नहीं करते हैं, जो श्रद्धाके साथ शास्त्रोंकी आज्ञानुसार अपनेको ही सुधारनेका सदा प्रयत्न करते रहते हैं, वे दूसरोंके दोषोंके प्रति उदासीन रहते हैं । हम दोषदृष्टिसे देखना आरम्भ करेंगे तब तो संसारमें एक भी मनुष्य दोषसे रहित दृष्टिगोचर नहीं होगा । संसार ही दोष-गुणके सम्मिश्रणसे बना है ! इसलिये अपनी बुद्धिको संकुचित बनाकर गौकी सेवा करनेमें यह बुद्धि रखना ठीक नहीं, कि जो गौ अधिक दूध देगी हम उसीकी सेवा करेंगे । जो दूध नहीं देती, उससे हमें क्या मतलब ? ऐसी बुद्धि रखनेसे तो विचारोंमें संकुचितता आ जायगी । तुम तो शास्त्रकी आज्ञा समझकर गौमात्रमें श्रद्धा रक्खो । यह तो स्वाभाविक ही होगा कि जो गौ सुशील, सुन्दर तथा दुधारी होगी, उसकी सभी लोग इच्छा-अनिच्छापूर्वक सेवा-शुश्रूषा करेंगे और अश्रद्धालु पुरुषोंको भी सुमिष्ट दूधके लालचसे प्रभावान्वित होकर ऐसी गौकी सेवा करते हुए देखा गया है, किन्तु यह सर्वश्रेष्ठ पक्ष नहीं है । सर्वश्रेष्ठ तो यही है, कि मनमें किसी भी प्रकारका पक्षपात न करके केवल शास्त्राज्ञा समझकर और अपना कर्तव्य मानकर गोब्राह्मणमात्रकी सेवा करें । किन्तु ऐसे श्रद्धालु संसारमें बहुत ही थोड़े होते हैं । भगवान्ने स्वयं क्रुद्ध हुए भृगुको

श्रीकृष्ण-कीर्तन करते हुए मन्दार नामक स्थानमें पहुँचे। इस स्थानमें पहुँचकर इन्हें बड़े जोरोंसे ज्वर आ गया। इनके साथी इनकी ऐसी दशा देखकर बहुत अधिक चिन्तित हुए और भाँति-भाँतिके उपचार करने लगे, किन्तु इन्हें किसी प्रकार भी लाभ नहीं हुआ। अन्तमें इन्होंने अपनी ओषधि अपने-आप ही बतायी। इन्होंने कहा-'मेरी व्याधि इन प्राकृतिक ओषधियोंसे न जायगी। यह रोग तो असाध्य है, इसकी एकमात्र ओषधि है भगवत्कृपा! भगवान्की प्रसन्नताका सर्वश्रेष्ठ साधन है ब्राह्मणोंकी अर्चा-पूजा। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने अग्नि और ब्राह्मण अपने दो ही मुख बताये हैं, उनमें ब्राह्मणको ही सर्वोत्तम मुख बताया है। वे अपने श्रीमुखसे ही सनकादि महर्षियोंकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः॥

अर्थात् भगवान् कहते हैं 'मेरे अग्नि और ब्राह्मण ये दो मुख हैं, इनमें ब्राह्मण ही मेरा श्रेष्ठ मुख है, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे ही अर्पण कर दिया है और जो सदा सन्तुष्ट ही रहते हैं, ऐसा ब्राह्मण जो टपकते हुए घृतसे व्याप्त सुस्वादु अन्नके व्यञ्जनोंको खाता है, उसके प्रत्येक ग्रासके साथ मैं ही उस अन्नके रसका आस्वादन करता हूँ। उस ब्राह्मणकी तृप्तिसे जितना मैं तुष्ट होता हूँ, उतना यज्ञमें अग्निद्वारा, यजमानके अर्पण किये हुए हवि आदिसे नहीं होता।' जिन ब्राह्मणोंकी ऐसी महिमा साक्षात् भगवान्ने अपने श्रीमुखसे वर्णन की है, उन्हींका पादोदक पान करनेसे मेरा यह रोग शमन हो सकेगा।'

यह सुनकर एक सरल-से विद्यार्थीने प्रश्न किया—'गुरुजी! जो

ब्राह्मण नहीं हैं केवल ब्रह्मबन्धु हैं (अर्थात् केवल नाममात्रके ही ब्राह्मण हैं, बस, जिन्होंने ब्राह्मण-वंशमें जन्म ही भर ग्रहण किया है) उनका तो इतना सत्कार नहीं करना चाहिये। वे तो केवल काष्ठकी हस्तीके समान नाममात्रके ही ब्राह्मण हैं, जैसे काष्ठके हाथीसे हाथीपनेका कोई भी काम नहीं चलनेका, उसी प्रकार जो अपने धर्म-कर्मसे हीन है, जिसने विद्या प्राप्त नहीं की, उस नाममात्रके ब्राह्मणका हम आदर क्यों करें ?'

निमाई पण्डितने थोड़ी देर सोचनेके अनन्तर कहा—'तुम्हारा कथन एक प्रकारसे ठीक ही है, जो अपने धर्म-कर्मसे रहित है, वह तो दूध न देनेवाली वन्ध्या गौके समान है, उससे संसारी स्वार्थ कोई सध नहीं सकता। फिर भी जो सभी कामोंको सकाम भावसे नहीं करते हैं, जो श्रद्धाके साथ शास्त्रोंकी आज्ञानुसार अपनेको ही सुधारनेका सदा प्रयत्न करते रहते हैं, वे दूसरोंके दोषोंके प्रति उदासीन रहते हैं। हम दोषदृष्टिसे देखना आरम्भ करेंगे तब तो संसारमें एक भी मनुष्य दोषसे रहित दृष्टिगोचर नहीं होगा। संसार ही दोष-गुणके सम्मिश्रणसे बना है! इसलिये अपनी बुद्धिको संकुचित बनाकर गौकी सेवा करनेमें यह बुद्धि रखना ठीक नहीं, कि जो गौ अधिक दूध देगी हम उसीकी सेवा करेंगे। जो दूध नहीं देती, उससे हमें क्या मतलब ? ऐसी बुद्धि रखनेसे तो विचारोंमें संकुचितता आ जायगी। तुम तो शास्त्रकी आज्ञा समझकर गौमात्रमें श्रद्धा रक्खो। यह तो स्वाभाविक ही होगा कि जो गौ सुशील, सुन्दर तथा दुधारी होगी, उसकी सभी लोग इच्छा-अनिच्छापूर्वक सेवा-शुश्रूषा करेंगे और अश्रद्धालु पुरुषोंको भी सुमिष्ट दूधके लालचसे प्रभावान्वित होकर ऐसी गौकी सेवा करते हुए देखा गया है, किन्तु यह सर्वश्रेष्ठ पक्ष नहीं है। सर्वश्रेष्ठ तो यही है, कि मनमें किसी भी प्रकारका पक्षपात न करके केवल शास्त्राज्ञा समझकर और अपना कर्तव्य मानकर गोब्राह्मणमात्रकी सेवा करें। किन्तु ऐसे श्रद्धालु संसारमें बहुत ही थोड़े होते हैं। भगवान्ने स्वयं क्रुद्ध हुए भृगुको

अपनी छातीमें जोरसे लात मारते देखकर बड़ी नम्रतासे दुःख प्रकट करते हुए कहा था—

> अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने।

अर्थात् हे ब्राह्मणदेव ! आपके कोमल चरणारविन्दोंको मेरी इस पत्थर-सी छातीमें लगनेपर बड़ा कष्ट हुआ होगा।

ये बहुत ऊँचे साधकके भाव हैं, जो संसारी मान-प्रतिष्ठा तथा धन और विषयभोगोंकी इच्छाको सर्वथा त्यागकर एकमात्र भगवत् कृपाको ही अपने जीवनका चरम लक्ष्य समझकर सभी कार्योंको करते हैं, उन्हींके लिये भगवान् अपने श्रीमुखसे फिर स्वयं उपदेश करते हैं—

> ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
> स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः।
> वाण्यानुरागकलयात्मजवद् गृणन्तः
> सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः॥

'जो पुरुष वासुदेव-बुद्धि रखकर कठोर बोलनेवाले ब्राह्मणोंकी भी प्रसन्न अन्तःकरणसे कमलके समान प्रफुल्लित मुखद्वारा अपनी अमृतमयी वाणीसे प्रसन्नचित्त होकर स्तुति करते हैं और पिताके क्रुद्ध होनेपर जिस प्रकार पुत्रादि क्रुद्ध न होकर उनका सत्कार ही करते हैं, उसी प्रकार उन्हें प्रेमपूर्वक बुलाते हैं, तो समझ लो ऐसे पुरुषोंने मुझे अपने वशमें ही कर लिया है।' क्रुद्ध होनेवाले किसी भी प्राणीपर जो क्रोध नहीं करता वही सच्चा साधक और परमार्थी है। प्रभुके पाद-पद्मोंकी प्राप्ति ही जिसका एकमात्र लक्ष्य है, उसके हृदयमें दूसरोंके प्रति असम्मानके भाव आ ही नहीं सकते। इसलिये तुम लोग शीघ्र जाकर इस ग्रामके किसी ब्राह्मणका पादोदक लाकर मेरे मुखमें डाल दो।'

इनकी आज्ञा पाकर दो-तीन विद्यार्थी गये और एक परम शुद्ध

वैष्णव ब्राह्मणके चरणोंको धोकर उनका चरणोदक ले आये। यह तो इनकी लोगोंको ब्राह्मणोंका महत्त्व प्रदर्शित करनेकी लीला थी। चरणोदकका पान करते ही ये झटसे अच्छे हो गये और अपने सभी साथियोंके साथ आगे बढ़ने लगे। पुनपुना-तीर्थमें पहुँचकर इन सब लोगोंने पुन्पुन् नामकी नदीमें स्नान किया और सभीने अपने-अपने पितरोंका श्राद्धादि कराया। इसके अनन्तर सभी श्रीगयाधाममें पहुँच गये।

ब्रह्मकुण्डमें स्नान और देव-पितृ-श्राद्धादि करके निमाई पण्डित अपने साथियोंके सहित चक्रवेढ़ाके भीतर विष्णु-पाद-पद्मोंके दर्शनोंके निमित्त गये। ब्राह्मणोंने पाद-पद्मोंपर माला-पुष्प चढ़ानेको कहा। ये अपने विद्यार्थियोंके द्वारा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, माला आदि सभी पूजनकी बहुत-सी सामग्री साथ लिवाते गये थे। गयाधामके तीर्थ-पण्डा जोरोंसे पाद-पद्मोंका प्रभाव वर्णन कर रहे थे। वे उच्च स्वरसे कह रहे थे—'इन्हीं पाद-पद्मोंके धोवनसे जगत्-पावनी मुनि-मन-हारिणी भगवती भागीरथीकी उत्पत्ति हुई है। इन्हीं चरणोंका लक्ष्मीजी बड़ी ही श्रद्धाके साथ निरन्तर सेवन करती रहती हैं। इन्हीं चरणोंका ध्यान योगीजन अपने हृदय-कमलमें निरन्तर करते रहते हैं। इन्हीं चरणोंको प्रभुने गयासुरके मस्तकपर रखकर उसे सद्गति प्रदान की थी।'

असंख्य लोगोंकी भीड़ थी, हजारों आदमी पाद-पद्मोंके दर्शन कर रहे थे और बीच-बीचमें जय-घोष करते जाते थे। पण्डालोग उनसे भेंट चढ़ानेका आग्रह कर रहे थे। बार-बार पाद-पद्मोंका पुण्य-माहात्म्य सुनाया जा रहा था। पाद-पद्मोंका माहात्म्य सुनते ही निमाई पण्डित आत्मविस्मृत हो गये। उन्हें शरीरका होश नहीं रहा। शरीर थर-थर काँपने लगा, युगल अरुण ओष्ठ कोमल पल्लवकी भाँति हिलने लगे। आँखोंसे निरन्तर अश्रुधारा बहने लगी। उनके चेहरेसे भारी तेज निकल रहा था। वे एकटक पाद-पद्मोंकी ही ओर निहार रहे थे। वे कहाँ खड़े हैं, उनके पास कौन है,

किसने उन्हें स्पर्श किया, इन सभी बातोंका उन्हें कुछ भी पता नहीं है। वे संशाशून्य-से होकर काँप रहे हैं, उनका शरीर उनके वशमें नहीं है, वे मूर्छित होकर गिरनेवाले ही थे, कि सहसा एक तेजस्वी संन्यासीका सहारा लगनेसे वे गिरनेसे बच गये। उनके साथियोंने उन्हें पकड़ा और भीड़से हटाकर जल्दीसे बाहर ले गये। बाहर पहुँचकर उन्हें कुछ होश आया और वे निद्रासे उठे मनुष्यकी भाँति अपने चारों ओर आँखें उठा-उठाकर देखने लगे। सहसा उनकी दृष्टि एक लंबे-से तेजस्वी संन्यासीपर पड़ी। वे उन्हें देखकर एक साथ चौंक उठे, उनके आनन्दका पारापार नहीं रहा। इन्होंने दौड़कर संन्यासीजीके चरण पकड़ लिये। अपनी आँखोंसे अश्रुविमोचन करते हुए संन्यासीने इन्हें उठाकर गलेसे लगा लिया। इनके स्पर्शमात्रसे संन्यासी महाशय बेहोश हो गये। दोनों ही आत्मविस्मृत थे। दोनोंको ही शरीरका होश नहीं था, दोनों ही प्रेममें विभोर होकर अश्रुविमोचन कर रहे थे। यात्री इन दोनोंके ऐसे अलौकिक प्रेमको देखकर आनन्द-सागरमें गोते खाने लगे। बहुत-से लोग रास्ता चलते-चलते खड़े हो गये। चारों ओरसे लोगोंकी भीड़ लग गयी। कुछ कालमें संन्यासीको कुछ-कुछ चेतना हुई। उन्होंने बड़े ही प्रेमसे इनका हाथ पकड़कर एक ओर बिठाया और अत्यन्त प्रेमपूर्ण वाणीसे वे कहने लगे—'निमाई पण्डित! आज मेरा भाग्योदय हुआ जो सहसा मुझे तुम्हारे दर्शन हो गये। नवद्वीपमें ही मेरा हृदय तुम्हारी ओर स्वाभाविक ही खिंचा-सा जाता था। मुझसे लोग कहते—'निमाई पण्डित कोरे, पोथीके ही पण्डित हैं, बड़े चञ्चल है, देवता तथा वैष्णवोंकी खिल्लियाँ उड़ाते हैं। आप उन्हें अपना 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' सुनाकर क्या लाभ उठावेंगे?' कोई-कोई तो यहाँतक कहता—'अजी, ये तो पूरे नास्तिक हैं। वैष्णवोंको छेड़नेमें ही इन्हें मज़ा आता है।' मैं उन सबकी बातें सुनता और चुप हो जाता। मेरा अन्तःकरण इन बातोंको कभी स्वीकार ही नहीं करता था। मैं बार-बार यही सोचता था—

निमाई पण्डित-जैसे सरस, सरल, सहृदय और भावुक पुरुष भक्तिहीन कभी हो नहीं सकते। इनके मुखका तेज ही इनकी भावी शक्तिका परिचय दे रहा है। आज आपके दर्शनके समयके भावको देखकर मेरे आनन्दकी सीमा नहीं रही। मैं कृतकृत्य हो गया। भगवत्-दर्शनसे जो आनन्द मिलता है, उसी आनन्दका मैं अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने आनन्दको प्रकट करनेमें असमर्थ हूँ।' इतना कहते-कहते संन्यासी महाशयका गला भर आया। आगे ये कुछ और भी कहना चाहते थे, किन्तु कह नहीं सके। उनके नेत्रोंमेंसे अश्रुधारा अब भी पूर्ववत् बह रही थी।

संन्यासी महाराजकी बातें सुनते-सुनते इन्हें कुछ चेतना हो गयी थी। इसलिये रुँधे हुए कण्ठसे कुछ अस्पष्ट स्वरमें इन्होंने कहा—'प्रभो! आज मैं कृतार्थ हुआ। मेरी गया-यात्रा सफल हुई। मेरी असंख्यों पीढ़ियोंका उद्धार हो गया, जो यहाँ आनेपर आपके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। तीर्थमें श्राद्ध करनेपर तो उन्हीं पितरोंकी मुक्ति होती है, जिनके निमित्त श्राद्ध-तर्पणादि कर्म किये जाते हैं, किन्तु आप-जैसे परम भागवत वैष्णवोंके दर्शनसे तो करोड़ों पीढ़ियोंके पितर स्वतः ही मुक्त हो जाते हैं। सब लोगोंको आपके दर्शन दुर्लभ हैं। जिनका भाग्योदय होता है, उन्हीको आपके दर्शन होते हैं।' यह कहते-कहते इन्होंने फिरसे संन्यासी महाशयके चरण पकड़ लिये। संन्यासीजीने हठपूर्वक अपने चरण छुड़ाये और इन्हें प्रेमवाक्योंसे आश्वासन दिया। पाठक समझ ही गये होंगे ये संन्यासी महाशय कौन हैं। ये वे ही भक्ति-बीजके अंकुरित करनेवाले श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजीके सर्वप्रधान प्रिय शिष्य श्रीईश्वरपुरी हैं, जिन्हें अन्तिम समयमें गुरुदेव अपना सम्पूर्ण तेज प्रदान करके इस संसारसे तिरोहित हो गये थे। नवद्वीपके प्रथम मिलनमें ही ये निमाई पण्डितके अलौकिक तेज और अद्वितीय रूप-लावण्यपर मुग्ध होकर इन्हें एकटक देखते-के-देखते ही रह गये थे। इन्हें इस प्रकार देखते देखकर निमाई

पण्डितने हँसकर कहा था—'आज हमारे घर ही भिक्षा कीजियेगा, तभी हमे दिनभर भलीभाँति देखते रहनेका सुअवसर प्राप्त हो सकेगा ।' उनकी प्रार्थनापर ये उनके घर भिक्षा करने गये थे और कुछ कालतक अपने स्वसम्पादित ग्रन्थ 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' को भी उन्हें सुनाते रहे । तभीसे पुरी महाशयके हृदय-पटलपर इनकी प्रेममयी मनोहर मूर्ति खिंच गयी थी। आज सहसा भेंट हो जानेपर दोनों ही आनन्दमें डूब गये और आनन्दके उद्वेगमें ही उपर्युक्त बातें हुई थीं ।

पुरी महाशयकी आज्ञा लेकर निमाई पण्डित अपने स्थानके लिये विदा हुए । स्थानपर पहुँचकर इन्होंने साथियोंको संग लेकर गयाके सभी मुख्य-मुख्य तीर्थोंके दर्शन किये और वहाँ जाकर यथाविधि शास्त्रीत्यनुसार श्राद्ध और पिण्डादि पितृ-कर्म किये ।

अन्तःसलिला भगवती फल्गुनदीमें जाकर इन्होंने पितरोंके लिये बालूकाके पिण्ड दिये । फल्गुका प्रवाह गुप्त है । उसका जल नीचे-ही-नीचे बहता है। ऊपरसे बालू ढकी रहती है । बालूको हटाकर जल निकाला जाता है और यात्री उसमें स्नान-सन्ध्यादि कृत्य करते हैं ।

प्रेत-गया, राम-गया, युधिष्ठिर-गया, भीम-गया, शिव-गया आदि सोलहों गयामें निमाई पण्डितने अपने साथियोंके साथ जा-जाकर पितरोंके पिण्ड और श्राद्धादि कर्म किये, सब स्थानोंमें दर्शन तथा श्राद्ध करके ये अपने ठहरनेके स्थानपर लौट आये ।

प्रेम-स्रोत उमड़ पड़ा

> शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
> र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
> गीतानि नामानि तदर्थकानि
> गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥*
>
> (श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९)

संसारमें उन्हीं मनुष्योंका जीवन धारण करना सार्थक कहा जा सकता है, जिनके हृदय-पटलपर हर समय मुरलीमनोहर मुकुन्दकी मञ्जुल मूर्ति नृत्य करती रहती हो। जिनके कर्ण-रन्ध्रोंमें प्रतिक्षण मनोहर मुरलीकी मधुर

* रथाङ्गपाणि भगवान्के 'चक्रपाणि' 'गोपिजनवल्लभ' 'राधारमण' आदि सुन्दर और सुमनोहर नामोंका तथा उनके अर्थोंका गान और उनकी अलौकिक दिव्य-दिव्य लीलाओंका संकीर्तन करता हुआ श्रेष्ठ भक्त निर्लज्ज और निरीह होकर निःसंग-भावसे पृथ्वीपर विचरण करे।

तान सुनायी पड़ती रहती हो। जिनके चक्षु भगवान्‌की मूर्तिके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुका दर्शन ही न करना चाहते हों, जिनका मनमधुप सदा भक्त-भय-हारी भगवान्‌के चरण-कमलोंका मधुरातिमधुर मकरन्द पान करता रहता हो, ऐसे शुभ-दर्शन भक्त स्वयं तो कृतकृत्य होते ही हैं, वे सम्पूर्ण संसारको भी अपनी पद-रजसे पावन बना देते हैं। उनकी वाणीमें उन्माद होता है, दृष्टिमें जीवोंको अपनी ओर आकर्षित करनेकी शक्ति होती है, उनके सभी कार्य अलौकिक होते हैं, उनके सम्पूर्ण कार्य लोकग्राह्य और संसारके कल्याण करनेवाले ही होते हैं।

निमाई पण्डितकी हृदय कन्दरामेंसे जो त्रैलोक्यपावन प्रेम-स्रोत उमड़नेवाला था, जिसका सूत्रपात चिरकालसे हो रहा था, अद्वैताचार्य आदि भक्तगण जिसकी लालसा लगाये वर्षोंसे प्रतीक्षा कर रहे थे, उस स्रोतका पृथ्वीपर परिस्फुट होनेका सुहावना समय अब सन्निकट आ पहुँचा। जगत्-विख्यात गयाधामको ही उसके प्रकट करनेका अखण्ड यश प्राप्त हो सका। यही पावन पृथ्वी इसका कारण बन सकी। अहा 'वसुन्धरा पुण्यवती च तेन'। सचमुच वह वसुन्धरा बड़भागिनी है, जिसका संसर्ग किसी महापुरुषकी लोकविख्यात घटनाके साथ हो सके। वही संसारमें पावन तीर्थके नामसे विख्यात हो जाता है।

निमाई पण्डित अपने निवासस्थानपर अन्य साथियोंके साथ भोजन बना रहे थे। दाल-साग बनकर तैयार हो चुके थे। चूल्हेमेंसे थोड़ी अग्नि निकालकर दालको उसपर रख दिया था। साग दूसरी ओर चौकेमें ही रखा था। चूल्हेपर भात बन रहा था। निमाई उसे बार-बार देखते। चावल तैयार तो हो चुके थे, किन्तु उनमें थोड़ा-सा जल और शेष था, उसे जलानेके लिये और भातको शुष्क बनानेके लिये हमारे पण्डितने उसे ढक दिया था। थोड़ी देर बाद वे कटोरीको भातपरसे उतार ही रहे थे, कि इतनेमें ही उन्हें दूरसे पुरी महाशय अपनी ओर आते हुए दिखायी

दिये। कटोरीको ज्यों-की-त्यों ही पृथ्वीपर पटककर ये उनकी चरण-वन्दना करनेके लिये दौड़े। पुरीने प्रेमपूर्वक इनका आलिंगन किया और वे हँसते हुए बोले— 'अपने स्थानसे किसी शुभ मुहूर्तमें ही चले थे, जो ठीक तैयारी-के समयपर आ पहुँचे।'

नम्रताके साथ निमाई पण्डितने उत्तर दिया—'जिस समय भाग्योदय होता है और पुण्य-कर्मोंके संस्कार जाग्रत होते हैं, उस समय आप-जैसे महानुभावोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है। भोजन बिलकुल तैयार है, हाथ-पैर धोइये और भिक्षा करनेकी कृपा कीजिये।'

हँसते हुए पुरी महाशय बोले—'यह खूब कही, अपने लिये बनाये हुए अन्नको हमें ही खिला दोगे, तब तुम क्या खाओगे?'

नम्रताके साथ नीची निगाह करके इन्होंने उत्तर दिया—'अन्न तो आपहीका है, मैं तो केवल रन्धन करनेवाला पाचकमात्र हूँ, आज्ञा होगी तो और बना दूँगा।'

पुरीने देखा ये भिक्षा बिना कराये मानेंगे नहीं। इसलिये बोले—'अच्छा, फिरसे बनानेकी क्या आवश्यकता है, जो बना है उसीमेंसे आधा-आधा बाँटकर खा लेंगे। क्यों मंजूर है न? किन्तु हम ठहरे संन्यासी और तुम ठहरे गृहस्थी। हमारी भिक्षा होगी और तुम्हारा होगा भोजन। इस प्रकार कैसे काम चलेगा? तुम भी थोड़ी देरके लिये भिक्षा ही कर लेना।'

कुछ हँसते हुए निमाई पण्डितने कहा—'अच्छा, जैसी आज्ञा होगी, वही होगा। आप पहले हाथ-पैर तो धोवें।' यह कह इन्होंने अपने हाथोंसे पुरीजीके पैर धोये और उन्हें एक सुन्दर आसनपर बिठाया। पुरी महाशय बैठकर भोजन करने लगे। जब निमाई-जैसे प्रेमावतार परोसनेवाले हों, तब भला फिर किसकी तृप्ति हो सकती है, धीरे-धीरे इन्होंने आग्रह कर-करके सभी सामान पुरी महाशयको परोस दिया और वे भी प्रेमके वशीभूत

होकर सारा खा गये । अग्नि तो जल ही रही थी, क्षणभरमें ही दूसरी बार भी भोजन तैयार हो गया मानो अन्नपूर्णाने आकर स्वयं ही भोजन तैयार कर दिया हो । भोजन तैयार होनेपर इन्होंने भी भोजन किया और फिर परस्पर बातें होने लगीं ।

हाथ जोड़े हुए निमाई पण्डितने कहा—'भगवन् ! अब तो हमें बहुत दिन इस ग्राह्यवृत्तिके जीवनको बिताते हुए हो गये, अब हमें अपने चरणो-की शरण प्रदान कीजिये । कृपा करके थोड़ी-बहुत श्रीकृष्णभक्ति हमें भी दीजिये ।'

इनकी बातका उत्तर देते हुए पुरी महाशयने कहा—'आप तो स्वयं ही श्रीकृष्ण-स्वरूप हैं, आपको भला भक्ति कौन प्रदान कर सकता है ! आप स्वयं ही सम्पूर्ण संसारको प्रेम प्रदान कर सकते हैं ।'

दीनताके साथ इन्होंने कहा—'प्रभो ! मेरी वञ्चना न कीजिये । मेरी प्रार्थना स्वीकृत कीजिये और मुझे श्रीकृष्ण-मन्त्र प्रदान कर दीजिये ।'

पुरीने सरलताके साथ कहा—'आप श्रीकृष्ण-मन्त्र प्रदान करनेको ही कहते हैं, हम आपके कहनेपर अपने प्राण प्रदान कर सकते हैं, किन्तु हममें इतनी योग्यता हो तब तो ? हम स्वयं अधम हैं । प्रेमका रहस्य हम स्वयं नहीं जानते फिर आप-जैसे कुलीन और विद्वान् ब्राह्मणको हम मन्त्र-प्रदान कैसे कर सकेंगे ?'

बड़ी सरलताके साथ आँखोंमें आँसू भरे हुए इन्होंने उत्तर दिया—'आप सर्वसामर्थ्यवान् हैं, आप स्वयं ईश्वर हैं । आपका श्रीविग्रह ही प्रेमकी सजीव मूर्ति है । आप चाहें तो संसारभरको प्रेम-पीयूषमें प्लावित कर सकते हैं ।'

कुछ विवशता दिखाते हुए पुरीने कहा—'संसारको प्रेम-पीयूषके पुण्य-पयोधिमें परिप्लावित करनेकी त्र शक्ति ही है, किन्तु आप

अपने गुरुपदके गुरुतर गौरवका सौभाग्य मुझे ही प्रदान करना चाहते हैं, तो मैं विवश हूँ। आपकी आज्ञाको टाल ही कौन सकता है? जैसी आपकी आज्ञा होगी, उसी प्रकार मैं करनेके लिये तैयार हूँ।' इतना कहकर पुरी महाशय मन्त्र-दीक्षा देनेके लिये तैयार हो गये। उसी समय पत्रा देखकर दीक्षाकी शुभ तिथि निश्चित की गयी।

निगत तिथि आ गयी। निमाई पण्डित नवीन उल्लास और आनन्दके साथ मन्त्र-दीक्षा लेनेके लिये तैयार हो गये। इनके सभी साथियोंने उस दिन दीक्षोत्सवके उपलक्ष्यमें खूब तैयारियाँ की थीं। नियत समयपर पुरी महाशय आ गये। उनकी पद-धूलि इन्होंने मस्तकपर चढ़ायी और स्वस्त्ययनके पुण्य-श्लोक पढ़कर और भगवान्‌के मधुर-मञ्जुल नामोंका संकीर्तन करनेके अनन्तर पुरी महाशयने इनके कानमें 'गोपीजनवल्लभाय नमः' इस दशाक्षर-मन्त्रका उपदेश कर दिया। मन्त्रके श्रवणमात्रसे ही ये मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और इन्हें अपने शरीरका बिल्कुल ही होश नहीं रहा।

साथियोंने भाँति-भाँतिके उपचार करके इन्हें सावधान किया। बहुत देरके अनन्तर इन्हें कुछ होश हुआ। अब तो इनकी विचित्र ही दशा हो गयी। कभी तो खूब जोरोंके साथ हँसते, कभी रोते और कभी 'हा कृष्ण! हा पिता!' ऐसा कहकर जोरोंसे रुदन करते। कभी यह कहते हुए कि 'मैं तो श्रीकृष्णके पास व्रजमें जाऊँगा' व्रजकी ओर भागते। इनके साथी इन्हें पकड़-पकड़ लाते। किन्तु ये पागलोंकी भाँति उनसे अपने शरीरको छुड़ा-छुड़ाकर भागते। कभी फिर उसी भाँति जोरोंसे प्रलाप करने लगते। रोते-रोते कहते—'प्यारे! मुझे छोड़कर तुम कहाँ चले गये? मेरे कृष्ण! मुझे अपने साथ ही ले चलो।' इतना कहकर फिर जोरोंसे रोने लगते।

कभी रोते-रोते अपने विद्यार्थियों तथा साथियोंसे कहते—'भैया! तुमलोग अब अपने-अपने घर जाओ। अब हम लौटकर घर

नहीं जायँगे, हम तो अब श्रीकृष्णके पास वृन्दावनमें ही जाकर रहेंगे। हमारी माताको हमारा हाथ जोड़कर प्रणाम कहना और कह देना तेरा निमाई तो पागल हो गया है।' इनके सभी साथी इनकी ऐसी अलौकिक दशा देखकर चकित रह गये और इनका भाँति भाँतिसे प्रबोध करने लगे, किन्तु ये किसीकी मानते ही नहीं थे। इस प्रकार रुदन तथा प्रलापमें रात्रि हो गयी। सभी साथी तथा शिष्यगण सुखकी नींदमें सो गये, किन्तु इन्हें नींद कहाँ! सुखी संसार सुखरूपी मोह-निशामें शयन कर सकता है, किन्तु जिनके हृदयमें विरह-वेदनाकी तीव्र ज्वाला उठ रही है, उनके नयनोंमें नींद कहाँ? सबके सो जानेपर ये जल्दीसे उठ खड़े हुए और रात्रिमें ही रुदन करते हुए व्रजकी ओर दौड़े। इनके प्राण श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये छटपटा रहे थे। इन्होंने साथी तथा शिष्योंकी कुछ भी परवा न की और घोर अन्धकारमें अकेले ही अलक्षित स्थानकी ओर चल पड़े। ये थोड़ी दूर ही चले होंगे कि इन्हें मानो अपने हृदयमें एक दिव्य वाणी सुन पड़ी। इन्हें भास हुआ मानो कोई अलक्षितभावसे कह रहा है—'तुम्हारा व्रजमें जानेका अभी समय नहीं आया है, अभी कुछ काल और धैर्य धारण करो। अभी अपने सत्संगसे नवद्वीपके भक्तोंको आनन्दित करके प्रेमदान करो। योग्य समय आनेपर ही तुम व्रजमें जाना।' आकाशवाणीका आदेश पाकर ये लौटकर अपने स्थानपर आ गये और आकर अपने आसनपर पड़ गये।

नदियामें प्रत्यागमन

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥*
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

प्रेममें पागल हुए उन मतवालोंके दर्शन जिन लोगोंको स्वप्नमें भी कभी हो जाते हैं, वे संसारमें बड़भागी हैं, फिर ऐसे भक्तोंके निरन्तर सत्सङ्गका सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हो सका है, उनके भाग्यकी तो भला सराहना कर ही कौन सकता है ? इसीलिये तो महाभागवत विदुरजीने भगवत्-दासोंके दासोंका दास बननेमें ही अपनेको कृतकृत्य माना है। सचमुच भगवत्-सङ्गियोंका सङ्ग बड़ा ही मधुमय, आनन्दमय और रसमय

---

* नाम-संकीर्तन करनेके कारण जिसका प्रभुके पाद-पद्मोंमें दृढ़ अनुराग उत्पन्न हो गया है, जिसका चित्त प्रेमसे द्रवीभूत हो गया है ऐसा भक्त पिशाचसे पकड़े हुएके समान अथवा पागलकी भाँति कभी तो जोरसे खिलखिलाकर हँस पड़ता है, कभी दहाड़ मारकर रोता है, कभी रोते-रोते हू-हू करके चिल्लाने लगता है, कभी गाने लगता है और कभी संसारकी कुछ भी परवा न करते हुए आनन्दके उद्वेगमें नृत्य करने लगता है। (ऐसे ही भक्तोंके पाद-पद्मोंकी रजसे यह पृथ्वी पावन बनती है)

नहीं जायँगे, हम तो अब श्रीकृष्णके पास वृन्दावनमें ही जाकर रहेंगे। हमारी माताको हमारा हाथ जोड़कर प्रणाम कहना और कह देना तेरा निमाई तो पागल हो गया है।' इनके सभी साथी इनकी ऐसी अलौकिक दशा देखकर चकित रह गये और इनका भाँति-भाँतिसे प्रबोध करने लगे, किन्तु ये किसीकी मानते ही नहीं थे। इस प्रकार रुदन तथा प्रलापमें रात्रि हो गयी। सभी साथी तथा शिष्यगण सुखकी नींदमें सो गये, किन्तु इन्हें नींद कहाँ! सुखी संसार सुखरूपी मोह-निशामें शयन कर सकता है, किन्तु जिनके हृदयमें विरह-वेदनाकी तीव्र ज्वाला उठ रही है, उनके नयनोंमें नींद कहाँ? सबके सो जानेपर ये जल्दीसे उठ खड़े हुए और रात्रिमें ही रुदन करते हुए व्रजकी ओर दौड़े। इनके प्राण श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये छटपटा रहे थे। इन्होंने साथी तथा शिष्योंकी कुछ भी परवा न की और घोर अन्धकारमें अकेले ही अलक्षित स्थानकी ओर चल पड़े। ये थोड़ी दूर ही चले होंगे कि इन्हें मानो अपने हृदयमें एक दिव्य वाणी सुन पड़ी। इन्हें भास हुआ मानो कोई अलक्षितभावसे कह रहा है—'तुम्हारा व्रजमें जानेका अभी समय नहीं आया है, अभी कुछ काल और धैर्य धारण करो। अभी अपने सत्संगसे नवद्वीपके भक्तोंको आनन्दित करके प्रेमदान करो। योग्य समय आनेपर ही तुम व्रजमें जाना।' आकाशवाणीका आदेश पाकर ये लौटकर अपने स्थानपर आ गये और आकर अपने आसनपर पड़ गये।

नदियामें प्रत्यागमन

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥*

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

प्रेममें पागल हुए उन मतवालोंके दर्शन जिन लोगोंको स्वप्नमें भी कभी हो जाते हैं, वे संसारमें बड़भागी हैं, फिर ऐसे भक्तोंके निरन्तर सत्सङ्गका सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हो सका है, उनके भाग्यकी तो भला सराहना कर ही कौन सकता है ? इसीलिये तो महाभागवत विदुरजीने भगवत्-दासोंके दासोंका दास बननेमें ही अपनेको कृतकृत्य माना है। सचमुच भगवत्-सङ्गियोंका सङ्ग बड़ा ही मधुमय, आनन्दमय और रसमय

---

* नाम-संकीर्तन करनेके कारण जिसका प्रभुके पाद-पद्मोंमें दृढ अनुराग उत्पन्न हो गया है, जिसका चित्त प्रेमसे द्रवीभूत हो गया है ऐसा भक्त पिशाचसे पकड़े हुएके समान अथवा पागलकी भाँति कभी तो जोरसे खिलखिलाकर हँस पड़ता है, कभी दहाड़ मारकर रोता है, कभी रोते-रोते हू-हू करके चिल्लाने लगता है, कभी गाने लगता है और कभी संसारकी कुछ भी परवा न करते हुए आनन्दके उद्वेगमें नृत्य करने लगता है। (ऐसे ही भक्तोंके पाद-पद्मोंकी रजसे यह पृथ्वी पावन बनती है)

होता है । उनका क्षणभरका भी संसर्ग हमें संसारसे बहुत दूर ले जाता है । उनके दर्शनमात्रसे ही आनन्द उमड़ने लगता है ।

निमाई पण्डितको मन्त्र-दीक्षा देकर श्रीईश्वरपुरी किधर और कहाँ चले गये, इसका अन्ततक किसीको पता नहीं चला । उन्होंने सोचा होगा, जगत्-पूज्य प्रेमावतार लोक-शिक्षाके निमित्त गुरु मानकर हमें प्रणाम करेंगे, यह हमारे लिये असहनीय होगा, इसलिये अब इस संसारमें प्रकट-रूपसे नहीं रहना चाहिये । इसीलिये वे उसी समय अन्तर्धान हो गये । फिर जाकर कहाँ रहे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं ।

इधर प्रातःकाल निमाई पण्डित उठे । लोगोंने देखा उनके शरीरका सारा कपड़ा आँसुओंसे भीगा हुआ है, वे क्षणभरके लिये भी रात्रिमें नहीं सोये थे । रातभर 'हा कृष्ण ! मेरे प्यारे ! ओः बाप ! मुझे छोड़कर किधर चले गये ?' इसी प्रकार विरहयुक्त वाक्योंके द्वारा रुदन करते रहे । इनकी ऐसी विचित्र अवस्था देखकर अब साथियोंने गयाजीमें अधिक ठहरना उचित नहीं समझा । इनके शिष्य इन्हें बड़ी सावधानीके साथ इनके शरीरको सम्हालते हुए नवद्वीपकी ओर ले चले । ये किसी अचैतन्य पदार्थकी भाँति शिष्योंके सहारेसे चलने लगे । शरीरका कुछ भी होश नहीं है । कभी-कभी होशमें आ जाते हैं, फिर जोरोंसे चिल्ला उठते हैं, 'हा कृष्ण ! किधर चले गये ? प्राणनाथ ! रक्षा करो ! पतितपावन ! इस पापीका भी उद्धार करो !' इस प्रकार ये श्रीकृष्णप्रेममें बेसुध हुए साथियोंके सहित कुमारहट्ट नामके ग्राममें आये । जिनसे इन्होंने श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ली थी, जिन्होंने इन्हें पण्डितसे पागल बना दिया था, उन्हीं श्रीईश्वरपुरीजीका जन्म स्थान इसी कुमारहट्ट नामक ग्राममें था । प्रभुने उस नगरीको दूरसे ही साष्टाङ्ग प्रणाम किया । फिर साधारण लोगों-को गुरु-महिमाका महत्त्व बतानेके लिये इन्होंने उस ग्रामकी धूलि अपने

वस्त्रमें बाँध ली और साथियोंसे कहा—'इस धूलिमें कभी श्रीगुरुदेवके चरण पड़े होंगे। बाल्यकालमें हमारे गुरुदेवका श्रीविग्रह इसमें कभी लोट-पोट हुआ होगा। इसलिये यह रज हमारे लिये अत्यन्त ही पवित्र है। इससे बढ़कर त्रिलोकीमें कोई भी वस्तु नहीं हो सकती। कुमारहट्टका कुत्ता भी हमारे लिये वन्दनीय है। जिस स्थानमें हमारे गुरुदेवने जन्म धारण किया है, जहाँकी पावन भूमिमें उन्होंने क्रीडा की है, वह हमारे लिये लाखों तीर्थोंसे बढ़कर है।' इस प्रकार गुरुदेवका माहात्म्य प्रदर्शन करते हुए वह आगे बढ़े और थोड़े दिनोंमें नवद्वीप पहुँच गये।

इनके गयासे लौट आनेका समाचार सुनकर सभी इष्ट-मित्र, स्नेही तथा छात्र इनके दर्शनके लिये आने लगे। कोई आकर इन्हें प्रणाम करता, कोई चरण-स्पर्श करता, कोई गले लगकर मिलता। ये भी सबका यथोचित आदर करते। किसीको पुचकारते, किसीको आशीर्वाद देते, किसीके सिरपर हाथ रख देते और जो अवस्थामें बड़े थे और इनके माननीय थे, उन्हें ये स्वयं प्रणाम करते। वे इन्हें भाँति-भाँतिके आशीर्वाद देते। शचीमाता तथा विष्णुप्रियाके आनन्दका तो कुछ ठिकाना ही नहीं था। वे मन-ही-मन प्रसन्न हो रही थीं। उस भारी भीड़में वे दोनों एक ओर चुपचाप बैठी थीं। सबसे मिल लेनेपर इन्होंने प्रेमपूर्वक सभीको विदा किया और स्वयं स्नानादिमें लग गये। इनका भाव विचित्र था, शरीरकी दशा एकदम परिवर्तित हो गयी थी। माताको इनकी ऐसी दशा देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु वे कुछ पूछ न सकीं।

तीसरे पहर जब ये स्वस्थ होकर बैठे तब श्रीमान् पण्डित सदाशिव कविराज, मुरारी गुप्त आदि इनके अन्तरङ्ग स्नेही इनके समीप आकर गया-यात्राका वृत्तान्त पूछने लगे। सबकी जिज्ञासा देखकर इन्होंने कहना प्रारम्भ किया—'पुरीकी यात्राका क्या वर्णन करूँ? मैं तो पागल हो गया।

जिस समय पादपद्मोंका माहात्म्य मेरे कानोंमें पड़ा, जब मैंने सुना कि प्रभुके पादपद्म सभी प्रकारके प्राणियोंको पावन और प्रेममय बनानेवाले हैं, पापी-से-पापी प्राणी भी इन पादपद्मोंका सहारा पाकर अपार संसारसागरसे सहजमें ही तर जाता है, जिन पादपद्मोंके प्रक्षालित पयसे त्रिलोकपावनी भगवती भागीरथी निकली हैं, उन पादपद्मोंके दर्शन करनेसे किसे परमशान्ति न मिल सकेगी ?' इतना सुनते ही मैं बेहोश हो गया।

प्रभु अन्तिम शब्दोंको ठीक-ठीक कह भी न पाये थे कि वे बीचमें ही बेहोश होकर गिर पड़े। लोगोंको इनकी ऐसी दशा देखकर महान् आश्चर्य हुआ। सभी भौंचक्के-से एक दूसरेकी ओर देखने लगे। तीन महीने पहिले उन्होंने जिस निमाईको देखा था, आज उसे इस प्रकार प्रेममें विह्वल देखकर उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। निमाई लम्बी-लम्बी साँसें ले रहे थे। उनकी आँखोंमेंसे निरन्तर अश्रु निकल रहे थे, शरीर पसीनेसे लथपथ हो रहा था। थोड़ी देरमें वे 'हा कृष्ण! हा प्राणनाथ! प्यारे! ओ मेरे प्यारे! मुझे छोड़कर कहाँ चले गये?' यह कहते-कहते बहुत जोरोंके साथ रुदन करने लगे। सभीने शान्त करनेकी चेष्टा की, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। इन्होंने रुँधे हुए कण्ठसे कहा—'आज हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है। कल हम स्वयं शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीके निवासस्थानपर आकर अपनी यात्राका समाचार सुनायँगे।' इतना सुनकर इनके सभी साथी अपने-अपने स्थानोंके लिये चले गये।

अब तो इनके इस अद्भुत नूतन भावकी नवद्वीपमें स्थान-स्थानपर चर्चा होने लगी। हँसते-हँसते श्रीमान् पण्डितने श्रीवास आदि भक्तोंसे कहा—'आज हम आपलोगोंको बड़ी ही प्रसन्नताकी बात सुनाना चाहते हैं, आपलोग सभी सुनकर परम आश्चर्य करेंगे। गयामें जाकर निमाई पण्डितकी तो काया-पलट ही हो गयी। वे श्रीकृष्ण प्रेममें विह्वल होकर कभी

रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी हँसते हैं और कभी-कभी जोरोंसे नृत्य करने लगते हैं। उनके जीवनमें महान् परिवर्तन हो गया है। आजतक किसीको स्वप्नमें भी ऐसी आशा नहीं थी कि उनका जीवन इस प्रकार एक साथ ही इतना पलटा खा जायगा।'

परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्रीवास पण्डितने कहा—'सचमुच ऐसी बात है? तब तो फिर वैष्णवोंके भाग्य ही खुल गये। वैष्णवोंका एक प्रधान आश्रय हो गया। निमाई पण्डितके वैष्णव हो जानेपर भक्ति फिरसे सनाथ हो गयी। आप हँसी तो नहीं कर रहे हैं? क्या यथार्थमें ऐसी बात है?'

जोर देकर श्रीमान् पण्डितने कहा—'मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, हँसीका क्या काम! आप स्वयं जाकर देख आइये, वे तो बालकोंकी भाँति फूट-फूटकर रुदन कर रहे हैं। कल सदाशिव, मुरारी आदि सभी लोगोंको शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीके स्थानपर बुलाया है, वहाँ अपनी यात्राका समस्त वृत्तान्त सुनावेंगे।' इस बातको सुनकर श्रीवास आदि सभी भक्तोंको परम सन्तोष हुआ। किन्तु गदाधर पण्डितको अब भी कुछ सन्देह ही बना रहा। उन्होंने निश्चय किया कि ब्रह्मचारीके घरमें छिपकर सब बातें सुनूँगा, देखें उन्हें यथार्थमें श्रीकृष्ण-प्रेम उत्पन्न हुआ है या नहीं। यह सोचकर वे दूसरे दिन नियत समयके पूर्व ही शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीके घरमें जा छिपे।

नियत समयपर सदाशिव पण्डित, मुरारी गुप्त, नीलाम्बर चक्रवर्ती तथा श्रीमान् पण्डित आदि सभी मुख्य-मुख्य गण्य-मान्य भद्रपुरुष प्रभुकी यात्राका समाचार सुनने शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीके स्थानपर गङ्गातीर आ पहुँचे। थोड़ी देरमें प्रभु भी आ पहुँचे। आते ही इन्होंने वही राग अलापना आरम्भ कर दिया। कहने लगे—'भैया! मुझे श्रीकृष्णसे मिला दो,

सभी प्रेमावेशमें आकर रुदन करने लगे। सभी अपने आपेको भूल गये। इस प्रकार रुदन और विलाप करते हुए शाम हो गयी और सभी अपने-अपने घर लौट आये।

दूसरे दिन स्वस्थ होकर महाप्रभु अपने विद्या-गुरु श्रीगंगादास पण्डित-के घर गये और उन्हें प्रणाम करके बैठ गये। गंगादासजीने इनका आलिङ्गन किया और यात्राका सभी वृत्तान्त पूछा। वे कहने लगे—'तुमने तो तीन-चार महीने लगा दिये। तुम्हारे सभी विद्यार्थी अत्यन्त दुखी थे, उन्हें तुम्हारे पाठके अतिरिक्त किसी पण्डितका पाठ अच्छा ही नहीं लगता है। इसीलिये वे लोग तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा कर रहे थे। अच्छा हुआ अब तुम आ गये। अब तो पढ़ाओगे न?'

मेरा प्यारा कृष्ण कहाँ चला गया ? हाय रे ! मेरा दुर्भाग्य ! मेरा श्रीकृष्ण मुझसे बिछुड़ गया ! मुझे बिलखता ही छोड़ गया ।' इतना कहते-कहते ये मूर्छित होकर गिर पड़े । इनकी ऐसी दशा देखकर भीतर घरमें छिपे हुए गदाधर भी प्रेममें विह्वल होकर मूर्च्छा आनेके कारण पृथ्वीपर गिर पड़े और जोरोंसे रुदन करने लगे । कुछ कालके अनन्तर प्रभुकी मूर्च्छा भंग हुई । वे कुछ कालके लिये प्रकृतिस्थ हुए, किन्तु फिर भारी वेदना उठनेके कारण जोरोंसे चीत्कार मारकर रुदन करने लगे । इनके रुदनको देखकर वहाँ जितने भी मनुष्य बैठे थे, सभी फूट-फूटकर रोने लगे । सबके रुदनसे आकाश गूँजने लगा । क्रन्दनकी ध्वनिसे आकाशमण्डल भर गया । बहुत-से दर्शनार्थी आ-आकर खड़े हो गये । उनकी आँखोंमेंसे भी अश्रु बहने लगे । इस प्रकार शुक्लाम्बरका घर रुदनके कारण कोलाहलपूर्ण हो गया ।

कुछ कालके अनन्तर फिर प्रभु सुस्थिर हुए । उन्हें कुछ-कुछ बाह्यज्ञान होने लगा । स्थिर होनेपर प्रभुने शुक्लाम्बरजीसे पूछा—'ब्रह्मचारीजी ! घरके भीतर कौन है ?'

प्रेमके साथ ब्रह्मचारीजीने कहा—'आपका गदाधर है ।' 'गदाधर' इतना सुनते ही वे फिर फूट-फूटकर रोने लगे । रोते-रोते कहने लगे—'गदाधर ! भैया ! तुम ही धन्य हो । मनुष्यजन्मका यथार्थ फल तो तुमने ही प्राप्त किया है, हम तो वैसे ही रह गये । हमारी तो आयु वैसे ही बरबाद हुई ।' इतना कहकर फिर वही 'हा कृष्ण ! हा अशरणशरण ! हा पतितपावन ! कहाँ चले गये ।' फिर अधीर होकर लोगोंके पैरोंपर अपना सिर रख-रखकर कहने लगे—'भैया ! मुझ दुखियाके ऊपर दया करो ! मेरे दुःखको दूर करो । मुझे श्रीकृष्णसे मिला दो । मेरे प्राण उन्हींसे मिलनेके लिये तड़प रहे हैं ।'

प्रभुके इन दीनताभरे वाक्योंको सुनकर सभीका हृदय फटने लगा ।

सभी प्रेमावेशमें आकर रुदन करने लगे। सभी अपने आपेको भूल गये। इस प्रकार रुदन और विलाप करते हुए शाम हो गयी और सभी अपने-अपने घर लौट आये।

दूसरे दिन स्वस्थ होकर महाप्रभु अपने विद्या-गुरु श्रीगंगादास पण्डितके घर गये और उन्हें प्रणाम करके बैठ गये। गंगादासजीने इनका आलिङ्गन किया और यात्राका सभी वृत्तान्त पूछा। वे कहने लगे—'तुमने तो तीन-चार महीने लगा दिये। तुम्हारे सभी विद्यार्थी अत्यन्त दुखी थे, उन्हें तुम्हारे पाठके अतिरिक्त किसी पण्डितका पाठ अच्छा ही नहीं लगता है। इसीलिये वे लोग तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा कर रहे थे। अच्छा हुआ अब तुम आ गये। अब तो पढ़ाओगे न?'

महाप्रभुने कहा—'हाँ, प्रयत्न करूँगा, श्रीकृष्ण कृपा करेंगे तो सब कुछ होगा। सब उन्हींके ऊपर निर्भर है।' इस प्रकार उन्हें आश्वासन देकर फिर आप मुकुन्द संजयके चण्डीमण्डपमें, जहाँ आपकी पाठशाला थी, वहाँ आये। संजय महाशय बड़े ही आनन्दके साथ प्रभुसे मिले। उनके पुत्र पुरुषोत्तम संजयने प्रभुके पादपद्मोंमें श्रद्धाभक्तिके साथ प्रणाम किया। प्रभुने उसे आलिङ्गन किया। इस प्रकार दोनों पिता-पुत्र प्रभुके दर्शनोंसे परम प्रसन्न हुए।

स्त्रियोंने जब प्रभुके आगमनके समाचार सुने तो वे बड़ी ही आनन्दित हुईं और परस्परमें भाँति-भाँतिकी बातें कहने लगीं। कोई कहती—'अब तो निमाई पण्डित एकदम बदल आये।' कोई कहती—'बड़े भाग्यसे भगवत्-भक्ति प्राप्त होती है। यह सौभाग्यकी बात है कि निमाई-जैसे पण्डित परम भागवत वैष्णव बन गये।' इस प्रकार सभी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुरूप भाँति-भाँतिकी बातें कहने लगीं। सबसे मिल-जुलकर निमाई घर लौट आये।

वही प्रेमोन्माद

यदाग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-

त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।

मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते

नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥*

(श्रीमद्भा० ११)

जिसके हृदयमें भगवत्प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे फिर अन्य संसारी

---

* प्रेमी भक्त प्रेमके भावावेशमें पिशाचसे पकड़े जानेवाले मनुष्यके समान कभी तो खिलखिलाकर हँस पड़ता है, कभी जोरोंसे चीत्कार करने लगता है, कभी भगवान्‌की मञ्जुल मूर्तिका ध्यान करने लगता है, कभी लोगोंके चरण पकड़-पकड़-कर उनकी वन्दना करता है, फिर बार-बार लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगता है और लोकलज्जाकी कुछ भी परवा न करता हुआ जोरोंसे हे हरे ! हे जगत्पते ! हे नारायण ! इस प्रकार उच्चारण करने लगता है ।

बातें भली ही किस प्रकार लग सकती हैं ? जिसकी जिह्वाने मिश्रीका रसास्वाद कर लिया फिर वह गुड़के मैलको आनन्द और उल्लासके साथ स्वेच्छासे कब पसंद कर सकती है ? स्थायी प्रेम प्राप्त होनेपर तो मनुष्य सचमुच पागल बन जाता है, फिर उसे इस बाह्य संसारका होश ही नहीं रहता। जिन्हें किन्हीं महापुरुषकी कृपासे या किसी पुण्य-स्थानके प्रभावसे क्षण-भरके लिये प्रेमावेश हो जाता है, वह तो वास्तवमें प्रेमकी झलक है। जैसे पर्वतके शिखरके ऊपरके बने हुए मन्दिरकी किञ्चिन्मात्र धुँधली सी चोटी देखकर सैकड़ों कोस दूरसे ही कोई पथिक आनन्दमें उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे कि हम तो अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँच गये। यही दशा उस क्षणिक प्रेमीकी है। वास्तवमें अभी वह सच्चे प्रेमसे बहुत दूर है। प्रेममार्गमें यथार्थ रीतिसे प्रवेश हो जानेपर तो उसकी वृत्ति संसारी विषयोंमें प्रवेश कर ही नहीं सकती। वह तो सदा प्रेम-मदमें उन्मत्त-सा ही बना रहेगा। वह न तो क्षणभरमें ऊपर ही चढ़ जायगा और न दूसरे ही क्षणमें नीचे गिर जायगा। उसकी स्थिति तो सदा एक-सी बनी रहेगी। कबीरदासजी कहते हैं—

छनहिं चढ़ै छन उतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥

वास्तवमें प्रेमीकी स्थिति तो सदा एक ही रस रहती है, उसे प्रतिक्षण अपने प्रियतमसे मिलनेकी छटपटाहट होती रहती है। वह सदा अतृप्त ही बना रहता है। प्यारेके सिवा उसका दूसरा कोई है ही नहीं। उसका प्रियतम उसे चाहता है या नहीं इसकी उसे परवा नहीं। इस बातका वह स्वप्नमें भी ध्यान नहीं करता। वह तो अपने प्यारेको ही सर्वस्व समझकर उसकी स्मृतिमें सदा अधीर-सा बना रहता है। रसिक रसखानने प्रेमके स्वरूपका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

इक अंगी बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान।
गनैं प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

मुझे इच्छा नहीं। मेरा प्यारा, मेरे जीवनका सहारा, मेरी आँखोंका तारा यह निमाई स्वच्छ और नीरोग बना रहे, यही मेरी प्रार्थना है।' माता बार-बार निमाईके मुखकी ओर देखतीं और उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर अत्यन्त ही दुखी होतीं।

महाप्रभु अब जो भी काम करना चाहते, उसे ही नहीं कर सकते। काम करते-करते उन्हे अपने प्रियतमकी याद आ जाती और उसीके विरहमें बेहोश होकर गिर पड़ते। ठीक-ठीक भोजन भी नहीं कर सकते। स्नान, सन्ध्या, पूजाका उन्हें कुछ भी होश नहीं, मुखसे निरन्तर श्रीकृष्णके मधुर नामोंका ही अपने-आप उच्चारण होता रहता है। किसीकी बातका उत्तर भी देते हैं तो उसमें भी भगवान्‌की अलौकिक लीलाओंका ही वर्णन होता है। किसीसे बातें भी करते हैं, तो श्रीकृष्णके ही सम्बन्धकी करते हैं। अर्थात् वे श्रीकृष्णके सिवा कुछ जानते ही नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं, श्रीकृष्ण ही उनके धन हैं, अर्थात् उनके सर्वस्व श्रीकृष्ण ही हैं, उनके लिये संसारमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

प्रभुके सब विद्यार्थियोंने जब सुना कि गुरुजी गयाधामकी यात्रा करके लौट आये हैं, तो वे एक-एक करके उनके घरपर आने लगे और पाठशालामें चलकर पढ़ानेकी प्रार्थना करने लगे। सबके बहुत आग्रह करनेपर प्रभु पाठशालामें पढ़ानेके निमित्त गये। किन्तु वे पढ़ावें क्या, लौकिक शास्त्रोंको तो वे एकदम भूल ही गये, अब वे श्रीकृष्ण-कीर्तनके अतिरिक्त किसी भी विषयको नहीं कह सकते। उसी पाठको विद्यार्थियोंके लिये पढ़ाने लगे – 'भैया! इन संसारी शास्त्रोंमें क्या रखा है? श्रीकृष्णका नाम ही एकमात्र सार है, वह मधुरातिमधुर है। उसीका पान करो, इन लौकिक शास्त्रोंसे क्या अभीष्ट सिद्ध होगा? प्राणिमात्रके आश्रय-स्थान श्रीकृष्ण ही हैं। संसारकी सृष्टि, स्थिति और लय उन ही श्रीकृष्णकी इच्छामात्रसे होता रहता है। वे आनन्दके धाम हैं, सुखस्वरूप हैं। उनके

महाप्रभु चैतन्यदेवका प्रेम ऐसा ही था। उनकी हृदय-कन्दरासे जो भक्ति-भावका भव्य स्रोत उदित हो गया, वह फिर सदा उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। उनकी हृदय-कन्दरासे उत्पन्न हुई भक्ति-भागीरथीकी धारा सावन-भादोंकी क्षुद्र नदीकी भाँति नहीं थी जो थोड़े समयके लिये तो खूब दउलाकर चलती है और जेठ-मासकी तेज धूप पड़ते ही सूख जाती है। उनके हृदयसे उत्पन्न हुई प्रेम-सरिताकी धारा सदा बहकर समुद्रमें ही जाकर मिलनेवाली स्थायी थी। उसमें कर्मोंका क्या काम? वह तो उत्तरोत्तर बढ़नेवाली अलौकिक और अनुपम धारा थी, उसकी उपमा इन संसारी धाराओंसे दी ही नहीं जा सकती। वह तो अनुभव-गम्य ही है।

महाप्रभु जबसे गयासे लौटकर आये हैं, तभीसे उनकी विचित्र दशा है। वे भोजन करते-करते सहसा बीचमें ही उठकर रुदन करने लगते हैं, रास्ता चलते-चलते पागलोंकी भाँति नृत्य करने लगते हैं। शय्यापर लेटे-लेटे सहसा उठकर बैठ जाते हैं और 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहकर जोरोंसे चिल्लाने लगते हैं। कभी-कभी लोगोंसे बातें करते-करते बीचमें ही जोरोंसे ठहाका मारकर हँसने लगते हैं। रातभर सोनेका नाम नहीं। लम्बी-लम्बी साँसें लेते रहते हैं, अधीर होकर अत्यन्त विरहीकी भाँति हिचकियाँ भरते रहते हैं और उनके नेत्रोंसे इतना जल निकलता है कि सम्पूर्ण वस्त्र गीले हो जाते हैं। विष्णुप्रिया इनकी ऐसी दशा देखकर भयभीत हो जाती हैं और जाकर अपनी साससे सभी बातोंको कहती हैं। शचीमाता पुत्रकी दशा देखकर दुःखसे कातर होकर रुदन करने लगती हैं और सभी देवी-देवताओंकी मनौती मानती हैं। वे करुणभावसे अधीर होकर प्रभुके पादपद्मोंमें प्रार्थना करती हैं—'हे अशरण-शरण! इस दीन-हीन कंगालिनी विधवाके एकमात्र पुत्रके ऊपर कृपा करो। दयालो! मैं धन नहीं चाहती, भोग नहीं चाहती, सुन्दर वस्त्राभूषण तथा सुस्वादु भोजनकी

मुझे इच्छा नहीं। मेरा प्यारा, मेरे जीवनका सहारा, मेरी आँखोंका तारा यह निमाई स्वच्छ और नीरोग बना रहे, यही मेरी प्रार्थना है।' माता बार-बार 'निमाईके मुखकी ओर देखतीं और उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर अत्यन्त ही दुखी होतीं।

महाप्रभु अब जो भी काम करना चाहते, उसे ही नहीं कर सकते। काम करते-करते उन्हें अपने प्रियतमकी याद आ जाती और उसीके विरहमें बेहोश होकर गिर पड़ते। ठीक-ठीक भोजन भी नहीं कर सकते। स्नान, सन्ध्या, पूजाका उन्हें कुछ भी होश नहीं, मुखसे निरन्तर श्रीकृष्णके मधुर नामोंका ही अपने-आप उच्चारण होता रहता है। किसीकी बातका उत्तर भी देते हैं तो उसमें भी भगवान्‌की अलौकिक लीलाओंका ही वर्णन होता है। किसीसे बातें भी करते हैं, तो श्रीकृष्णके ही सम्बन्धकी करते हैं। अर्थात् वे श्रीकृष्णके सिवा कुछ जानते ही नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं, श्रीकृष्ण ही उनके धन हैं, अर्थात् उनके सर्वस्व श्रीकृष्ण ही हैं, उनके लिये संसारमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

प्रभुके सब विद्यार्थियोंने जब सुना कि गुरुजी गयाधामकी यात्रा करके लौट आये हैं, तो वे एक-एक करके उनके घरपर आने लगे और पाठशालामें चलकर पढ़ानेकी प्रार्थना करने लगे। सबके बहुत आग्रह करनेपर प्रभु पाठशालामें पढ़ानेके निमित्त गये। किन्तु वे पढ़ावें क्या, लौकिक शास्त्रोंको तो वे एकदम भूल ही गये, अब वे श्रीकृष्ण-कीर्तनके अतिरिक्त किसी भी विषयको नहीं कह सकते। उसी पाठको विद्यार्थियोंके लिये पढ़ाने लगे—'भैया! इन संसारी शास्त्रोंमें क्या रखा है? श्रीकृष्णका नाम ही एकमात्र सार है, वह मधुरातिमधुर है। उसीका पान करो, इन लौकिक शास्त्रोंसे क्या अभीष्ट सिद्ध होगा? प्राणिमात्रके आश्रय-स्थान श्रीकृष्ण ही हैं। संसारकी सृष्टि, स्थिति और लय उन ही श्रीकृष्णकी इच्छामात्रसे होता रहता है। वे आनन्दके धाम हैं, सुखस्वरूप हैं। उनके

गुणोंका आर्त होकर गान करते रहना मनुष्योंका परम पुरुषार्थ है ।' इतना कहते-कहते प्रभु उच्च स्वरसे कृष्ण-कीर्तन करने लगे ।

इन बातोंको श्रवण करके कुछ विद्यार्थी तो आनन्द-सागरमें मग्न हो गये । वे तो बाह्यज्ञान-शून्य होकर परमानन्दका अनुभव करने लगे । कुछ ऐसे भी थे, जो पुस्तकी विद्याको ही सर्वस्व समझते थे । भट्टाचार्य और शास्त्री बनना ही जिनके जीवनका एकमात्र चरम लक्ष्य था, वे कहने लगे—'गुरुजी ! आप कैसी बातें कर रहे हैं ? हमें इन बातोंसे क्या प्रयोजन ? इन बातोंका विचार तो वैष्णव भक्त करें । हमें तो हमारी पाठ्य पुस्तकका पाठ पढ़ाइये । हम यहाँ पाठशालामें भक्ति-तत्त्वकी शिक्षा लेनेके लिये नहीं आये हैं, हमें तो व्याकरण, अलंकार तथा न्याय आदि पुस्तकोंके पाठोंको पढ़ाइये ।'

उन विद्यार्थियोंकी ऐसी बातें सुनकर प्रभुने कहा—'भाई ! आज हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है । आज आपलोग अपना-अपना पाठ बंद रखिये, पुस्तकोंको बाँधकर रख दीजिये । चलो, अब गङ्गा-स्नान करने चलें । कल पाठकी बात देखी जायगी ।' इतना सुनते ही सभी विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकें बाँध दीं और वे प्रभुके साथ गङ्गा-स्नानके निमित्त चल दिये । गङ्गाजीपर पहुँचकर बहुत देरतक जल-विहार होता रहा । रात्रि हो जानेपर प्रभु लौटकर घर आये और विद्यार्थी अपने-अपने स्थानोंको चले गये ।

दूसरे दिन महाप्रभु फिर पाठशालामें पहुँचे । प्रभुके आसनासीन हो जानेपर विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकोंमेंसे प्रश्न पूछना आरम्भ कर दिया । कोई भी विद्यार्थी इनसे कैसा भी प्रश्न पूछता उसका ये श्रीकृष्णपरक ही उत्तर देते ।

कोई विद्यार्थी पूछता—'सिद्धवर्णसमाम्नाय बताइये ?'

कोई पूछता–'सिद्धवर्णसमाम्नाय' बताइये। आप उत्तर देते–'नारायण ही सब वर्णोंमें सिद्धवर्ण हैं।' [पृष्ठ २७४]

गुणोंका आर्त होकर गान करते रहना मनुष्योंका परम पुरुषार्थ है इतना कहते-कहते प्रभु उच्च स्वरसे कृष्ण-कीर्तन करने लगे ।

इन बातोंको श्रवण करके कुछ विद्यार्थी तो आनन्द-सागरमें मग्न हो गये। वे तो बाह्यज्ञान-शून्य होकर परमानन्दका अनुभव करने लगे कुछ ऐसे भी थे, जो पुस्तकी विद्याको ही सर्वस्व समझते थे। भट्टाचार्य और शास्त्री बनना ही जिनके जीवनका एकमात्र चरम लक्ष्य था, वे कहने लगे—'गुरुजी ! आप कैसी बातें कर रहे हैं ? हमें इन बातोंसे क्या प्रयोजन ? इन बातोंका विचार तो वैष्णव भक्त करें । हमें तो हमारी पाठ्य पुस्तकका पाठ पढ़ाइये । हम यहाँ पाठशालामें भक्ति-तत्त्वकी शिक्षा लेनेके लिये नहीं आये हैं, हमें तो व्याकरण, अलंकार तथा न्याय आदि पुस्तकोंके पाठोंको पढ़ाइये ।'

उन विद्यार्थियोंकी ऐसी बातें सुनकर प्रभुने कहा—'भाई ! आज हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है । आज आपलोग अपना-अपना पाठ बंद रखिये, पुस्तकोंको बाँधकर रख दीजिये । चलो, अब गङ्गा-स्नान करने चलें । कल पाठकी बात देखी जायगी ।' इतना सुनते ही सभी विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकें बाँध दीं और वे प्रभुके साथ गङ्गा-स्नानके निमित्त चल दिये । गङ्गाजीपर पहुँचकर बहुत देरतक जल-विहार होता रहा । रात्रि हो जानेपर प्रभु लौटकर घर आये और विद्यार्थी अपने-अपने स्थानोंको चले गये ।

दूसरे दिन महाप्रभु फिर पाठशालामें पहुँचे । प्रभुके आसनासीन हो जानेपर विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकोंमेंसे प्रश्न पूछना आरम्भ कर दिया । कोई भी विद्यार्थी इनसे कैसा भी प्रश्न पूछता उसका ये श्रीकृष्णपरक ही उत्तर देते ।

कोई विद्यार्थी पूछता—'सिद्धवर्णसमाम्नाय बताइये ?'

कोई पूछता–'सिद्धवर्णसमाम्नाय' बताइये । आप उत्तर देते–'नारायण ही सब वर्णोंमें सिद्धवर्ण हैं।' [पृष्ठ २०४]

आप उत्तर देते—'नारायण ही सब वर्णोंमें सिद्ध वर्ण हैं।'

कोई पूछता—'वर्णोंकी सिद्धि किस प्रकारसे होती है?'

प्रभु उत्तर देते—'श्रीकृष्णकी दृष्टिमात्रसे ही सब वर्ण सिद्ध हो जाते हैं।'

ऐसा उत्तर सुनकर कोई-कोई विद्यार्थी कहता—'ये भक्तिभावकी बातें छोड़िये। जो ठीक बात हो उसे ही बताइये।'

प्रभु कहते—'ठीक बात तो यही है, प्रतिक्षण श्रीकृष्ण-नामका ही संकीर्तन करते रहना चाहिये।'

यह सुनकर सभी विद्यार्थी एक दूसरेके मुखकी ओर देखने लगते। कोई तो चकित होकर प्रभुके श्रीमुखकी ओर देखने लगता। कोई-कोई धीरेसे कह देता 'दिमागमें गर्मी चढ गयी है।' दूसरा उसे धीरेसे धक्का देकर ऐसा कहनेके लिये निषेध करता।

प्रभुकी ऐसी अद्भुत व्याख्याएँ सुनकर बड़े-बड़े विद्यार्थी कहने लगे—'आप ये तो न जाने कहाँकी व्याख्या कर रहे हैं, शास्त्रीय व्याख्या कीजिये।'

प्रभु इसका उत्तर देते—'मैं शास्त्रोंका सार ही बता रहा हूँ। किसी भी पण्डितसे जाकर पूछ आओ, वह सर्वशास्त्रोंका सार श्रीकृष्ण-पद-प्राप्ति ही बतायेगा।'

विद्यार्थी बेचारे इनकी अलौकिक बातोंका उत्तर दे ही क्या सकते थे! सब अपनी-अपनी पुस्तकें बाँधकर अपने-अपने स्थानके लिये चले गये। कुछ समझदार और बड़े छात्र पण्डित गंगादासजीकी सेवामें पहुँचे।

वे प्रणाम करके उनके समीप बैठ गये। कुशल-प्रश्नके अनन्तर आचार्य गंगादासने उनके आनेका कारण पूछा। दुखी होकर उन लोगोंने कहा—'महाराजजी! हम क्या बतावें, हमारे गुरुजी जबसे गयासे लौटे हैं, तभीसे उनकी विचित्र दशा है। वे कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं।

पाठशालामें आते तो पाठ पढ़ानेके लिये हैं, किन्तु पाठ न पढ़ाकर भक्ति-तत्त्वका ही उपदेश देने लगते हैं। हमलोग व्याकरण, न्याय, अलंकार तथा साहित्य आदि किसी भी शास्त्रका प्रश्न करते हैं, तो वे उसका कृष्णपरक ही उत्तर देते हैं। उनसे जो भी प्रश्न किया जाय उसीका उत्तर ऐसा देते हैं जो पाठ्य पुस्तकके एकदम विरुद्ध है। कभी-कभी पढ़ाते-पढ़ाते रोने लगते हैं और कभी-कभी जोरसे 'हा कृष्ण! हा प्यारे! प्राणवल्लभ! पाहि माम्, राधावल्लभ! रक्ष माम्' इन वाक्योंको कहने लगते हैं। अब आप ही बताइये, इस प्रकार हमारी पढ़ाई कैसे होगी? हमलोग घर-बार छोड़कर केवल विद्याध्ययनके ही निमित्त यहाँ पड़े हुए हैं, यहाँपर हमारी पढ़ाई-लिखाई कुछ होती नहीं। उलटे पढ़े-लिखेको भूले जाते हैं। वे आपके शिष्य हैं, आप उन्हें बुलाकर समझा दें।'

पं० गंगादासजी वैसे तो बड़े भारी नामी विद्वान् थे, किन्तु उनकी विद्या पुस्तकी ही विद्या थी। भक्ति-भावसे वे एकदम कोरे थे। ईश्वरके प्रति उनका उदासीन भाव था। 'यदि ईश्वर होगा भी तो हुआ करे हमें उससे क्या काम, समयपर भोजन कर लिया, विद्यार्थियोंको पाठ पढ़ा दिया। बस, यही हमारे जीवनका व्यापार है। इसमें ईश्वरकी कुछ जरूरत ही नहीं।' कुछ-कुछ इसी प्रकारके उनके विचार थे। महाप्रभुके भक्त हो जानेकी बात सुनकर वे ठहाका मारकर हँसने लगे और विद्यार्थियोंसे कहने लगे—'हाँ, सुना तो मैंने भी है कि निमाई अब भक्त बन आया है। पण्डित होकर उसपर यह क्या भूत सवार हो गया—यह तो अनपढ़ मूर्खोंका काम है। ब्राह्मण पण्डितको तो निरन्तर शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनमें ही लगे रहना चाहिये। खैर, अब तुमलोग अपने-अपने स्थानोंको जाओ। कल उसे मेरे पास भेज देना, मैं उसे समझा दूँगा। मेरी बातको वह कभी नहीं टालता है।' इतना सुनकर विद्यार्थी अपने-अपने स्थानोंपर चले गये।

दूसरे दिन प्रभुसे विद्यार्थियोंने कहा—'आचार्यजीने आज आपको

अपने यहाँ बुलाया है, आगे आपकी इच्छा है, आज आइये या फिर किसी दिन हो आइये ।' आचार्य गंगादासजीका बुलावा सुनकर प्रभु उसी समय दो-चार विद्यार्थियोंको साथ लेकर उनके स्थानपर पहुँचे । वहाँ जाकर प्रभुने अपने विद्यागुरुके चरणोंकी वन्दना की, गंगादासजीने भी उनका पुत्रकी भाँति आलिङ्गन किया और बैठनेके लिये एक आसनकी ओर संकेत किया । आचार्यकी आज्ञा पाकर उनके बताये हुए आसनपर प्रभु बैठ गये । प्रभुके बैठ जानेपर साथके विद्यार्थी भी पीछे एक ओर हटकर पाठशालाकी बिछी हुई चटाइयोंपर बैठ गये ।

प्रभुके सुखपूर्वक बैठ जानेपर वात्सल्य-प्रेम प्रकट करते हुए आचार्य गंगादासजीने कहा—'निमाई ! तुम मेरे प्रिय विद्यार्थी हो, मैं तुम्हें पुत्रकी भाँति प्यार करता हूँ । शास्त्रोंमें कहा है, अपने प्यारेकी उसके मुखपर बड़ाई न करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे उसकी आयु क्षीण होती है, किन्तु यथार्थ बात तो कही ही जाती है । तुमने मेरी पाठशालाके नामको सार्थक बना दिया है, तुम-जैसे योग्य विद्यार्थीको विद्या पढ़ाकर मेरा इतने दिनोंका परिश्रमसे पढ़ाना सफल हो गया । तुमने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य-द्वारा मेरे मुखको उज्ज्वल कर दिया । मैं तुमसे बहुत ही प्रसन्न हूँ ।'

आचार्यके मुखसे अपनी इतनी प्रशंसा सुनकर प्रभु लज्जितभावसे नीचेकी ओर देखते हुए चुपचाप बैठे रहे, उन्होंने इन बातोंका कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।

आचार्य गंगादासजी फिर कहने लगे—'योग्य बननेके अनन्तर तुम अध्यापक हुए और तुमने अध्यापन-कार्यमें भी यथेष्ट ख्याति प्राप्त की । तुम्हारे सभी विद्यार्थी सदा तुम्हारे शील-स्वभावकी तथा पढ़ानेकी सरल और

सुन्दर प्रणालीकी प्रशंसा करते रहते हैं, वे लोग तुम्हारे सिवा दूसरे किसीके पास पढ़ना पसंद ही नहीं करते। किन्तु कल उन्होंने आकर मुझसे तुम्हारी शिकायत की है। तुम उन्हें अब मनोयोगके साथ ठीक-ठीक नहीं पढ़ाते हो। और लोगोंने भी मुझसे आकर कहा है कि तुम अनपढ़ मूर्ख भक्तोंकी भाँति रोते-गाते तथा हँसते-कूदते हो, एक इतने भारी अध्यापकको ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं! तुम विद्वान् हो, समझदार हो, मेधावी हो। शास्त्रज्ञ होकर मूर्खोंके कामोंकी नकल क्यों करने लगे हो? ऐसे ढोंग तो वे ही लोग बनाते हैं, जो शास्त्रोंकी बातें तो जानते नहीं, विद्या-बुद्धिसे तो हीन हैं, किन्तु मूर्खोंमें अपनेको पुजवाना चाहते हैं, वे ही ऐसे ढोंग रचा करते हैं। तुम्हें इसकी क्या जरूरत है? तुम तो स्वयं विद्वान् हो, बड़े-बड़े लोग तुम्हारी विद्या-बुद्धिपर ही मुग्ध होकर मुक्तकण्ठसे तुम्हारी प्रशंसा करते हैं और सर्वत्र तुम्हारी प्रतिष्ठा करते हैं, फिर तुम ऐसे अशास्त्रीय आचरणोंको क्यों करते हो? ठीक-ठीक बताओ क्या बात है?'

ये सब बातें सुनकर भी प्रभु चुप ही रहे, उन्होंने किसी भी बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

गंगादासजीने अपना व्याख्यान समाप्त नहीं किया। वे फिर कहने लगे—'तुम्हारे नाना नीलाम्बर चक्रवर्ती एक नामी पण्डित हैं। तुम्हारे पूज्य पिता भी प्रतिष्ठित पण्डित थे, तुम्हारे मातृकुल तथा पितृकुलमें सनातनसे पाण्डित्य चला आया है, तुम स्वयं भारी विद्वान् हो, तुम्हारी विद्या-बुद्धिसे ही मुग्ध होकर सनातन मिश्र-जैसे राजपण्डितने अपनी पुत्री-का तुम्हारे साथ विवाह किया है। नवद्वीपकी विद्वन्मण्डली तुम्हारा यथेष्ट सम्मान करती है, विद्यार्थियोंको तुम्हारे प्रति पूर्ण सम्मानके भाव हैं, फिर

तुम मूर्खोंके चक्करमें कैसे आ गये ? देखो बेटा ! अध्यापकका पद पूर्व-जन्मके बहुत बड़े भाग्योंसे मिलता है। तुम उसके काममें असावधानी करते हो, यह ठीक नहीं है। बोलो, उत्तर क्यों नहीं देते ? अब अच्छी तरहसे पढ़ाया करोगे ?'

नम्रताके साथ महाप्रभुने कहा—'आपकी आज्ञा पालन करनेकी भरसक चेष्टा करूँगा। क्या करूँ, मेरा मन मेरे वशमें नहीं है। कहना चाहता हूँ कुछ और मुँहसे निकल जाता है कुछ और ही !'

गंगादासजीने प्रेमके साथ कहा—'सब ठीक हो जायगा। चित्तको ठीक रखना चाहिये। तुम तो समझदार आदमी हो। मनको वशमें करो, सोच-समझकर बातका उत्तर दो। कलसे खूब सावधानी रखना। विद्यार्थियों-को खूब मनोयोगके साथ पढ़ाना। अच्छा !'

'जो आज्ञा' कहकर प्रभुने आचार्य गंगादासको प्रणाम किया और वे विद्यार्थियोंके साथ उनसे विदा हुए।

सर्वप्रथम संकीर्तन और अध्यापकीका अन्त

तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया।
तद्वर्णं तत्कुलं श्रेष्ठं तदाश्रमं शुभं भवेत्॥*

जिन नयनोंमें प्रियतमकी छवि समा गयी, जिस हृदय-मन्दिरमें श्रीकृष्णकी परमोज्ज्वल परम प्रकाशयुक्त मूर्ति स्थापित हो गयी, फिर भला उसमें दूसरेके लिये स्थान कहाँ ? जिनका मन-मधुप श्रीकृष्ण-कथारूपी मकरन्दका पान कर चुका है, जिनके चित्तको चित्तचोरने अपनी चञ्चल चितवनसे अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, वे फिर अन्य वस्तुकी ओर

---

* जिस कर्मके द्वारा हरि भगवान् सन्तुष्ट हो सकें वास्तवमें तो वही कर्म कहा जा सकता है और जिससे मुकुन्द-चरणोंमें रति उत्पन्न हो सके वही सच्ची विद्या है। जिस वर्ण, जिस कुलमें और जिस आश्रममें रहकर श्रीकृष्ण-कीर्तन करनेका सुन्दर सुयोग प्राप्त हो सके वही वर्ण, कुल तथा आश्रम शुभ और परम श्रेष्ठ गिना जा सकता है।

आँख उठाकर भी नहीं देख सकते। उनकी जिह्वा सदा नारायणाख्यपीयूषका ही निरन्तर पान करती रहेगी, उनके द्वारा संसारी बातें कही ही नहीं जा सकेंगी। उन्हीं कर्मोंको वह कर्म समझेगा जिनके द्वारा श्रीकृष्णके कमनीय कीर्तनमें प्रगाढ़ रतिकी प्राप्ति हो सके। उसकी विद्या, बुद्धि, वैभव और सम्पदा तथा मेधा सभी एकमात्र श्रीकृष्ण-कथा ही है।

महाप्रभुका चित्त अब इस लोकमें नहीं रहा, वह तो कृष्णमय हो चुका। प्राण कृष्णरूप बन चुके, मनका उनके मनोहर गुणोंके साथ तादात्म्य हो चुका, चित्त उस माखनचोरकी चञ्चलतामें समा गया। वाणी उसके गुणोंकी गुलाम बन गयी, अब वे करें भी तो क्या करें? संसारी कार्य करनेके लिये मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रियाँ आदि कोई भी उनका साथ नहीं देतीं, वे दूसरेके वशमें हो चुकीं। महाप्रभुकी सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्णमय ही होने लगीं।

आचार्य गंगादासजीकी मधुर और वात्सल्यपूर्ण भर्त्सनाके कारण वह खूब सावधान होकर घरसे पढ़ानेके लिये चले। विद्यार्थियोंने अपने गुरुदेवको आते देखकर उनके चरणकमलोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और सभी मुखसे बैठ गये। विद्यार्थियोंका पाठ आरम्भ हुआ। किसी विद्यार्थीने पूछा—'अमुक धातुका किस अर्थमें प्रयोग होता है और अमुक लकारमें उसका कैसा रूप बनेगा?'

इस प्रश्नको सुनते ही आप भावावेशमें आकर कहने लगे—'सभी धातुओंका एक श्रीकृष्णके ही नाममें समावेश हो सकता है, शरीरमें जो सप्तधातु हैं और भी संसारमें जितनी धातु सुनी तथा कही जा सकती हैं सभीके आदिकारण श्रीकृष्ण ही हैं। उनके अतिरिक्त कोई अन्य धातु हो ही नहीं सकती। सभी स्थितियोंमें उनके समान ही रूप बनेंगे। भगवान्का रूप नील-श्याम है, उनके श्रीविग्रहकी कान्ति नवीन जलधरकी भाँति एकदम

स्वच्छ और हलके नीले रंगकी-सी है। उसे वैडूर्य या घनकी उपमा तो 'शाखाचन्द्रन्याय' से दी जाती है, असलमें तो वह अनुपमेय है, किसी भी संसारी वस्तुके साथ उसकी उपमा नहीं दी जा सकती।'

प्रभुके ऐसे उत्तरको सुनकर विद्यार्थी कहने लगे—'आप तो फिर वैसी ही बातें कहने लगे। धातुका यथार्थ अर्थ बताइये। पुस्तकमें जो लिखा है उसीके अनुसार कथन कीजिये।'

प्रभुने अधीरताके साथ कहा—'धातुका यथार्थ अर्थ तो यही है, जो मैं कर रहा हूँ, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ कह ही नहीं सकता। मुझे तो इसका यही अर्थ मालूम पड़ता है। आगे आपलोग जैसा समझें।'

इसपर विद्यार्थियोंने कुछ प्रेमके साथ अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहा—'आप तो हमें ऐसी विचित्र-विचित्र बातें बताते हैं, हम अब याद क्या करें ! हमारा काम कैसे चलेगा, इस प्रकार हमारी विद्या कब समाप्त होगी और इस तरहसे हम किस प्रकार विद्या प्राप्त कर सकते हैं !'

आप प्रेमके आवेशमें आकर कहने लगे—'सदा याद करते रहनेकी तो एक ही वस्तु है। सदा, सर्वदा सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके ही स्मरणमात्रसे प्राणीमात्रका कल्याण हो सकता है। सदा उसीका स्मरण करते रहना चाहिये। अहा, जिन्होंने पूतना-जैसी बालघ्नीको, जो अपने स्तनोंमें जहर लपेटकर बालकोंके प्राण हर लेती थी, उस क्रूर कर्म करनेवाली राक्षसीको भी सद्गति दी, उन श्रीकृष्णकी लीलाओंका चिन्तन करना ही मनुष्योंके लिये परम कल्याणका साधन हो सकता है। जो दुष्टबुद्धिसे भी श्रीकृष्णका स्मरण करते थे, जो उन्हें शत्रुरूपसे विद्वेषके कारण मारनेकी इच्छासे उनके पास आये थे, वे अघासुर, बकासुर, शकटासुर आदि पापी भी उनके जगत्-पावन दर्शनोंके कारण इस संसार-सागरसे बात-की-बातमें पार हो गये, जिससे योगीलोग करोड़ों वर्षतक समाधि लगाकर भाँति-

भौतिक साधन करते रहनेपर भी नहीं तर सकते, उन श्रीकृष्णके चारु चरित्रोंके अतिरिक्त चिन्तनीय चीज और हो ही क्या सकती है ?

श्रीकृष्ण-कीर्तनसे ही उद्धार होगा, श्रीकृष्ण-कीर्तन ही सर्व सिद्धिप्रद है, उसके द्वारा प्राणीमात्रका कल्याण हो सकता है। श्रीकृष्ण-कीर्तन ही शाश्वत शान्तिका एकमात्र उपाय है, उसीके द्वारा मनुष्य सभी प्रकारके दुःखोंसे परित्राण पा सकता है। तुमलोगोंको उसी श्रीकृष्णकी शरणमें जाना चाहिये।

इनकी ऐसी व्याख्या सुनकर सभी विद्यार्थी श्रीकृष्णप्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे। वे सभी प्रकारके संसारी विषयोंको भूल गये और श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-स्थान समझकर उन्हींकी स्मृतिमें अश्रु-विमोचन करने लगे।

उनमेंसे कुछ उतावले और पुस्तकी विद्याको ही परम साध्य समझने-वाले छात्र कहने लगे—'हमें तो पुस्तकके अनुसार उसकी व्याख्या बताइये! उसे ही पढ़नेके लिये हम यहाँ आये हैं।'

प्रभु अब कुछ-कुछ स्वस्थ हुए थे। उन्हें अब थोड़ा-थोड़ा बाह्य ज्ञान होने लगा। इसलिये विद्यार्थियोंके ऐसा कहनेपर आपने रोते-रोते उत्तर दिया—'भैया! हम क्या करें, हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है। मालूम पड़ता है, हमें फिरसे वही पुराना वायु-रोग हो गया है। हम क्या कह जाते हैं, इसका हमें स्वयं पता नहीं। अब हमसे इन ग्रन्थोंका अध्यापन न हो सकेगा। आपलोग जाकर किसी दूसरे अध्यापकसे पढ़ें! अब हम अपने वशमें नहीं हैं।'

प्रभुके ऐसा कहनेपर सभी विद्यार्थी फूट-फूटकर रोने लगे और विलाप करते हुए करुणकण्ठसे प्रार्थना करने लगे—'गुरुदेव! अब हम कहाँ जायँ? हम निराश्रयोंके आप ही एकमात्र आश्रय हैं। हमें आपके

समान वात्सल्यप्रेम दूसरे किस अध्यापकमें मिल सकेगा ? इतने प्रे
साथ हमें अन्य अध्यापक पढ़ा ही नहीं सकता । आपके समान
संशयोंका छेत्ता और सरलताके साथ सुन्दर शिक्षा देनेवाला अध्या
ढूँढ़नेपर भी हमें त्रिलोकीमें नहीं मिल सकता । आप हमारा परित्याग
कीजिये । हम आपके रोगकी यथाशक्ति चिकित्सा करावेंगे । स्वयं दिन-रा
सेवा-शुश्रूषा करते रहेंगे ।'

उनकी आर्तवाणी सुनकर प्रभुकी आँखोंमेंसे अश्रुओंकी धारा बह
लगी । रोते-रोते उन्होंने कहा—'भैया ! तुमलोग हमारे बाह्य प्राणों
समान हो । तुमसे सम्बन्ध-विच्छेद करते हुए हमें स्वयं अपार दुःख हो
रहा है, किन्तु हम करें क्या, हम तो विवश हैं । हमारी पढ़ानेकी शक्ति ही
नहीं । नहीं तो तुम्हारे-जैसे परम बन्धुओंके सहवासका सुख स्वेच्छापूर्वक
कौन सत्पुरुष छोड़ सकता है ?'

विद्यार्थियोंने दीनभावसे कहा—'आज न सही, स्वस्थ होनेपर आप
हमे पढ़ावें । हमारा परित्याग न कीजिये, यही हमारी श्रीचरणोंमें विनम्र
प्रार्थना है । आप ही हमारी इस जीवननौकाके एकमात्र आश्रय हैं, हमें
मझधारमें ही विलखता हुआ छोड़कर अन्तर्धान न हूजिये !'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'भैया ! मेरा यह रोग असाध्य है । अब
इससे छुटकारा पानेकी आशा नहीं । किसी दूसरेके सामने तो बतानेकी
बात नहीं है, किन्तु तुम तो अपनी आत्मा ही हो, तुमसे छिपाने योग्य तो
कोई बात हो ही नहीं सकती । असल बात यह है कि अब हम पढ़ानेका
या किसी अन्य कामके करनेका यत्न करते हैं तो एक श्यामवर्णका सुन्दर
शिशु हमारी आँखोंके सामने आकर बड़े ही सुन्दर स्वरमें मुरली बजाने
लगता है । उस मुरलीकी विश्वविमोहिनी तानको सुनकर हमारा चित्त
व्याकुल हो जाता है और हमारी सब सुध-बुध भूल जाती है । हम पागलों

भाँति मन्त्र-मुग्ध-से हो जाते हैं। फिर हम कोई दूसरा काम कर ही नहीं सकते।' इतना कहकर प्रभु फिर जोरोंके साथ फूट-फूटकर रोने लगे। उनके रुदनके साथ ही सैकड़ों विद्यार्थियोंकी आँखोंसे अश्रुओंकी धाराएँ बहने लगीं। सभी ढाढ़ बाँधकर उच्चस्वरसे रुदन करने लगे। संजय महाशयका चण्डीमण्डप विद्यार्थियोंके रुदनके कारण गूँजने लगा। इस करुणापूर्ण क्रन्दन-ध्वनिको सुनकर सहस्रों नर-नारी दूर-दूरसे वहाँ आकर एकत्रित हो गये।

प्रभु अब कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए। अश्रु-विमोचन करते हुए उन्होंने कहा—'मेरे प्राणोंसे भी प्यारे छात्रो! अपनी-अपनी पुस्तकोंको बाँध लो, आजसे अब हम तुम्हारे अध्यापक नहीं रहे और न अब तुम ही हमारे छात्र हो, अब तो तुम श्रीकृष्णके सखा हो। अब सभी मिलकर हमें ऐसा आशीर्वाद दो जिससे हमें श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त हो सके। तुम सभी हमें हृदयसे स्नेह करते हो, तुमसे हम यही दीनताके साथ भीख माँगते हैं। तुम सदा हमारे कल्याणके कामोंमें तत्पर रहे हो।'

प्रभुके मुखसे ऐसे दीनतापूर्ण शब्द सुनकर सभी विद्यार्थी बेहोश-से हो गये। कोई तो पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिरने लगे और कोई अपने सिरको पृथ्वीपर रगड़ने लगे।

प्रभुने फिर कहा—'मैं अन्तिम बार फिर तुमलोगोंसे कहता हूँ। तुमलोग पढना न छोड़ना, कहीं जाकर अपने पाठको जारी रखना।'

रोते हुए विद्यार्थियोंने कहा—'अब हमें न तो कहीं आप-जैसा अध्यापक मिलेगा और न कहीं अन्यत्र पढ़ने ही जायँगे। अब तो ऐसा ही आशीर्वाद दीजिये कि आपके श्रीमुखसे जो भी कुछ पढ़ा है, वही स्थायी बना रहे और हमें किसी दूसरेके समीप जानेकी जिज्ञासा ही उत्पन्न न हो। अब तो हमें अपने चरणोंकी शरण ही प्रदान कीजिये! आपके

चरणोंकी सदा स्मृति बनी रहे यही अन्तिम वरदान प्रदान कीजिये!' यह कहकर सभी विद्यार्थियोंने प्रभुको एक साथ ही साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रभुने भी सबको पृथक्-पृथक् गलेसे लगाया। वे सभी बड़भागी विद्यार्थी प्रभुके प्रेमपूर्ण आलिंगनसे कृतकृत्य हो गये और जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहकर हरिनामकी तुमुल-ध्वनि करने लगे।

प्रभुने उन विद्यार्थियोंसे कहा—'भैया, हमलोग, इतने दिनोंतक साथ-साथ रहे हैं। हमारा तुमलोगोंसे बहुत ही अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, तुम ही हमारे परम आत्मीय तथा सुहृद् हो। एक बार तुम सभी एक स्वरसे श्रीकृष्णरूपी शीतल सलिलसे हमारे हृदयकी जलती हुई विरहज्वाला-को शान्त कर दो। तुम सभी श्रीकृष्ण-रसायन पिलाकर हमें नीरोग बना दो। एक बार तुम सभी लोग मिलकर श्रीकृष्णके मंगलमय नामोंका उच्चस्वरसे संकीर्तन करो!'

विद्यार्थियोंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा—'गुरुदेव! हम संकीर्तनको क्या जानें! हमें तो पता भी नहीं संकीर्तन कैसे किया जाता है? हाँ, यदि आप ही कृपा करके हमें संकीर्तनकी प्रणाली सिखा दें तो हम जिस प्रकार आज्ञा हो उसी प्रकार सब कुछ करनेके लिये उद्यत हैं।'

प्रभुने सरलताके साथ कहा—'कृष्ण-कीर्तनमें कुछ कठिनता थोड़े ही है, बड़ा ही सरल मार्ग है। तुमलोग बड़ी ही आसानीके साथ उसे कर सकते हो।' यह कहकर प्रभुने स्वयं स्वरके सहित नीचेका पद उच्चारण करके बता दिया—

हरे हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

प्रभुने स्वयं हाथसे ताली बजाकर इस नाम-संकीर्तनको आरम्भ किया। प्रभुकी बतायी हुई विधिके अनुसार सभी विद्यार्थी एक स्वरसे इस

नाम-संकीर्तनको करने लगे। हाथकी तालियोंके बजनेसे तथा संकीर्तनके सुमधुर स्वरसे सम्पूर्ण चण्डीमण्डप गूँजने लगा। लोगोंको महान् आश्चर्य हुआ। नवद्वीपमें यह एक नवीन ही वस्तु थी। इससे पूर्व ढोल, मृदंग, करताल आदि वाद्योंपर पद-संकीर्तन तो हुआ करता था, किन्तु सामूहिक नाम-संकीर्तन तो यह सर्वप्रथम ही था। इसकी नींव निमाई पण्डितकी पाठशालाहीमें पहले-पहल पड़ी। सबसे पहले इन्हीं नामोंके पदसे नाम-संकीर्तन प्रारम्भ हुआ।

प्रभु भावावेशमें जोरसे संकीर्तन कर रहे थे, विद्यार्थी एक स्वरसे उनका साथ दे रहे थे। कीर्तनकी सुमधुर ध्वनिसे दिशा-विदिशाएँ गूँजने लगीं। चण्डीमण्डपमें मानो आनन्दका सागर उमड़ पड़ा। दूर-दूरसे मनुष्य उस आनन्द-सागरमें गोता लगाकर अपनेको कृतार्थ बनानेके लिये दौड़े आ रहे थे। सभी आनन्दकी बाढ़में अपने-आपेको भूलकर बहने लगे और सभी दर्शनार्थियोंके मुँहसे स्वयं ही निकलने लगा।

हरे हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

इस प्रकार चारों ओरसे इन्हीं भगवन्नामोंकी ध्वनि होने लगी। पक्के-पक्के मकानोंमेंसे जोरकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ने लगी—

हरे हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

मानो स्थावर-जंगम, चर-अचर सभी मिलकर इस कलिपावन नाम-का प्रेमके साथ संकीर्तन कर रहे हों। इस प्रकार थोड़ी देरके अनन्तर प्रभुका भावावेश कुछ कम हुआ। धीरे-धीरे उन्होंने ताली बजानी बंद कर दी और संकीर्तन समाप्त कर दिया। प्रभुके चुप हो जानेपर सभी विद्यार्थी तथा दर्शनार्थी चुप हो गये, उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु अब भी निकल रहे थे।

प्रभुने उठकर एक बार फिर सब विद्यार्थियोंको गलेसे लगाया। सभी विद्यार्थी फूट-फूटकर रो रहे थे। कोई कह रहा था—'हमारे प्राणोंके सर्वस्व हमें इसी प्रकार मझधारमें न छोड़ दीजियेगा!' कोई हिचकियाँ लेते हुए गद्गदकण्ठसे कहता—'पढ़ना-लिखना तो जो होना था, सो हो लिया, आपके हृदयके किसी कोनेमें हमारी स्मृति बनी रहे, यही हमारी प्रार्थना है।' प्रभु उन्हें बार-बार आश्वासन देते। उनके शरीरोंपर हाथ फेरते, किन्तु उन्हें धैर्य होता ही नहीं था, प्रभुके स्पर्शसे उनकी अधीरता अधिकाधिक बढ़ती जाती थी, वे बार-बार प्रभुके चरणोंमें लोटकर प्रार्थना कर रहे थे। दर्शनार्थी इस करुण दृश्यको और अधिक देरतक देखनेमें समर्थ न हो सके, वे कपड़ोंसे अपने-अपने मुखोंको ढककर फूट-फूटकर रोने लगे। प्रभु भी इस करुणाकी उमड़ती हुई तरङ्गमें बहुत प्रयत्न करनेपर भी अपनेको न सम्हाल सके। वे भी रोते-रोते वहाँसे गङ्गाजीकी ओर चल दिये। विद्यार्थी उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। प्रभुने सभीको समझा-बुझाकर विदा किया। प्रभुके बहुत समझानेपर विद्यार्थी दुःखितभावसे अपने-अपने स्थानोंको चले गये और प्रभु गङ्गाजीसे निवृत्त होकर अपने घरको चले आये।*

* आगेकी पुण्य लीलाओंके लिये दूसरा खण्ड देखनेकी प्रार्थना है।